

कुछ ऊपर उठते हैं, कुछ नीचे गिरते हैं तथा कुछ पुनः ऊर्ध्वगमन करते हैं। हाथ से गेंद को बार-बार गिराने-उछालने के समान कुछ मृत्यु द्वारा ताड़ित होकर आसमान में उठते और गिरते रहते हैं। अनेक ऐसे हैं जो विवेकवान् होकर भी शुभकर्म करते और हजारों जन्म ग्रहण कर लेने पर भी उनका संसार सागर से आवागमन नहीं मिटता। दिशा और काल से अनवच्छिन्न आत्मतत्त्व जब अपनी सामर्थ्य से शरीर धारण करता है, तब यही जीव वासना के वशीभूत होकर संकल्पों की ओर जाने वाले चञ्चल मन का रूप ग्रहण कर लेता है। वह संकल्प से युक्त मनःशक्ति क्षणमात्र में ही स्वच्छ आकाश की भावना करती है, उसमें शब्दबीज अंकुरित होने लगते हैं। तत्पश्चात् वही मन अधिक सघन होकर घने स्पन्दन के क्रम से वायुस्पन्दन की भावना में लीन होता है॥ १४२-१४८॥

शब्दस्पर्शस्वरूपाभ्यां संघर्षाजन्यतेऽनलः । रूपतन्मात्रसहितं त्रिभिस्तैः सह संमितम् ॥ १४९ ॥
मनस्तादृग्गुणगतं रसतन्मात्रवेदनम् । क्षणाच्चेतत्यपां शैत्यं जलसंवित्ततो भवेत् ॥ १५० ॥

उसमें स्पर्शरूप बीज के अंकुर फूटते हैं। उसके बाद दृढ़ अभ्यास द्वारा शब्द-स्पर्श रूप आकाश एवं वायु के टकराने से अग्नि उत्पन्न होती है। तीनों गुणों से ओत-प्रोत मन रस तन्मात्रा की अनुभूति करता हुआ क्षण भर में जल की ठण्डक का विचार करता है, इससे उसे जल का अनुभव होता है॥ १४९-१५०॥

[आकाश में वायु की गतिशीलता से जो घर्षण किया होती है। उससे विद्युत् विभव (इलेक्ट्रिकल चार्ज) के रूप में अग्नि का उद्भव होता है। वायु के घटकों (हाइड्रोजन+आक्सीजन) को अग्नि संयुक्त करके जल रूप देता है। विज्ञान यह क्रिया स्थूल पदार्थ रूप में ही समझ पाता है, ऋषि इसे सूक्ष्म तन्मात्राओं के रूप में भी अनुभव करते हैं।]
तत्स्तादृग्गुणगतं मनो भावयति क्षणात् । गन्धतन्मात्रमेतस्माद्द्विमिसंवित्ततो भवेत् ॥ १५१ ॥
अथेत्यंभूततन्मात्रवेष्टितं तनुतं जहत् । वपुर्वह्निकणाकारं स्फुरितं व्योम्नि पश्यति ॥ १५२ ॥

फिर चार गुणों से संयुक्त होकर मन अगले ही क्षण गन्ध तन्मात्रा का भाव कर लेता है, इससे उसे पृथ्वी का अनुभव होने लगता है। इस प्रकार पाँच तन्मात्राओं से युक्त होकर वह मन अपनी सूक्ष्मता त्यागकर आसमान में अग्निकणों की शक्ति में स्फुरित होते हुए शरीर का दर्शन करता है॥ १५१-१५२॥

[ऋषि सूक्ष्म से क्रमशः स्थूल के विकास का चित्रण कर रहे हैं। यहाँ सूक्ष्म मनोमय से अपेक्षाकृत स्थूल अग्निकणों के रूप में प्राणमय कोश के विकास का क्रम बतलाया गया है। यह प्राणमय ही परिपक्व होकर स्थूल काया का रूप लेता है। ऋषि इस क्रिया की उपमा स्वर्णकणों को गलाकर वाजिछत आकार में ढालने की क्रिया से दे रहे हैं।]

अहंकारकलायुक्तं बुद्धिबीजसमन्वितम् । तत्पुर्यष्टकमित्युक्तं भूतहत्पद्माष्टपदम् ॥ १५३ ॥
तस्मिंस्तु तीव्रसंवेगाद्वावयद्वासुरं वपुः । स्थूलतामेति पाकेन मनो बिल्वफलं यथा ॥ १५४ ॥

वह शरीर ही अहंकार कलाओं से युक्त और बुद्धि बीज से संयुक्त 'पुर्यष्टक' नाम से जाना जाता है, जो प्राणियों के हृदय कमल में मङ्डराने वाले भौंरे के सदृश है। पाक (परिपूर्णवस्था) की स्थिति में बिल्वफल की तरह ही तीव्र संवेगात्मक तेजस्वी शरीर की भावना किये जाने पर, मन स्थूल हो जाता है॥ १५३-१५४॥

मूषास्थद्वुतहेमाभं स्फुरितं विमलाम्बरे । संनिवेशमथादत्ते तत्तेजः स्वस्वभावतः ॥ १५५ ॥

ऊर्ध्वं शिरः पिण्डमयमधः पादमयं तथा । पार्श्वयोर्हस्तसंस्थानं मध्ये चोदरधर्मिणम् ॥ १५६ ॥

कालेन स्फुटतामेत्य भवत्यमलविग्रहम् । बुद्धिसत्त्वबलोत्साहविज्ञानैश्वर्यसंस्थितः ॥ १५७ ॥

निर्मल आकाश में वह तेज, मूषा (सोना गलाने के पात्र) में पिघले हुए स्वर्ण के समान स्फुरित होकर अपनी प्रकृति के अनुसार गठित होने लगता है। ऊपर से वह सिर की तरह, नीचे से पैरों की तरह, पाश्चों में

भुजाओं की तरह तथा मध्य में उदर की तरह समय अने पर अभिव्यक्ति को प्राप्त होकर पूर्ण शरीर के आकार को प्राप्त हो जाता है। बुद्धि, वीर्य, बल, उत्साह, विज्ञान और वैभव से सम्पन्न हो जाता है ॥१५५-१५७॥

स एव भगवान्नब्रह्मा सर्वलोकपितामहः । अवलोक्य वपुर्ब्रह्मा कान्तमात्मीयमुन्तमम् ॥ १५८ ॥

चिन्तामध्येत्य भगवांस्त्रिकालामलदर्शनः । एतस्मिन्परमाकाशे चिन्मात्रैकात्मरूपिणि ॥ १५९ ॥

अदृष्टपारपर्यन्ते प्रथमं किं भवेदिति । इति चिन्तितवान्नब्रह्मा सद्योजातामलात्मदृक् ॥ १६० ॥

वही शरीर सब लोकों का पितामह भगवान् ब्रह्मा बन जाता है। भूत, भविष्यत् और वर्तमान के प्रत्यक्ष द्रष्टा भगवान् ब्रह्माजी ने अपनी उत्तम और मनोहर छबि को निहारकर विचार किया कि इस चिन्मात्र आत्मरूपी परमाकाश का कोई आदि-अन्त दृष्टिगोचर नहीं होता। सर्वप्रथम क्या होना चाहिए? इस प्रकार का विचार करते ही तत्काल उन्हें पवित्र आत्मदृष्टि प्राप्त हुई ॥ १५८-१६० ॥

अपश्यत्सर्गवृन्दानि सप्तीतान्यनेकशः । स्मरत्यथो स सकलान्सर्वधर्मगुणक्रमात् ॥ १६१ ॥

लीलया कल्पयामास चित्राः संकल्पतः प्रजाः । नानाचारसमारम्भा गन्धर्वनगरं यथा ॥ १६२ ॥

तासां स्वर्गापवर्गार्थं धर्मकामार्थसिद्धये । अनन्तानि विचित्राणि शास्त्राणि समकल्पयत् ॥ १६३ ॥

उन्हें अतीतकाल में हुई सृष्टि के असंख्य सर्ग दिखाई दिये, इससे समस्त धर्मों एवं गुणों के क्रम उनके स्मृति पटल पर उभर आये। उन्होंने माया से ही विभिन्न प्रकार के आचारों से समन्वित अनेक रूप-रंग की प्रजा को अन्तरिक्ष में गन्धर्वलोक के समान ही संकल्प-शक्ति से प्रादुर्भूत कर दिया। उनके धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार पुरुषार्थों की सिद्धि के लिए उन्होंने अनेक चित्र-विचित्र शास्त्रों और स्वर्ग-नरकादि की कल्पना (रचना) कर दी ॥ १६१-१६३ ॥

विरश्चिरूपान्मनसः कल्पितत्वाजगत्स्थितेः । तावत्स्थितिरियं प्रोक्ता तत्राशे नाशमाप्नुयात् ॥ १६४ ॥

न जायते न म्रियते क्वचित्किंचित्कदाचन । परमार्थेन विप्रेन्द्र मिथ्या सर्वं तु दृश्यते ॥ १६५ ॥

कोशमाशाभुजङ्गानां संसाराडम्बरं त्यज । असदेतदिति ज्ञात्वा मातृभावं निवेशय ॥ १६६ ॥

ब्रह्मारूपी मन की कल्पना द्वारा संसार की स्थिति होने से ब्रह्मा के जीवन के साथ इसका (मन का) जीवन है। ब्रह्माजी के आयुष्य समाप्ति के साथ इस मन की भी समाप्ति है। हे द्विजश्रेष्ठ! वास्तव में न तो कोई कहीं जन्म ही ग्रहण करता है और न अवसान को ही प्राप्त होता है। यह सब मिथ्या है, जो प्रत्यक्ष दिखाई देता है। यह प्रपंचात्मक संसार आशारूपी सर्विणियों की पिटारी है, इसे त्यागना ही उचित है। इसे 'असत्' मानकर मातृभाव में स्थिर होना श्रेयस्कर है ॥ १६४-१६६ ॥

गन्धर्वनगरस्यार्थं भूषितेऽभूषिते तथा । अविद्यांशे सुतादौ वा कः क्रमः सुखदुःखयोः ॥ १६७ ॥

धनदारेषु वृद्धेषु दुःखयुक्तं न तुष्टता । वृद्धायां मोहमायायां कः समाश्वासवानिह ॥ १६८ ॥

यैरेव जायते रागो मूर्खस्याधिकतां गतैः । तैरेव भागैः प्राज्ञस्य विराग उपजायते ॥ १६९ ॥

गन्धर्व नगर चाहे सुसज्जित हो या असुसज्जित, वह कैसा भी क्यों न दिखाई दे, वह तुच्छ ही है। उसी तरह अविद्या के अंशरूप ये पुत्र आदि भी प्रपंचरूप हैं, इनके प्रति आसक्ति होना दुःख का कारण है। धन-स्त्री आदि की वृद्धि के प्रति सुख-दुःख का भाव रखना निरर्थक है। इसमें सन्तोष मानने की कहीं गुंजायश नहीं। मोह-माया की वृद्धि होने पर इस लोक में कौन सुख-शान्ति का अधिकारी बना है। जिन पदार्थों की बहुतायत से अज्ञानी जन सुख अनुभव करते हैं, उन्हीं से ज्ञानी पुरुष विरक्त रहते हैं ॥ १६७-१६९ ॥

अतो निदाघ तत्त्वज्ञ व्यवहारेषु संसृतेः । नष्टं नष्टमुपेक्षस्व प्राप्तं प्राप्तमुपाहर ॥ १७० ॥

अनागतानां भोगानामवाञ्छनमकृत्रिमम् । आगतानां च संभोग इति पण्डितलक्षणम् ॥ १७१ ॥
शुद्धं सदस्तोर्मध्यं पदं बुद्धवावलम्ब्य च । सबाह्याभ्यन्तरं दृश्यं मा गृहाण विमुच्च मा ॥ १७२ ॥

हे तत्त्वज्ञानी निदाघ ! सांसारिक व्यवहार में जिस-जिसका अभाव होता-जाए, उसकी इच्छा न करे और जो-जो सहजता से उपलब्ध हो, उसे स्वीकार करे । अप्राप्त की इच्छा न करना और प्राप्त उपभोग्य सामग्री का उपयोग करना यही पण्डित्य है । सत् और असत् के बीच शुद्ध पद को जानकर, उसका अवलम्बन ग्रहण कर के बाह्याभ्यन्तरिक दृश्यों को न तो ग्रहण करे और न ही त्यागे ॥ १७०-१७२ ॥

यस्य चेच्छा तथाऽनिच्छा ज्ञस्य कर्मणि तिष्ठतः । न तस्य लिप्यते प्रज्ञा पद्मपत्रमिवाम्बुधिः ॥ १७३ ॥
यदि ते नेन्द्रियार्थश्रीः स्पन्दते हृदि वै द्विज । तदा विज्ञातविज्ञेयः समुत्तीर्णो भवार्णवात् ॥ १७४ ॥
उच्चैः पदाय परया प्रज्ञया वासनागणात् । पुष्टादन्धमपोह्यारं चेतोवृत्तिं पृथक्कुरु ॥ १७५ ॥

इच्छा और अनिच्छा को समान मानने वाले ज्ञानी पुरुष कर्म करते हुए भी उसमें उसी प्रकार लिस नहीं होते, जैसे कीचड़ में कमलपत्र पड़ा रहकर भी उससे लिस नहीं होता । हे द्विज ! यदि आपके हृदय में इन्द्रियजन्य विषय हलचल पैदा नहीं करते, तो आप ज्ञातव्य पदार्थ का ज्ञान प्राप्त कर संसार रूपी समुद्र से पार हो गये । विशिष्ट ज्ञानयुक्त होकर वासनारूपी फूलों की सुगन्ध से अपनी चित्तवृत्ति को जल्दी ही दूर कर लिया जाए, तो महान् पद की प्राप्ति हो सकती है ॥ १७३-१७५ ॥

संसाराम्बुनिधावस्मिन्वासनाम्बुपरिप्लुते । ये प्रज्ञानावमारुद्धास्ते तीर्णाः पण्डिताः परे ॥ १७६ ॥
न त्यजन्ति न वाञ्छन्ति व्यवहारं जगद्गतम् । सर्वमेवानुवर्तन्ते पारावारविदो जनाः ॥ १७७ ॥
अनन्तस्यात्मतत्त्वस्य सत्तासामान्यस्तपिणः । चित्तश्चेत्योन्मुखत्वं यत्तसंकल्पाङ्कुरं विदुः ॥ १७८ ॥
लेशतः प्राप्तसत्ताकः स एव घनतां शनैः । याति चित्तत्वमापूर्य दृढं जाड्याय मेघवत् ॥ १७९ ॥

वासनारूपी जल से युक्त इस संसार-सागर में जो सद्ज्ञान रूपी नौका पर आरूढ़ हैं, वे ज्ञानीजन इससे पार हो गये । सांसारिक प्रपञ्च के जानकार पुरुष सांसारिक व्यवहार का न तो परित्याग करते हैं और न ही उसकी कामना करते हैं; अपितु वे उनके प्रति अनासक्ति का ही व्यवहार करते हैं, ज्ञानियों ने संकल्प का अंकुरित होना ही अनन्त आत्मतत्त्वरूप चेतन का विषयासक्त होना माना है । वही संकल्प अल्पमात्र स्थान प्राप्त करके धीरे-धीरे सघन होते हैं; तत्पश्चात् वे मेघ की तरह सुदृढ़ होकर चित्तकाश को ढककर जड़त्व भाव का संचार करते हैं ॥ १७६-१७९ ॥

भावयन्ति चित्तश्चैत्यं व्यतिरिक्तमिवात्मनः । संकल्पतामिवायाति बीजमङ्कुरतामिव ॥ १८० ॥
संकल्पनं हि संकल्पः स्वयमेव प्रजायते । वर्धते स्वयमेवाशु दुःखाय न सुखाय यत् ॥ १८१ ॥
मा संकल्पय संकल्पं मा भावं भावय स्थितौ । संकल्पनाशने यत्तो न भूयोऽननुगच्छति ॥ १८२ ॥

बीज के अंकुरावस्था को प्राप्त करने के समान ही चेतन विषयों को स्वयं से अलग-सा मानते हुए वह संकल्पावस्था को प्राप्त होता है । संकल्प से उसकी क्रिया अपने आप ही प्रकट होती है और स्वयं ही शीघ्रातिशीघ्र वृद्धि को प्राप्त होती है । लेकिन वह दुःख का ही कारण बनती है, सुख देने वाली नहीं होती । चित्त में उत्पन्न होने वाली संकल्प क्रिया को रोके । उसमें पदार्थ भावना न करे, जिसने संकल्प को विनष्ट करने का निश्चय किया है, उसे पुनः उसका अनुगमन करना उचित नहीं ॥ १८०-१८२ ॥

भावनाऽभावमात्रेण संकल्पः क्षीयते स्वयम् । संकल्पेनैव संकल्पं मनसैव मनो मुने ॥ १८३ ॥

छित्त्वा स्वात्मनि तिष्ठ त्वं किमेतावति दुष्करम् । यथैवेदं नभः शून्यं जगच्छून्यं तथैव हि ॥१८४॥
तण्डुलस्य यथा चर्म यथा ताप्तस्य कालिमा । नश्यति क्रियया विप्र पुरुषस्य तथा मलम् ॥१८५॥
जीवस्य तण्डुलस्येव मलं सहजमप्यलम् । नैश्यत्येव न संदेहस्तस्मादुद्योगवान्भवेत् ॥ १८६॥
इति महोपनिषत् ॥

भावना का अभाव होते ही संकल्प स्वयमेव समाप्त हो जाता है । हे मुनिश्रेष्ठ ! संकल्प द्वारा संकल्प को और मन द्वारा मन को नष्ट कर डाले । आकाश की तरह ही यह जगत् भी शून्य है । हे विप्र ! जिस तरह ताँबे की कालिमा और धान का छिलका प्रयत्नपूर्वक क्रिया विशेष से नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार पुरुष का विकार रूपी दोष प्रयत्न से दूर हो जाता है, धान के छिलके के समान जीव पर मल-विकाररूपी दोष प्रकृतिगत हैं, तो भी उनका नष्ट होना निश्चित है—इसमें रत्तीभर सन्देह नहीं । अतएव आत्मस्वरूप में स्थित होकर उद्योगी पुरुष बनने का प्रयत्न करो, इसमें असम्भव जैसी स्थिति है ही नहीं ॥ १८३-१८६ ॥

[चेतन के ऊपर चढ़े विकार की तुलना धान के छिलके से की गई है । विकार हटाये बिना चावल सेवन करने वोग्य नहीं होता और पुनः फलित होने के लिए छिलका-विकार आवश्यक है । छिलका-विकार हटते ही वह ज्ञानी के लिए सेव्य है तथा पुनर्जन्म के चक्र की संभावना भी समाप्त हो जाती है ।]

॥ षष्ठोऽध्यायः ॥

अन्तरास्थां परित्यज्य भावश्रीं भावनामयीम् । योऽसि सोऽसि जगत्यस्मिल्लीलया विहरानघ ॥१॥
सर्वत्राहमकर्त्तेति दृढभावनयानया । परमामृतनाम्नी सा समतैवावशिष्यते ॥ २ ॥

हे निष्पाप ! अन्तरंग की आस्था एवं भावनायुक्त भावों की सम्पदा का परित्याग करके आप अपने वास्तविक रूप में संसार में सुखपूर्वक विचरण करें । सभी जगह स्वयं को अकर्ता मानें, इस सुदृढ़ भावना से परम अमृत नाम की समता (एकरसता) ही अवशिष्ट रहती है ॥ १-२ ॥

खेदोल्लासविलासेषु स्वात्मकर्तृतयैकया । स्वसंकल्पे क्षयं याते समतैवावशिष्यते ॥ ३ ॥
समता सर्वभावेषु यासौ सत्यपरा स्थितिः । तस्यामवस्थितं चित्तं न भूयो जन्मभाग्भवेत् ॥४॥

दुःख और उल्लास-विलास-ये मनुष्य द्वारा स्वतः उत्पादित हैं । अपने संकल्प के क्षय होने पर समता भाव ही अवशेष रहता है । सभी पदार्थों में समता की वास्तविक स्थिति को चित्त में निष्ठापूर्वक धारण कर लेने पर आवागमन का चक्र समाप्त हो जाता है ॥ ३-४ ॥

अथवा सर्वकर्तृत्वमकर्तृत्वं च वै मुने । सर्वत्यक्त्वा मनः पीत्वा योऽसि सोऽसि स्थिरो भव ॥५॥
शेषस्थिरसमाधानो येन त्यजसि तत्त्यज । चिन्मनःकलनाकारं प्रकाशतिमिरादिकम् ॥ ६ ॥
वासनां वासितारं च प्राणस्पन्दनपूर्वकम् । समूलमखिलं त्यक्त्वा व्योमसाम्यः प्रशान्तधीः ॥७॥

हे मुने ! सभी कर्तव्य तथा अकर्तव्य का त्यागकर, मन का पान कर आप अपने वास्तविक स्वरूप में स्थिर हों । बाद में समाधिस्थ होकर जिससे आप त्याग किया करते हैं, उसे भी छोड़ दें । चेतन ने ही मानसिक संकल्प का आकार धारण कर रखा है, वही प्रकाश और अंधकार का रूप धारण किये हुए है । अतः प्राणस्पन्दन के साथ-साथ वासना का सम्पूर्ण परित्याग करके आकाश की तरह निर्मल और शान्त मन बाले बनें ॥ ५-७ ॥
हृदयात्मपरित्यज्य सर्ववासनपङ्क्तयः । यस्तिष्ठति गतव्यग्रः स मुक्तः परमेश्वरः ॥ ८ ॥
दृष्टं द्रष्टव्यमखिलं भ्रान्तं भ्रान्त्या दिशो दश । युक्त्या वै चरतो ज्ञस्य संसारो गोष्ठदाकृतिः ॥९॥

सबाह्याभ्यन्तरे देहे हृष्ट ऊर्ध्वं च दिक्षु च । इति आत्मा ततोऽप्यात्मा नास्त्यनात्ममयं जगत् ॥१० ॥

मुक्त और शान्त वही है, जो हृदय से सभी वासनाओं को छोड़ देता है, वही परमेश्वर है । वह दसों दिशाओं में घूमते हुए भ्रान्तिवश द्रष्टव्य पदार्थों को देखने में सक्षम है । प्रयत्नपूर्वक आचरणशील ज्ञानीपुरुषों के लिए यह संसार गोष्ठी (गाय का खुर) की तरह सहज ही पार उतरने योग्य बन जाता है । शरीर के बाहर-भीतर, ऊपर-नीचे तथा सभी दिशाओं में सर्वत्र आत्मा ही विद्यमान है, उसके निमित्त यह संसार अनात्ममय नहीं होता ॥८-१० ॥ न तदस्ति न यत्राहं न तदस्ति न तन्मयम् । किमन्यदभिवाञ्छामि सर्वं सच्चिन्मयं ततम् ॥ ११ ॥ समस्तं खल्विदं ब्रह्म सर्वमात्मेदमात्मतम् । अहमन्य इदं चान्यदिति भ्रान्तिं त्यजानघ ॥ १२ ॥ तते ब्रह्मघने नित्ये संभवन्ति न कल्पिताः । न शोकोऽस्ति न मोहोऽस्ति न जरास्ति न जन्म वा ॥

हे निष्पाप ! 'यह और है' 'मैं अन्य हूँ', इस प्रकार की भ्रान्त-धारणा का परित्याग कर दे । ऐसा कोई स्थल नहीं, जहाँ मेरा अस्तित्व नहीं, उस वस्तु का अभाव है, जो आत्मरूप न हो । मैं ऐसी कौन सी वस्तु की कामना करूँ ? सब में सत् और चिन्मय तत्त्व संव्याप्त है । यह सब कुछ ब्रह्ममय ही है, सबमें आत्मा का ही विस्तार है । सर्वव्यापी और नित्य सच्चिदानन्द घन ब्रह्म में काल्पनिक भावों की सम्भावना नहीं है । यह तत्त्व शोक, मोह, जरा और जन्म से रहित है ॥ ११-१२ ॥

यदस्तीह तदेवास्ति विज्वरो भव सर्वदा । यथाप्राप्तानुभवतः सर्वत्रानभिवाञ्छनात् ॥ १४ ॥ त्यागादानपरित्यागी विज्वरो भव सर्वदा । यस्येदं जन्म पाश्चात्यं तमाश्वेव महामते ॥ १५ ॥ विशन्ति विद्या विमला मुक्ता वेणुमिवोत्तमम् । विरक्तमनसां सम्यक्स्वप्रसङ्गादुदाहृतम् ॥ १६ ॥ द्रष्टुर्दृश्यसमायोगात्प्रत्ययानन्दनिश्चयः । यस्तं स्वमात्मतत्त्वोत्थं निष्पन्दं समुपास्महे ॥ १७ ॥ द्रष्टुर्दर्शनदृश्यानि त्यक्त्वा वासनया सह । दर्शनप्रत्ययाभासमात्मानं समुपास्महे ॥ १८ ॥

आत्मतत्त्व में जो विद्यमान है, वही सब कुछ है । अतएव हमेशा सभी जगह किसी पदार्थ की अभिलाषा न करते हुए सहज में जो उपलब्ध हो, उसी का आसक्तिरहित होकर उपभोग करते हुए शोकरहित होकर रहना चाहिए । किसी वस्तु का न तो परित्याग और न ग्रहण- इस प्रकार सन्तापहीन होकर रहना चाहिए । हे महामते ! जिस व्यक्ति का यह जन्म आखिरी है (अर्थात् आगे जिसका जन्म नहीं होना है), उसमें शीघ्र ही त्रैष प्रजाति की मुक्ता के समान निर्मल विद्या प्रविष्ट होती है । जिनके मन में वैराग्य भाव है, ऐसे ज्ञानियों द्वारा अपने अनुभवजन्य ज्ञान से यह अभिव्यक्त किया गया है कि द्रष्टा को दृश्य के माध्यम से जो निश्चयात्मिका सुखानुभूति होती है, वह आत्मतत्त्व से प्रकट हुआ स्पन्दन है, जिसकी हम उत्तम रीति से उपासना करते हैं ॥ १४-१८ ॥ द्वयोर्मध्यगतं नित्यमस्तिनास्तीति पक्षयोः । प्रकाशनं प्रकाशानामात्मानं समुपास्महे ॥ १९ ॥

वासनात्मक चिन्तन के साथ द्रष्टा, दृश्य और दर्शन इन तीनों का परित्याग करके प्रकाशमान आत्मा के हम उपासक हैं । अस्ति-नास्ति के बीच विद्यमान प्रकाशों के भी प्रकाशक सनातन आत्मा के हम उपासक हैं ॥ संत्यज्य हृदगुहेशानं देवमन्यं प्रयान्ति ये । ते रत्नमभिवाञ्छन्ति त्यक्तहस्तस्थकौस्तुभाः ॥ २० ॥ उत्थितानुत्थितानेतानिन्द्रियारीन्युनः पुनः । हन्याद्विवेकदण्डेन वज्रेणेव हरिर्गिरीन् ॥ २१ ॥

हमारे हृदय में वह आत्मतत्त्व महेश्वर के रूप में विद्यमान है । जो पुरुष इस आत्मा को त्यागकर अन्य वस्तु की प्राप्ति हेतु यत्रशील हैं, वे अपने हाथ में स्थित कौस्तुभमणि को छोड़कर अन्य रत्न की अभिलाषा करते हैं । इन्द्र द्वारा वज्र से पर्वतों को तहस-नहस करने की तरह इन्द्रियरूपी शत्रु-चाहे बलवान् हों या कमज़ोर, उन्हें विवेकरूपी दण्डप्रहार से बारम्बार प्रताड़ित करना चाहिए ॥ २०-२१ ॥

संसाररात्रिदुःस्वप्ने शून्ये देहमये भ्रमे । सर्वमेवापवित्रं तददृष्टं संसृतिविभ्रमम् ॥ २२ ॥
अज्ञानोपहतो बाल्ये यौवने वनिताहतः । शेषे कलत्रचिन्तार्तः किं करोति नराधमः ॥ २३ ॥
सतोऽसत्ता स्थिता मूर्धिरम्याणां मूर्ध्यरम्यता । सुखानां मूर्धिं दुःखानि किमेकं संश्रयाम्यहम् ॥ २४

संसाररूपी रात्रि के दुःस्वप्नरूप और सर्वथा शून्यवत् इस शरीररूपी भ्रम में जो भी कुछ मायाजाल का प्रसार देखा है, वह सभी पवित्रता से परे है । बाल्यकाल में अज्ञानता से ग्रसित रहा, युवाकाल में वनिता (स्त्री) के द्वारा आहत किया गया और अब अन्तिम अवस्था में यह अधम मनुष्य स्त्री-पुत्रादि की चिन्ता में आर्त (दुःखी) होकर आखिर अपना क्या उपकार कर सकता है? सत् के मूर्ढा (सिर) पर असत् का बोलबाला है । रमणीकता के ऊपर कुरुपता चढ़ी हुई है । सुखों के ऊपर दुःख प्रतिष्ठित हैं । ऐसी स्थिति में मैं किस एक का अवलम्बन प्राप्त करूँ? ॥ २२-२४ ॥

येषां निमेषणोन्मेषौ जगतः प्रलयोदयौ । तादृशाः पुरुषा यान्ति मादृशां गणनैव का ॥ २५ ॥
संसार एव दुःखानां सीमान्त इति कथ्यते । तत्प्रथ्ये पतिते देहे सुखमासाद्यते कथम् ॥ २६ ॥

जिनके निमेष एवं उन्मेष से इस संसार का विनाश एवं उत्पत्ति निश्चित है । इस प्रकार के सर्वश्रेष्ठ पुरुष भी जब काल-कवलित हो जाते हैं, तब मुझ जैसे सामान्य पुरुषों की तो गणना ही क्या है । इस नश्वर जगत् को ही दुःखों की अन्तिम परिधि माना गया है, उसमें शरीर के पड़े रहने पर सुखास्वादन किस प्रकार हो सकता है? ॥ २५-२६ ॥

प्रबुद्धोऽस्मि प्रबुद्धोऽस्मि दुष्टश्वेरोऽयमात्मनः । मनो नाम निहन्येनं मनसास्मि चिरं हृतः ॥ २७ ॥
मा खेदं भज हेयेषु नोपादेयपरो भव । हेयादेयदृशौ त्यक्त्वा शेषस्थः सुस्थिरो भव ॥ २८ ॥

मैं प्रबुद्ध हो गया हूँ, मैं जाग गया हूँ । मेरी आत्मा को चुराने वाला दुष्ट चोर मेरा यह दूषित मन ही है । इसने न जाने मुझे कब अति दीर्घकाल से चुराकर अपने वश में कर लिया है । अब मैं इसे जान गया हूँ । अतः इसको विनष्ट कर डालूँगा । हेय पदार्थों के लिए दुःखित मत हो और उपादेय पदार्थों के प्रति आसक्त मत हो । हेय एवं उपादेय से सम्बन्धित दृष्टि का परित्याग करके शेष में प्रतिष्ठित होकर अवस्थित हो जाओ ॥ २७-२८ ॥
निराशता निर्भयता नित्यता समता ज्ञता । निरीहता निष्क्रियता सौम्यता निर्विकल्पता ॥ २९ ॥
धृतिर्मैत्री मनस्तुष्टिमृदुता मृदुभाषिता । हेयोपादेयनिर्मुक्ते ज्ञे तिष्ठन्त्यपवासनम् ॥ ३० ॥
गृहीततृष्णाशबरीवासनाजालमाततम् । संसारवारिप्रसृतं चिन्तातनुभिराततम् ॥ ३१ ॥
अनया तीक्ष्णया तात छिन्थि बुद्धिशलाकया । वात्ययेवाम्बुदं जालं छित्वा तिष्ठते पदे ॥ ३२ ॥

इस नश्वर जगत् की ओर से निराशा, निर्भयता, नित्यता, अभिज्ञता, समता, निष्कामता, निष्क्रियता, सौम्यता, धृति, निर्विकल्पता, मैत्री, सन्तोष, मृदुता एवं मृदुभाषण आदि गुण वासनारहित तथा हेय (हीन) और उपादेय (उपयोगी) के प्रभाव से रहित प्रज्ञावान् पुरुष में निवास करते हैं । तृष्णारूपिणी भीलनी के द्वारा विस्तीर्ण किये हुए वासना रूपी जाल से तुम आबद्ध किये गये हो, चिन्ता रूपी रश्मियों के द्वारा संसार रूपी मृग-मरीचिकात्मक जल चतुर्दिक् फैला दिया गया है । हे पुत्र निदाघ! जिस तरह बवण्डर से मेघ रूपी जाल छिन्न-भिन्न हो जाते हैं, वैसे ही इस ज्ञानरूपी तीव्र बर्छी से उसे नष्ट करके अपने व्यापक स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाओ ॥ २९-३२ ॥
मनसैव मनश्छित्त्वा कुठोरेणेव पादपम् । पदं पावनमासाद्य सद्य एव स्थिरो भव ॥ ३३ ॥
तिष्ठनाच्छन्त्स्वपञ्चाग्रन्तिवसन्तुपतन्यतन् । असदेवेदमित्यनं निश्चित्यास्थां परित्यज ॥ ३४ ॥

दृश्यमाश्रयसीदं चेत्तत्सच्चित्तोऽसि बन्धवान् । दृश्यं संत्यजसीदं चेत्तदाऽचित्तोऽसि मोक्षवान् ॥

जिस प्रकार वृक्ष द्वारा प्रदत्त बेंट का सान्निध्य पाकर कुलहाड़ी वृक्ष को ही काट डालती है, उसी प्रकार मन के द्वारा ही मन को काटकर परम पावन अविनाशी पद को अतिशीघ्र प्राप्त करके स्थिर हो जाओ। खड़े रहते, चलते, जागते, सोते, निवास करते, बैठते, उठते तथा गिरते समय भी ये सभी कुछ असत् ही है; इस प्रकार का दृढ़ निश्चय रखो। दृश्य पदार्थों से आस्था का परित्याग कर दो; क्योंकि यदि दृश्य पदार्थ का आश्रय प्राप्त करते हो, तो चित्तमय होकर बन्धन में पड़ते हो तथा यदि दृश्य पदार्थ का पूरी तरह से त्याग करते हो, तो चित्त शून्यता के कारण मोक्ष प्राप्ति के अधिकारी बनते हो ॥ ३३-३५ ॥

नाहं नेदमिति ध्यायंस्तिष्ठ त्वमचलाचलः । आत्मनो जगतशान्तर्दृष्टदृश्यदशान्तरे ॥ ३६ ॥

दर्शनाख्यं स्वमात्मानं सर्वदा भावयन्भव । स्वाद्यस्वादकसंत्यकं स्वाद्यस्वादकमध्यगम् ॥ ३७ ॥

स्वदनं केवलं ध्यायन्परमात्ममयो भव । अवलम्ब्य निरालम्बं मध्येमध्ये स्थिरो भव ॥ ३८ ॥

न मैं स्वयं हूँ और न ही यह संसार है, ऐसा चिन्तन करते हुए तुम पर्वत की भाँति अड़िग होकर निवास करो। आत्मा एवं जगत् के मध्य द्रष्टा एवं दृश्य आदि इन दोनों स्थितियों के मध्य अपने आपको सदैव दर्शन स्वरूप आत्मा को ही मानते रहो। स्वाद्युक्त पदार्थ एवं उस स्वाद युक्त पदार्थ के चखने वाले 'कर्ता' से भिन्न और इन दोनों के बीच में केवल स्वाद का चिन्तन करते हुए परमात्मस्वरूप होकर प्रतिष्ठित हो जाओ। बीच-बीच में अवलम्बन रहित स्थिति का आश्रय प्राप्त करके एक स्थान पर स्थित हो जाओ ॥ ३६-३८ ॥

रज्जुबद्धा विमुच्यन्ते तृष्णाबद्धान केनचित् । तस्मान्निदाघ तृष्णां त्वं त्यज संकल्पवर्जनात् ॥ ३९ ॥

एतामहंभावमयीमपुण्यां छित्त्वाऽनहंभावशलाकयैव । स्वभावजां भव्यभवान्तभूमौ भव

प्रशान्ताखिलभूतभीतिः ॥ ४० ॥ अहमेषां पदार्थानामेते च मम जीवितम् । नाहमेभिर्विना किंचित्त्र

मयैते विना किल ॥ ४१ ॥ इत्यन्तर्निश्चयं त्यक्त्वा विचार्य मनसा सह । नाहं पदार्थस्य न मे

पदार्थ इति भाविते ॥ ४२ ॥ अन्तःशीतलया बुद्ध्या कुर्वतो लीलया क्रियाम् । यो नूनं

वासनात्यागो ध्येयो ब्रह्मन्प्रकीर्तिः ॥ ४३ ॥

रज्जु (रस्सी) से बँधे हुए लोग तो मुक्त हो जाते हैं, लेकिन तृष्णा से आबद्ध प्राणि-समूह किसी के द्वारा भी मोक्ष को प्राप्त नहीं कराये जा सकते। इसलिए हे पुत्र निदाघ! तुम संकल्प का त्याग करते हुए तृष्णा को छोड़ने का प्रयास करो। अहंभाव से रहित इस बछी के द्वारा अहंभाव से युक्त, स्वभावतः प्रादुर्भूत हुई पापमयी इस तृष्णा को काटकर समस्त प्राणिवर्ग को उत्पन्न होने वाले भय से निर्भय होकर सौन्दर्ययुक्त परमार्थ लोक में भ्रमण करो। मैं इन समस्त पदार्थों का हूँ और ये सभी मेरे जीवन हैं, इनके अभाव में मैं कुछ भी नहीं हूँ और न ही ये मेरे बिना कुछ हैं; अपने अन्तर्मन के द्वारा इस संकल्प को छोड़ दो। मन से विचार करो कि मैं इन पदार्थों का नहीं हूँ और ये पदार्थ मेरे नहीं हैं, इस प्रकार की दृढ़ भावना करो। स्थिर शान्त चित्त से चिन्तन करते हुए विचारपूर्वक अपने कार्यों को सामान्य ढंग से सम्पन्न करते हुए जो वासना का त्याग किया जाता है, हे ब्रह्मन्! वही वास्तविक ध्येय कहा गया है ॥ ३९-४३ ॥

सर्वं समतया बुद्ध्या यः कृत्वा वासनाक्षयम् । जहाति निर्ममो देहं नेयोऽसौ वासनाक्षयः ॥ ४४ ॥

अहंकारमयीं त्यक्त्वा वासनां लीलयैव यः । तिष्ठति ध्येयसंत्यागी स जीवन्मुक्त उच्यते ॥ ४५ ॥

जो पुरुष समत्व बुद्धि के द्वारा सदैव के लिए वासना का परित्याग करके ममतारहित हो जाता है, उसी से शरीर के बन्धनों का भी त्याग किया जा सकता है। इस कारण वासना का त्याग ही परम कर्त्तव्य है। जो मनुष्य

अहंकार से युक्त वासना को सहजतापूर्वक त्याग करके, ध्येय वस्तु का सम्प्रकृत रूपेण परित्याग करके प्रतिष्ठित होता है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है ॥ ४४-४५ ॥

निर्मूलं कलनां त्यक्त्वा वासनां यः शमं गतः । ज्ञेयं त्यागमिमं विद्धि मुक्तं तं ब्रह्मणोत्तमम् ॥४६ ॥

जो मनुष्य संकल्परूप वासना को मूलसहित छोड़कर परमशक्ति को प्राप्त होता है, उसी का वह श्रेष्ठ त्याग समझने योग्य है। उसी को मुक्त हुआ तथा ब्रह्मवेत्ताओं में अनुपम जानो ॥ ४६ ॥

द्वावेतौ ब्रह्मतां यातौ द्वावेतौ विगतञ्चरौ । आपतत्सु यथाकालं सुखदुःखेष्वनारतौ ॥ ४७ ॥

संन्यासियोगिनौ दान्तौ विद्धि शान्तौ मुनीश्वर । ईमितानीप्सिते न स्तो यस्यान्तर्वर्तिदृष्टिषु ॥ ४८ ॥

सुषुप्तवद्यश्वरति स जीवन्मुक्त उच्यते । हर्षार्थभयक्रोधकामकार्पण्यदृष्टिभिः ॥ ४९ ॥

न हृष्ट्वा ग्लायति यः परामर्शविवर्जितः । ब्रह्मार्थवासनोद्भूता तृष्णा बद्धेति कथ्यते ॥ ५० ॥

ये दोनों ही ब्रह्मतत्त्व को प्राप्त करते हैं, ये ही दोनों-सांसारिक ताप से मुक्त हैं। हे मुने! शम-दम से युक्त संन्यासी एवं योगी किसी भी काल में आ पड़ने वाले सुखों व दुःखों से युक्त नहीं होते। जिसके अन्तःकरण में इच्छा एवं अनिच्छा दोनों ही समाप्त हो गई है और जो सुषुप्तावस्था का आचरण करता है, वही पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है; जो वासनाओं से रहित है, वह हर्ष, अमर्ष, भय, क्रोध, काम एवं कार्पण्य की दृष्टि से न तो आनन्दित होता है और न ही दुःखी होता है। जो तृष्णा बाहर के विषयों की वासना से प्रकट होती है, वह बन्धन डालने वाली कही गयी है ॥ ४७-५० ॥

सर्वार्थवासनोन्मुक्ता तृष्णा मुक्तेति भण्यते । इदमस्तु ममेत्यन्तमिच्छां प्रार्थनयान्विताम् ॥ ५१ ॥

तां तीक्ष्णशृङ्खलां विद्धि दुःखजन्मभयप्रदाम् । तामेतां सर्वभावेषु सत्स्वसत्सु च सर्वदा ॥ ५२ ॥

संत्यज्य परमोदारं पदमेति महामनाः । बन्धास्थामथ मोक्षास्थां सुखदुःखदशामपि ॥ ५३ ॥

त्यक्त्वा सदसदास्थां त्वं तिष्ठाक्षुब्धमहाब्धिवत् । जायते निश्चयः साधो पुरुषस्य चतुर्विधः ॥ ५४ ॥

आपादमस्तकमहं मातापितृविनिर्मितः । इत्येको निश्चयो ब्रह्मन्बन्धायासविलोकनात् ॥ ५५ ॥

अतीतः सर्वभावेभ्यो वालाग्रादप्यहं तनुः । इति द्वितीयो मोक्षाय निश्चयो जायते सताम् ॥ ५६ ॥

जगज्जालपदार्थात्मा सर्व एवाहमक्षयः । तृतीयो निश्चयश्वेत्को मोक्षायैव द्विजोत्तम ॥ ५७ ॥

जो तृष्णा सभी तरह के विषयों की वासना से रहित होती है, वह मोक्ष प्रदाता होती है। प्रार्थना के द्वारा किसी भी वस्तु के प्राप्ति की कामना ही दुःख, भय एवं जन्म प्रदात्री होती है। उसे घोर बन्धनस्वरूपा जानो। महात्माजन सत्-असत्रूप समस्त पदार्थों की इच्छा-आकांक्षा का हमेशा के लिए पूर्णरूपेण परित्याग करके परमउदार पद को प्राप्त करते हैं। बन्धन की सत्ता में आस्था एवं मोक्ष की आस्था तथा सुख-दुःख स्वरूपा सत्-एवं असत् की आस्था-विश्वास का सदैव के लिए त्याग करके प्रशान्त महासागर के सदृश प्रतिष्ठित हो जाओ। हे महात्मन्! पुरुष के चार तरह के निश्चय होते हैं, जिनमें से प्रथम निश्चय यह है कि 'फैर से सिर तक मेरी संरचना मेरे माता-पिता के संयोग से हुई है। हे ब्रह्मन्! अब द्वितीय निश्चय सुनें। बन्धन में दुःखों का अवलोकन कर 'मैं सभी तरह के जागतिक-प्रपञ्चों-विकारों से परे बाल के अग्रभाग से भी अतिसूक्ष्म आत्मा हूँ।' यह निश्चय ज्ञानीजनों को मोक्ष दिलाने वाला कहा गया है। हे विप्रवर! तृतीय निश्चय यह है कि 'मैं सम्पूर्ण चराचर जगत् के पदार्थों की आत्मा हूँ, सर्वरूप एवं क्षयरहित हूँ' इस प्रकार से यह तीसरा निश्चय मनुष्य की मुक्ति का विशेष कारण होता है ॥ ५१-५७ ॥

अहं जगद्वा सकलं शून्यं व्योम समं सदा । एवमेष चतुर्थोऽपि निश्चयो मोक्षसिद्धिदः ॥ ५८ ॥
एतेषां प्रथमः प्रोक्तस्तृष्णाया बन्धयोग्यया । शुद्धतृष्णास्त्रयः स्वच्छा जीवन्मुक्ता विलासिनः ॥ ५९ ॥
सर्वं चाप्यहमेवेति निश्चयो यो महामते । तमादाय विषादाय न भूयो जायते मतिः ॥ ६० ॥

अब चौथा निश्चय सुनें, 'मैं या जगत् सभी कुछ आकाश की भाँति शून्य है।' यह चतुर्थ निश्चय पुरुष के लिए मोक्ष प्रदान करने वाला कहा गया है। इनमें से प्रथम निश्चय बन्धन में बाँधने वाला तथा तृष्णा (बन्धनभूता) से युक्त है। शेष तीनों निश्चय स्वच्छ, शुद्ध तृष्णा (बन्धनरहित) से समन्वित होते हैं तथा इन तीनों निश्चयों से युक्त मनुष्य जीवन्मुक्त एवं आत्मतत्त्व में विलास करने वाले होते हैं। हे परमश्रेष्ठ ज्ञानवान् मुने! 'मैं ही सभी कुछ हूँ।' ऐसा जो दृढ़ निश्चय (संकल्प) है, उसे धारण करके बुद्धि पुनः विषाद को प्राप्त नहीं करती ॥ ५८-६० ॥

शून्यं तत्प्रकृतिर्माया ब्रह्मविज्ञानमित्यपि । शिवः पुरुष ईशानो नित्यमात्मेति कथ्यते ॥ ६१ ॥
द्वैताद्वैतसमुद्धूतैर्जगन्निर्माणलीलया । परमात्ममयी शक्तिरद्वैतैव विजृम्भते ॥ ६२ ॥
सर्वातीतपदालम्बी परिपूर्णोक्चिन्मयः । नोद्वेगी न च तुष्टात्मा संसारे नावसीदति ॥ ६३ ॥

आत्मा के नाम से कहा जाने वाला शून्य ही प्रकृति, माया, ब्रह्मज्ञान, पुरुष, ईशान, शिव, नित्य एवं ब्रह्मज्ञान आदि के नाम से जाना जाता है। परमात्मस्वरूपा अद्वैत शक्ति ही द्वैत एवं अद्वैत से प्रादुर्भूत हुए पदार्थों से संसार के निर्माण की लीला करके विकसित हो रही है। जो सभी तरह के मायाजाल से परे आत्मरूपी पद का आश्रय प्राप्त करके एक पूर्णरूपेण चिन्मयस्थिति में रहकर न कोई उद्योग करते हैं और न ही संतुष्ट होते हैं। इस जागतिक शोक में वे कभी नहीं पड़ते ॥ ६१-६३ ॥

प्राप्तकर्मकरो नित्यं शत्रुमित्रसमानदृक् । ईहितानीहितैर्मुक्तो न शोचति न काङ्क्षति ॥ ६४ ॥
सर्वस्याभिमतं वक्ता चोदितः पेशलोक्तिमान् । आशयजश्च भूतानां संसारे नावसीदति ॥ ६५ ॥

हे पुत्र! जो मनुष्य नित्य प्राप्त कर्मों को करता है, शत्रु एवं मित्र को सम्यक् दृष्टि से देखता है और इच्छा-अनिच्छा से मुक्ति प्राप्त कर चुका है, न विषाद करता है, न किसी भी तरह की वस्तुएँ पाने की आकंक्षा करता है, मृदुभाषी है, प्रश्नों के पूछने पर नम्रतापूर्वक उत्तर देता है तथा समस्त प्राणियों के भावों को जानने में सक्षम है; वही मनुष्य इस विश्व में विषाद को प्राप्त नहीं होता ॥ ६४-६५ ॥

पूर्वा दृष्टिमवष्ट्रभ्य ध्येयत्यागविलासिनीम् । जीवन्मुक्ततया स्वस्थो लोके विहर विज्वरः ॥ ६६ ॥
अन्तःसंत्वक्तसर्वाशो वीतरागो विवासनः । बहिःसर्वसमाचारो लोके विहर विज्वरः ॥ ६७ ॥

प्रथम दृष्टि (आत्मदृष्टि) को लक्ष्य करके विलास की कामना का त्याग करके सांसारिक ताप से रहित होकर तथा अन्तरात्मा में प्रतिष्ठित होकर इस संसार में जीवन्मुक्त की तरह से भ्रमण करो। सभी प्रकार की आशाओं को हृदय से निकाल कर, वीतराग तथा वासना-रहित होकर बाह्य-मन से सभी सांसारिक रीतिरिवाजों का सम्यक् रूप से पालन करते हुए जगत् में तापविहीन होकर निरन्तर प्रवहमान रहो ॥ ६६-६७ ॥

बहिःकृत्रिमसंरम्भो हृदि संरम्भवर्जितः ।

कर्ता बहिरकर्तान्तर्लोके विहर शुद्धधीः ॥ ६८ ॥

त्यक्ताहंकृतिराश्चस्तमतिराकाशशोभनः ।

अगृहीतकलङ्काङ्को लोके विहर शुद्धधीः ॥ ६९ ॥

बाह्य वृत्ति से बनावटी क्रोध का अभिनय करते हुए एवं हृदय से क्रोधरहित, बाहर से कर्ता एवं अन्दर से अकर्ता बने रहकर शुद्धभाव से जगत् में सर्वत्र रमण करो। अहं को त्यागकर शान्त चित्त हो, कलङ्क रूपी कालिमा से सदैव के लिए मुक्त हो जाओ। आकाश के सदृश शुद्ध-परिष्कृत जीवन प्राप्त करके पवित्र सद्बुद्धि को धारण करके लोक में विचरण करो॥ ६८-६९॥

उदारः पेशलाचारः सर्वाचारानुवृत्तिमान्। अन्तःसङ्घपरित्यागी बहिःसंभारवानिव ॥ ७० ॥
अन्तवैराग्यमादाय बहिराशोन्मुखेहितः। अयं बन्धुर्यं नेति गणना लघुचेतसाम् ॥ ७१ ॥
उदारचरितानां तु वसुधैव कुटुम्बकम्। भावाभावविनिर्मुक्तं जरामरणवर्जितम् ॥ ७२ ॥
प्रशान्तकलनारम्यं नीरागं पदमाश्रय। एषा ब्राह्मी स्थितिः स्वच्छा निष्कामा विगतामया ॥ ७३ ॥

उदार एवं उत्तम अचरण से सम्पन्न, सभी श्रेष्ठ आचार-विचारों का अनुगमन करते हुए अन्दर से आसक्ति-रहित होते हुए भी बाहर से सतत प्रयत्न करता रहे। अन्तःकरण में पूरी तरह से वैराग्य को धारण करते हुए बाहर से आशावादी बनकर श्रेष्ठ व्यवहार करे। यह मेरा अपना (मित्र) है और वह नहीं है, ऐसे निकृष्ट विचार क्षुद्र मनुष्यों के होते हैं। उदार चरित वालों के लिए तो समस्त वसुधा ही अपना परिवार है। जो व्यक्ति भाव-अभाव से मुक्ति प्राप्त कर सका है, जन्म-मृत्यु से परे है, जहाँ पर सभी संकल्प सम्यक् रूप से शान्ति को प्राप्त हो जाते हैं, ऐसे रागविहीन तथा रमणीक पद का अवलम्बन ग्रहण करो। यह पवित्र, निष्काम, दोषरहित ब्राह्मी स्थिति है॥ ७०-७३॥

आदाय विहरन्नेवं संकटेषु न मुह्यति। वैराग्येणाथ शास्त्रेण महत्वादिगुणौरपि ॥ ७४ ॥
यत्संकल्पहरार्थं तत्स्वयमेवोन्नयन्मनः। वैराग्यात्पूर्णतामेति मनो नाशवशानुगम् ॥ ७५ ॥
आशया रक्ततामेति शरदीव सरोऽमलम्। तमेव भुक्तिविरसं व्यापारौघं पुनःपुनः ॥ ७६ ॥
दिवसे-दिवसे कुर्वन्नाज्ञः कस्मान्न लज्जते। चिच्छैत्यकलितो बन्धस्तन्मुक्तौ मुक्तिरुच्यते ॥ ७७ ॥

इसको स्वीकार करके विहार करता हुआ मनुष्य विपत्तिकाल में भी मोहग्रस्त नहीं होता। शास्त्रों के ज्ञान से या फिर वैराग्य से और महान् सदगुणों के द्वारा जिस संकल्प को विनष्ट किया जाता है, उससे मन स्वतः ही उन्नतावस्था को प्राप्त होने लगता है। निराशा के वश में हुआ जो मन वैराग्य के द्वारा पूर्णता को प्राप्त कर लेता है, वही आशान्वित होने पर शरत्कालीन ऋतु में स्वच्छ सरोवर की भाँति राग युक्त हो जाता है; किन्तु भोगों से विरक्त हुए मन को बार-बार प्रत्येक दिन रागादि व्यापारों में डालते हुए ज्ञानी पुरुष लज्जित क्यों नहीं होते? चित् एवं विषय का योग ही बन्धन कहलाता है। उस योग से छुटकारा प्राप्त करना ही मोक्ष कहलाता है॥ ७४-७७॥

चिदचैत्या किलात्मेति सर्वसिद्धान्तसंग्रहः। एतत्रिश्चयमादाय विलोकय धियेद्या ॥ ७८ ॥
स्वयमेवात्मनात्मानमानन्दं पदमाप्यसि। चिदहं चिदिमे लोकाश्चिदाशाश्चिदिमाः प्रजाः ॥ ७९ ॥
दृश्यदर्शननिर्मुक्तः केवलामलरूपवान्। नित्योदितो निराभासो द्रष्टा साक्षी चिदात्मकः ॥ ८० ॥

निश्चय पूर्वक विषयरहित चित् को ही आत्मा कहा गया है, यही समस्त वेदान्त-सिद्धान्त का सार है। इस विचार को सत्य मानकर प्रदीप अन्तःकरण के द्वारा स्वयमेव अपने आप को देखो। इसमें असीम आनन्द पद की प्राप्ति होगी। मैं चित् स्वरूप हूँ। ये समस्त लोक चित् हैं, दिशाएँ एवं ये सभी प्राणि-समुदाय भी चित् स्वरूप हैं। दृश्य एवं दर्शन से छुटकारा प्राप्त करके, मात्र परिष्कृत स्वरूप वाला साक्ष्यरूप चिदात्मा आभासरहित एवं नित्य प्रादुर्भूत होकर द्रष्टा बन रहा है॥ ७८-८०॥

चैत्यनिर्मुक्तचिद्रूपं पूर्णज्योतिः स्वरूपकम्। संशान्तसर्वसंवेद्यं संविन्मात्रमहं महत् ॥ ८१ ॥

संशान्तसर्वसंकल्पः प्रशान्तसकलैषणः । निर्विकल्पपदं गत्वा स्वस्थो भव मुनीश्वर ॥ ८२ ॥

मैं विषय वासनाओं से मुक्त होकर पूर्णरूपेण ज्योतिरूप होकर समस्त संवेदना से पूरी तरह से मुक्त होकर चित्स्वरूप और महान् संवित् (ज्ञानमय) हूँ। हे मुने! सभी संकल्पों को पूर्णरूपेण शान्त करके, सभी कामनाओं को त्यागकर निर्विकल्प पद में प्रविष्ट होकर आत्मा में प्रतिष्ठित हो जाओ ॥ ८१-८२ ॥

य इमां महोपनिषदं ब्राह्मणो नित्यमधीते । अश्रोत्रियः श्रोत्रियो भवति । अनुपनीत उपनीतो भवति । सोऽग्निपूतो भवति । स वायुपूतो भवति । स सूर्यपूतो भवति । स सोमपूतो भवति । स सत्यपूतो भवति । स सर्वपूतो भवति । स सर्वेंद्रैवैर्ज्ञातो भवति । स सर्वेषु तीर्थेषु स्नातो भवति । स सर्वेंद्रैवैरनुध्यातो भवति । स सर्वक्रतुभिरिष्टवाभ्ववति । गायत्र्याः षष्ठिसहस्राणि जसानि फलानि भवन्ति । इतिहासपुराणानां रुद्राणां शतसहस्राणि जसानि फलानि भवन्ति । प्रणवानामयुतं जसं भवति । आचक्षुषः पद्मकिं पुनाति । आसप्रमान्युरुषयुगान्युनाति । इत्याह भगवाह्निरण्यगर्भः । जप्येनामृतत्वं च गच्छतीत्युपनिषत् ॥ ८३ ॥

जो श्रेष्ठ ब्राह्मण इस महोपनिषद् का प्रतिदिन पाठ करता है, वह यदि अश्रोत्रिय होता है, तो श्रोत्रिय हो जाता है । यदि वह उपनीत नहीं है, तो उपनीत (सदृश) हो जाता है । वह अग्नि के समान पवित्र होता है, वायु की भाँति परिष्कृत तथा वह सोमपूत और सत्यपूत हो जाता है । वह सर्वथा पूर्णशुद्ध हो जाता है । वह समस्त देवों में सुपरिचित हो जाता है । उसे सभी तीर्थ-स्थलों के स्नान का फल प्राप्त हो जाता है । वह सभी यज्ञों का अनुष्ठान संकल्प कर लेने में समर्थ हो जाता है । सहस्रों गायत्री महामन्त्र के जप का फल उसे इस उपनिषद् के अध्ययन से मिल जाता है । सहस्रों इतिहास-पुराण एवं रुद्र पाठ का फल उसे प्राप्त हो जाता है । दस सहस्र प्रणव (ओंकार) के जप का फल उसे प्राप्त हो जाता है । जहाँ तक उसकी दृष्टि जाती है, वहाँ तक उस पंक्ति को वह पवित्र कर देता है । भगवान् हिरण्यगर्भ ब्रह्माजी ने कहा है कि इस (उपनिषद्) का जप करने मात्र से अमृतत्व की प्राप्ति हो जाती है । यही इस उपनिषद् का रहस्य है ॥ ८३ ॥

ॐ आप्यायन्तुइति शान्तिः ॥

॥ इति महोपनिषत्समाप्ता ॥



॥ योगकुण्डल्युपनिषद् ॥

यह योगपरक उपनिषद् कृष्णायजुर्वेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसमें कुल तीन अध्याय हैं। प्रथम अध्याय में सर्वप्रथम वायुजय (प्राणायाम सिद्धि) के तीन उपाय- १. मिताहार २. आसन एवं ३. शक्तिचालिनी मुद्रा-बताये गये हैं। तदुपरान्त सरस्वती चालन, प्राणायाम के भेद-पूर्यभेदी, उज्जावी, शीतली, भस्त्रिका आदि, तीन बन्ध-मूलबन्ध, उड़ियान बन्ध तथा जालन्धर बन्ध, योगाभ्यास के विष्ण और उनसे बचाव, योगाभ्यास से कुण्डलिनी जागरण, तीन ग्रन्थियों (ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि तथा रुद्रग्रन्थि) का भेदन करके कुण्डलिनी का सहस्रार चक्र में प्रवेश, प्राणादि का शिवतत्त्व में विलीन होना, समाधि अवस्था में सर्वत्र चैतन्य तत्त्व की अनुभूति और समाधियोग जैसे विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया है। द्वितीय अध्याय का शुभारम्भ खेचरी मुद्रा के विशद विवेचन से हुआ है। जिसमें खेचरी का स्वरूप, उसकी फलश्रुति, मन्त्र जप से खेचरी की सिद्धि, खेचरी का अभ्यास क्रम आदि का विस्तृत वर्णन है। तृतीय अध्याय में खेचरी मेलन (खेचरी सिद्धि) का मन्त्र उल्लिखित हुआ है, तदुपरान्त अमावस्या, प्रतिपदा और पूर्णिमा के दृष्टान्त से साधक की दृष्टि का उल्लेख है। इसके बाद प्राणायाम के अभ्यास से विराट के रूप की उत्पत्ति (सिद्धि), अभ्यास के बिना आत्मा का प्रकाश असम्भव, सदगुरु के उपदेश से ब्रह्म का ज्ञान, ब्रह्म के विविध अधिष्ठान (वाक् वृत्ति, विश्वादि प्रपञ्च), परात्परब्रह्म का स्वरूप, ब्रह्म प्राप्ति का उपाय-ध्यान तथा अन्त में जीवन्मुक्ति एवं विदेहमुक्ति आदि विषयों का प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार योग के सभी प्रमुख विषयों को प्रस्तुत करते हुए उपनिषद् को पूर्णता प्रदान की गई है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अक्ष्युपनिषद्)

॥ प्रथमोऽध्यायः ॥

हेतुद्वयं हि चित्तस्य वासना च समीरणः । तयोर्विनष्ट एकस्मिस्तदद्वावपि विनश्यतः ॥ १ ॥

चित्त (की चंचलता) के दो कारण हैं, वासना अर्थात् पूर्वार्जित संस्कार एवं वायु अर्थात् प्राण; इन दोनों में से एक का भी निरोध हो जाने पर दोनों समाप्त (निरुद्ध) हो जाते हैं ॥ १ ॥

तयोरादौ समीरस्य जयं कुर्यान्नः सदा । मिताहारश्वासनं च शक्तिचालस्तृतीयकः ॥ २ ॥

दोनों में सबसे पहले वायु अर्थात् प्राण पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। प्राणों पर विजय प्राप्त करने के तीन साधन हैं— १. मिताहार २. आसन एवं ३. शक्तिचालिनी मुद्रा का अभ्यास ॥ २ ॥

एतेषां लक्षणं वक्ष्ये शृणु गौतम सादरम् । सुस्तिग्राधमधुराहारश्वतुर्थाशविवर्जितः ॥ ३ ॥

भुज्यते शिवसंप्रीत्यै मिताहारः स उच्यते । आसनं द्विविधं प्रोक्तं पद्मं वज्रासनं तथा ॥ ४ ॥

हे गौतम! अब तुम्हें इनका (मिताहार का) लक्षण कहता हूँ, सादर (ध्यानपूर्वक) सुनो। सबसे पहले साधक को चाहिए कि वह स्निग्ध एवं मधुर भोजन (आधा पेट) करे, (उसका आधा भाग पानी) एवं चौथाई भाग (हवा के लिए) खाली रखे। इस तरह से शिव (कल्याण) के निमित्त भोजन करने को मिताहार कहते हैं। (प्राणजय के लिए प्रमुख) आसन दो कहे गये हैं— पहला है पद्मासन, दूसरा है वज्रासन ॥ ३-४ ॥

ऊर्वोरुपरि चेद्वत्ते उभे पादतले यथा । पद्मासनं भवेदेतत्सर्वपापप्रणाशनम् ॥ ५ ॥

दोनों फैरों की जंघाओं पर एक दूसरे के ऊपर तलवों को सीधा (ऊपर की ओर) करके रखने से सभी पापों का विनाश करने वाला पद्मासन होता है ॥ ५ ॥

वामादिग्रामूलकन्दाथो ह्यन्यं तदुपरि क्षिपेत् । समग्रीवशिरः कायो वज्रासनमितीरितम् ॥ ६ ॥

गर्दन, सिर एवं शरीर को एक सीध में रखकर बायें पैर की एड़ी को सीवन (योनि) स्थान में तथा दायें पैर की एड़ी उसके ऊपर लगाकर बैठने को वज्रासन कहा जाता है ॥ ६ ॥

[वैसे तो यह लक्षण सिद्धासन का है, परन्तु हठयोग प्रदीपिका जैसे ग्रन्थों में भी इसे वज्रासन कहा गया है; जबकि वर्तमान में दोनों घुटने मोड़कर दोनों एड़ियों पर बैठने की स्थिति 'वज्रासन' कही जाती है ।]

कुण्डल्येव भवेच्छक्तिस्तां तु संचालयेद्बुधः । स्वस्थानादाभ्युवोर्मध्यं शक्तिचालनमुच्यते ॥ ७ ॥

प्रमुख शक्ति कुण्डलिनी कही गई है, बुद्धिमान् साधक उसे चालन क्रिया के द्वारा नीचे से ऊपर दोनों भृकुटियों के मध्य ले जाता है, इसी क्रिया को शक्तिचालिनी कहते हैं ॥ ७ ॥

तत्साधने द्वयं मुख्यं सरस्वत्यास्तु चालनम् । प्राणरोधमथाभ्यासादृज्ज्वी कुण्डलिनी भवेत् ॥ ८ ॥

मुख्य रूप से कुण्डलिनी चलाने (जगाने) के दो साधन कहे गये हैं, सरस्वती चालन एवं प्राणरोध (प्राणायाम)। प्राणों के निरोध के अभ्यास से लिपटी हुई कुण्डलिनी सीधी हो जाती है ॥ ८ ॥

तयोरादौ सरस्वत्याश्चालनं कथयामि ते । अरुन्धत्येव कथिता पुराविद्धिः सरस्वती ॥ ९ ॥

इस प्रकार पहले तुमको 'सरस्वती चालन' के बारे में बताता हूँ। प्राचीन काल के विद्वान् इस सरस्वती को अरुंधती भी कहते थे ॥ ९ ॥

यस्याः संचालनेनैव स्वयं चलति कुण्डली । इडायां वहति प्राणे बद्ध्वा पद्मासनं दृढम् ॥ १० ॥

जिस समय इड़ा नाड़ी चल रही हो, उस समय दृढ़तापूर्वक पद्मासन लगाकर इसके (सरस्वती के) भली प्रकार संचालन करने से कुण्डलिनी स्वयं चलने (जाग्रत् होने) लगती है ॥ १० ॥

द्वादशाङ्गुलदैर्घ्यं च अम्बरं चतुरङ्गुलम् । विस्तीर्य तेन तन्नाडीं वेष्टयित्वा ततः सुधीः ॥ ११ ॥

फिर उस नाड़ी को द्वादश अंगुल लम्बे और चार अंगुल चौड़े अम्बर (वस्त्र) के टुकड़े से लपेटे ॥ ११ ॥

[यहाँ कुण्डलिनी नाड़ी (कन्दस्थान) को १२ अंगुल लम्बे और ४ अंगुल चौड़े वस्त्र से लपेटने का उल्लेख योग-साधना पद्धतियों के अनुकूल किया गया है। धेरंड संहिता तथा हठयोग प्रदीपिका (३.११३) में इसी तरह की बात कही गई है। धेरंड संहिता में इतने स्थान पर श्रेत-कोमल वस्त्र लपेटकर पूरे शरीर में भस्म मलने की बात है और हठयोग प्रदीपिका में उस स्थान को उतने परिमाण से लिपटे वस्त्र जैसा कहा गया है ।]

अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां तु हस्ताभ्यां धारयेददृढम् । स्वशक्त्या चालयेद्वामे दक्षिणेन पुनःपुनः ॥ १२ ॥

तब दृढ़तापूर्वक दोनों नासा छिरों को अङ्गुष्ठ एवं तर्जनी से पकड़कर अपनी (इच्छा) शक्ति से पहले बायें, फिर दायें नासिका के छिद्र से बार-बार रेचक और पूरक करे ॥ १२ ॥

मुहूर्तद्वयपर्यन्तं निर्भयाच्चालयेत्सुधीः । ऊर्ध्वमाकर्षयेत्किंचित्सुषुम्नां कुण्डलीगताम् ॥ १३ ॥

इस तरह निर्भय होकर दो मुहूर्त (= ४ घटी = ९६ मिनट) तक इसको चलाना चाहिए, साथ ही कुण्डलिनी में स्थित सुषुम्ना नाड़ी को किंचित् मात्र ऊपर खींचे ॥ १३ ॥

तेन कुण्डलिनी तस्याः सुषुम्नाया मुखं ब्रजेत् । जहाति तस्मात्प्राणोऽयं सुषुम्नां ब्रजति स्वतः ॥ १४ ॥

इस तरह से (सरस्वती चालन क्रिया से) कुण्डलिनी सुषुम्ना नाड़ी के मुख में प्रवेश करके ऊर्ध्वगामी हो जाती है। इसके साथ ही प्राण अपना स्थान छोड़कर सुषुम्ना में प्रवाहित होने लगता है ॥ १४ ॥

तुन्दे तु ताणं कुर्याच्य कण्ठसंकोचने कृते । सरस्वत्याश्चालनेन वक्षसश्चोर्ध्वगो मरुत् ॥ १५ ॥

कण्ठ संकोचन के सहित पेट को ऊपर की ओर खींचकर इस सरस्वती चालन से वायु ऊर्ध्वगामी होकर वक्षस्थल से भी ऊपर चला जाता है ॥ १५ ॥

सूर्येण रेचयेद्वायुं सरस्वत्यास्तु चालने । कण्ठसंकोचनं कृत्वा वक्षसश्वोर्ध्वगो मरुत् ॥ १६ ॥

सरस्वती चालन करते समय सूर्य नाड़ी (दाहिने स्वर) के द्वारा रेचक करते हुए कण्ठ संकोचन करने से (अधोगत) वायु वक्षस्थल से ऊपर की ओर गमन कर जाता है ॥ १६ ॥

तस्मात्संचालयेन्नित्यं शब्दगर्भा सरस्वतीम् । यस्याः संचालनेनैव योगी रोगैः प्रमुच्यते ॥ १७ ॥

इसलिए नियमित रूप से शब्दगर्भा (शब्दमयी) सरस्वती संचालन करना चाहिए अर्थात् उक्त 'सरस्वती चालन' क्रिया करनी चाहिए। इसका संचालन करने वाला योगी सभी प्रकार के रोगों से मुक्त हो जाता है ॥ १७ ॥

गुल्मं जलोदरः प्लीहा ये चान्ये तुन्दमध्यगाः । सर्वे तु शक्तिचालने रोगा नश्यन्ति निश्चयम् ॥ १८ ॥

इस शक्तिचालन क्रिया से जलोदर, गुल्म, प्लीहा एवं पेट के समस्त रोग निश्चित ही समाप्त हो जाते हैं ॥ प्राणरोधमथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाप्ततः । प्राणश्च देहगो वायुरायामः कुम्भकः स्मृतः ॥ १९ ॥

अब प्राणों का निरोध अर्थात् प्राणायाम करने की विधि बतलाते हैं। शरीर में संचरण करने वाली वायु को प्राण कहा जाता है, उसे जब (प्राणायाम के द्वारा) स्थिर किया जाता है, तब उसे कुम्भक कहते हैं ॥ १९ ॥
स एव द्विविधः प्रोक्तः सहितः केवलस्तथा । यावत्केवलसिद्धिः स्यात्तावत्सहितमध्यसेत् ॥ २० ॥

यह कुम्भक दो प्रकार का बताया गया है- १. सहित तथा २. केवल। सहित कुम्भक का अभ्यास तब तक करते रहना चाहिए, जब तक केवल कुम्भक की सिद्धि न हो जाये ॥ २० ॥

सूर्योज्जायी शीतली च भस्त्री चैव चतुर्थिका । भेदैरेव समं कुम्भोयः स्यात्सहितकुम्भकः ॥ २१ ॥

सूर्यभेदन, उज्जायी, शीतली और भस्त्रिका-ये चार कुम्भक के भेद 'सहित कुम्भक' कहलाते हैं ॥ २१ ॥ पवित्रे निर्जने देशे शर्करादिविवर्जिते । धनुः प्रमाणपर्यन्ते शीताग्निजलवर्जिते ॥ २२ ॥ पवित्रे नात्युच्चनीचे हच्चासने सुखदे सुखे । बद्धपद्मासनं कृत्वा सरस्वत्यास्तु चालनम् ॥ २३ ॥

जहाँ पर कंकड़-पत्थर आदि न हो, आस-पास धास, अग्नि, जल और शीत आदि न हो, पवित्र एवं एकान्त स्थान हो, वहाँ पर न अति नीचा, न अति ऊँचा, सुख देने वाला आसन बिछाकर बद्ध पद्मासन लगाकर सरस्वती चालन क्रिया करनी चाहिए ॥ २२-२३ ॥

दक्षनाड्या समाकृष्य बहिष्ठं पवनं शनैः । यथेष्टं पूरयेद्वायुं रेचयेदिडया ततः ॥ २४ ॥

श्वास द्वारा धीरे-धीरे दाहिनी नासिका से बाहरी वायु को खींचकर पर्याप्त मात्रा में उदर में भरे, तत्पश्चात् बायीं नासिका-इड़ा से रेचन करना चाहिए ॥ २४ ॥

कपालशोधने वापि रेचयेत्पवनं शनैः । चतुष्कं वातदोषं तु कृमिदोषं निहन्ति च ॥ २५ ॥

कपालशोधन क्रिया में भी धीरे-धीरे वायु का रेचन करना चाहिए। इस प्रकार करने से चारों तरह के वातदोष तथा कृमिदोष नष्ट हो जाते हैं ॥ २५ ॥

पुनः पुनरिदं कार्यं सूर्यभेदमुदाहृतम् । मुखं संयम्य नाडीभ्यामाकृष्य पवनं शनैः ॥ २६ ॥

यथा लगति कण्ठात् हृदयावधि सस्वनम् । पूर्ववल्कुम्भयेत्प्राणं रेचयेदिडया ततः ॥ २७ ॥

शीर्षोदितानलहरं गलश्लेष्महरं परम् । सर्वरोगहरं पुण्यं देहानलविवर्धनम् ॥ २८ ॥

नाडीजलोदरं धातुगतदोषविनाशनम् । गच्छतस्तिष्ठतः कार्यमुज्जाव्याख्यं तु कुम्भकम् ॥ २९ ॥

इस क्रिया का निरन्तर अभ्यास करना चाहिए, सूर्यभेदन इसी क्रिया का नाम है। (उज्जायी प्राणायाम का का वर्णन) मुँह बंद रखते हुए दोनों नासा छिप्रों से वायु को धीरे-धीरे इस प्रकार खींचना चाहिए कि प्रवेश के साथ श्वास से ध्वनि होती रहे। इस प्रकार हृदय एवं कण्ठ तक वायु को भरे। पुनः पहले की तरह कुम्भक करके

बायें नासा छिद्र से रेचन करना चाहिए, इसके करने से सिर की गर्मी, गले का कफ दूर हो जाता है, जठराग्नि बढ़ती है, नाड़ी जलोदर तथा धातुरोग भी समाप्त हो जाते हैं। उज्जायी नामक इस कुम्भक को स्थिर रहते अथवा चलते-फिरते कभी भी करते रहना चाहिए॥ २६-२९॥

जिह्वा वायुमाकृष्ट्यं पूर्ववत्कुम्भकादनु । शनैस्तु ग्राणरन्ध्राभ्यां रेचयेदनिलं सुधीः ॥ ३० ॥
गुल्मप्लीहादिकान्दोषान्ध्र्यं पित्तं ज्वरं तृष्णाम् । विषाणि शीतली नाम कुम्भकोऽयं निहन्ति च ॥

शीतली प्राणायाम में जिह्वा के द्वारा वायु को खींचकर पहले की तरह कुम्भक करके नासिका से वायु को धीरे-धीरे निकाले। इसके करने से प्लीहा, गुल्म, पित्त, ज्वर, तृष्णा आदि रोगों का शमन होता है॥ ३०-३१॥
 ततः पद्मासनं बद्ध्वा समग्रीवोदरः सुधीः । मुखं संयम्य यत्नेन प्राणं ग्राणेन रेचयेत्॥ ३२ ॥
 यथा लगति कण्ठात् कपाले सस्वनं ततः । वेगेन पूरयेत् किंचिद्दृत्पद्मावधि मारुतम्॥ ३३ ॥
 पुनविरेचयेत्तद्वत्पूरयेच्च पुनः पुनः । यथैव लोहकाराणां भस्त्रा वेगेन चाल्यते॥ ३४ ॥
 तथैव स्वशरीरस्थं चालयेत्पवनं शनैः । यथा श्रमो भवेद्देहे तथा सूर्येण पूरयेत्॥ ३५ ॥
 यथोदरं भवेत्पूर्णं पवनेन तथा लघु । धारयन्नासिकामध्यं तर्जनीभ्यां विना दृढम्॥ ३६ ॥
 कुम्भकं पूर्ववत्कृत्वा रेचयेदिडयानिलम् । कण्ठोत्थितानलहरं शरीराग्निविवर्धनम्॥ ३७ ॥
 कुण्डलीबोधकं पुण्यं पापद्वं शुभदं सुखम् । ब्रह्मनाडीमुखान्तस्थकफाद्यर्गलनाशनम्॥ ३८ ॥
 गुणत्रयसमुद्भूतग्रन्थित्रयविभेदकम् । विशेषेणैव कर्तव्यं भस्त्राख्यं कुम्भकं त्विदम्॥ ३९ ॥

भस्त्रिका प्राणायाम के लिए पद्मासन में बैठकर शरीर को गर्दन सहित सीधा करके सर्वप्रथम मुख को बन्द करके नासिका के द्वारा वायु को बाहर निकाले। पुनः इस तरह तीव्रता के साथ वायु को खींचे कि वायु का स्पर्श कण्ठ, तालु, सिर एवं हृदय को मालूम पड़े। फिर उसका रेचन करके पुनः पूरक करे, इस तरह बार-बार वेगपूर्वक लुहार की धौंकनी की तरह वायु को खींचे एवं निकाले। इस प्रकार शरीरस्थ वायु को सावधानी के साथ चलाना चाहिए। जब थकान मालूम पड़े, तब दाहिने (सूर्य) स्वर से वायु को खींचकर तर्जनी को छोड़कर नासिका को कसकर पकड़कर वायु का कुम्भक करे, फिर बायें नासा(इडा)छिद्र से निकाल देना चाहिए। इस प्रकार के अभ्यास से कण्ठ की जलन मिटती है एवं जठराग्नि की वृद्धि होती है। यह प्राणायाम सुख देने वाला, पुण्यकारी, पापनाशक तथा कुण्डलिनी को जगाने वाला है। सुषुमा नाड़ी के मुख पर जो (बाधक) कफ आदि रहता है, इसके अभ्यास से वह सब नष्ट हो जाता है तथा सत, रज, तम इन तीनों गुणों से उत्पन्न तीनों ग्रंथियों का भेदन करता है। इसलिए विशेष रूप से इस भस्त्रिका प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए॥ ३२-३९॥

चतुर्णामपि भेदानां कुम्भके समुपस्थिते । बन्धत्रयमिदं कार्यं योगिभिर्वीतकल्मषैः ॥ ४० ॥

निष्पाप योगी को इन चारों प्रकार के प्राणायामों के कुम्भक के समय तीन प्रकार के बन्ध (मूलबन्ध, उड़ियान बन्ध एवं जालन्धर बन्ध) भी लगाने चाहिए॥ ४० ॥

प्रथमो मूलबन्धस्तु द्वितीयोऽुयणाभिधः । जालन्धरस्तृतीयस्तु तेषां लक्षणमुच्यते ॥ ४१ ॥

प्रथम को मूलबन्ध, द्वितीय को उड़ियान बन्ध और तीसरे को जालन्धर बन्ध कहते हैं। अब उनके लक्षण अर्थात् साधना की विधि कहते हैं॥ ४१ ॥

अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वंगं कुरुते बलात् । आकुञ्जनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते ॥ ४२ ॥

शरीर के अधोभाग में विचरण करने वाले अपान वायु को, गुदा को संकुचित करके बलपूर्वक ऊपर उठाने की प्रक्रिया को मूलबन्ध कहते हैं॥ ४२ ॥

अपाने चोर्ध्वगे याते संप्रासे वहिमण्डले । ततोऽनलशिखा दीर्घा वर्धते वायुना हता ॥ ४३ ॥
ततो यातौ वह्यपानौ प्राणमुष्णास्वरूपकम् । तेनात्यन्तप्रदीपेन ज्वलनो देहजस्तथा ॥ ४४ ॥
तेन कुण्डलिनी सुसा संतसा संप्रबुध्यते । दण्डाहतभुजङ्गीव निःश्वस्य ऋजुतां ब्रजेत् ॥ ४५ ॥

अपान वायु ऊर्ध्वगमन करके जब वहिमण्डल से योग करता है, उस समय वायु से आहत होकर अग्नि बहुत तेज हो जाती है। तत्पश्चात् उष्ण स्वरूप वाले प्राण में अग्नि और अपान के मिल जाने पर, उसके प्रभाव से देहजन्य विकार जल जाते हैं। (इसके बाद) उस अग्नि से तस होकर सुस कुण्डलिनी जाग्रत् होकर प्रताङ्गित की हुई सर्पिणी के समान फुंकारती हुई सीधी हो जाती है ॥ ४३-४५ ॥

बिलप्रवेशतो यत्र ब्रह्मनाड्यन्तरं ब्रजेत् । तस्मान्नित्यं मूलबन्धः कर्तव्यो योगिभिः सदा ॥४६॥

उस समय यह अग्नि (कुण्डलिनी) विवर में प्रवेश करने की तरह सुषुम्ना नाड़ी के भीतर प्रवेश कर जाती है, इसलिए इस मूलबन्ध का अभ्यास योगियों को सदैव करते रहना चाहिए ॥ ४६ ॥

कुम्भकान्ते रेचकादौ कर्तव्यस्तूड्युयाणकः । बन्धो येन सुषुम्नायां प्राणस्तूड्युयते यतः ॥ ४७ ॥

तस्मादुड्युयणाख्योऽयं योगिभिः समुदाहृतः । सति वज्रासने पादौ कराभ्यां धारयेददृढम् ॥ ४८ ॥

गुल्फदेशसमीपे च कन्दं तत्र प्रपीडयेत् । पश्चिमं ताणमुदरे धारयेद्वृदये गले ॥ ४९ ॥

शनैः शनैर्यदा प्राणस्तुन्दसन्धिं निगच्छति । तुन्ददोषं विनिर्धूय कर्तव्यं सततं शनैः ॥ ५० ॥

कुम्भक करके जब रेचक करते हैं, उससे पहले उड्युयान बन्ध किया जाता है, जिसके करने से यह प्राण सुषुम्ना नाड़ी के भीतर ऊर्ध्वगमन करता है, इसीलिए योगीजनों द्वारा यह 'उड्डोयाण' कहलाता है। इसके लिए वज्रासन में बैठकर पैरों पर दोनों हाथों को दृढ़ता पूर्वक रखे। जहाँ गुल्फ (टखना) रखा जाता है, उसके समीपस्थ कन्द को दबाते हुए, पेट को ऊपर की ओर खींचते हुए, गला एवं हृदय को भी तनाव देते हुए खींचना चाहिए, इस प्रकार प्राण धीरे-धीरे पेट की सन्धियों में प्रवेश कर जाता है, इससे पेट के समस्त विकार दूर हो जाते हैं। इसलिए इस क्रिया को निरन्तर करते रहना चाहिए ॥ ४७-५० ॥

पूरकान्ते तु कर्तव्यो बन्धो जालन्धराभिधः । कण्ठसंकोचस्तो वायुमार्गनिरोधकः ॥ ५१ ॥

पूरक के अन्त में वायु को रोकने के लिए कण्ठ संकोचन क्रिया करते हैं, जिसे जालन्धर बन्ध कहते हैं ॥

अधस्ताल्कुञ्जनेनाशु कण्ठसंकोचने कृते । मध्ये पश्चिमताणेन स्यात्प्राणो ब्रह्मनाडिगः ॥ ५२ ॥

मूलबन्ध के द्वारा अधोभाग में गुदा का संकोचन करके कण्ठ संकोचन अर्थात् जालन्धर बन्ध करे, बीच में (पेट में) उड्युयान बन्ध के द्वारा प्राण वायु को खींचना चाहिए। इस तरह प्राण को सब ओर से रोकने से वह सुषुम्ना नाड़ी में प्रवेश करके ऊर्ध्वगमी होता है ॥ ५२ ॥

पूर्वोत्तेन क्रमेणैव सम्यगासनमास्थितः । चालनं तु सरस्वत्याः कृत्वा प्राणं निरोधयेत् ॥ ५३ ॥

पूर्व में बतायी गयी विधि से ठीक तरह से आसन पर बैठकर 'सरस्वती चालन' के द्वारा प्राणों का निरोध करना चाहिए ॥ ५३ ॥

प्रथमे दिवसे कार्यं कुम्भकानां चतुष्टयम् । प्रत्येकं दशसंख्याकं द्वितीये पञ्चभिस्तथा ॥ ५४ ॥

विंशत्यलं तृतीयेऽहि पञ्चवृद्ध्या दिनेदिने । कर्तव्यः कुम्भको नित्यं बन्धत्रयसमन्वितः ॥ ५५ ॥

चारों प्रकार के कुम्भक को पहले दिन दस-दस बार किया जाता है, दूसरे दिन पन्द्रह-पन्द्रह बार कुम्भक करे। प्राणायाम के क्रम में तीसरे दिन बीस-बीस बार अभ्यास करे। इस प्रकार प्रतिदिन पाँच-पाँच संख्या में बढ़ाता चले। कुम्भक का अभ्यास तीनों बन्धों के साथ प्रतिदिन करना चाहिए ॥ ५४-५५ ॥

दिवा सुमिर्निशायां तु जागरादतिमैथुनात् । बहुसंक्रमणं नित्यं रोधान्मूत्रपुरीषयोः ॥ ५६ ॥
विषमासनदोषाच्च प्रयासप्राणचिन्तनात् । शीघ्रमुत्पद्यते रोगः स्तम्भयेद्यदि संयमी ॥ ५७ ॥

दिन में सोना, रात्रि का जागरण, अतिमैथुन, मल एवं मूत्र के वेग को रोकना, ज्यादा चलना, आसनों का उचित ढंग से अभ्यास न करना, प्राणायाम की क्रिया में बहुत शक्ति लगाना तथा चिन्तित रहना-इन दोषों के कारण साधक शीघ्र रोगी हो जाता है ॥ ५६-५७ ॥

योगाभ्यासेन मेरोग उत्पन्न इति कथ्यते । ततोऽभ्यासं त्यजेदेवं प्रथमं विघ्नमुच्यते ॥ ५८ ॥

द्वितीयं संशयाख्यं च तृतीयं च प्रमत्तता । आलस्याख्यं चतुर्थं च निद्रारूपं तु पञ्चमम् ॥ ५९ ॥

षष्ठं तु विरतिर्भान्तिः सप्तमं परिकीर्तिम् । विषयं चाष्टमं चैव अनाख्यं नवमं स्मृतम् ॥ ६० ॥

अलब्धिर्योगतत्त्वस्य दशमं प्रोच्यते बुधैः । इत्येतद्विघ्नदशकं विचारेण त्यजेद्बुधः ॥ ६१ ॥

मुझे योगाभ्यास के द्वारा रोग हो गया है, यदि कोई साधक यह कहकर अभ्यास बन्द कर दे, तो समझना चाहिए कि योगाभ्यास का यह पहला विघ्न है। दूसरा विघ्न साधना पर शंका करना अर्थात् विश्वास न होना, तीसरा विघ्न प्रमत्तता है, चौथा विघ्न आलस्य करना, पाँचवाँ विघ्न ज्यादा नींद लेना, छठवाँ विघ्न साधना से प्रेम न होना, सातवाँ विघ्न भ्रान्ति, आठवाँ विघ्न विषय-वासना में अनुरक्ति, नवाँ अनाख्य (अप्रसिद्धि या अनाम) और योग तत्त्व का प्राप्त न होना दसवाँ विघ्न है, इस प्रकार ये दस विघ्न हैं, इन पर विचार करके बुद्धिमान् साधक को इनका त्याग कर देना चाहिए ॥ ५८-६१ ॥

प्राणाभ्यासस्ततः कार्योनित्यं सत्त्वस्थया धिया । सुषुमा लीयते चिन्तं तथा वायुः प्रथावति ॥ ६२ ॥

इसलिए नियमित रूप से सत्त्वमयी बुद्धि से विचार कर प्राणायाम करना चाहिए। इस प्रकार के चिन्तन से चित्त सुषुमा नाड़ी में लीन रहता है, जिसके कारण उसमें प्राणों का प्रवाह चलने लगता है ॥ ६२ ॥

शुष्के मले तु योगी च स्याद्विश्वलिता ततः । अधोगतिमपानं वै ऊर्ध्वगं कुरुते बलात् ॥ ६३ ॥

मल शोधन होने के बाद जब प्राण प्रवाहित (गतिशील) होने लगे, तभी बलपूर्वक अपान को ऊर्ध्वगामी बनाना चाहिए, उससे पहले नहीं ॥ ६३ ॥

आकुञ्जनेन तं प्राहुर्मूलबन्धोऽयमुच्यते । अपानश्चोर्ध्वगो भूत्वा वहिना सह गच्छति ॥ ६४ ॥

प्राण को ऊर्ध्वगामी बनाने की प्रक्रिया के लिए गुदा के आकुञ्जन की क्रिया को मूलबन्ध कहते हैं। इस क्रिया से अपान ऊर्ध्वगामी होकर अग्नि के साथ संयुक्त होकर ऊपर की ओर चल देता है ॥ ६४ ॥

**प्राणस्थानं ततो वह्निः प्राणापानो च सत्त्वरम् । मिलित्वा कुण्डलीं याति प्रसुसा कुण्डलाकृतिः ॥
तेनाग्निना च संतप्ता पवनेनैव चालिता । प्रसार्य स्वशरीरं तु सुषुमा वदनान्तरे ॥ ६५ ॥**

प्राण के स्थान में जब वह अग्नि पहुँचती है और प्राण तथा अपान दोनों मिलकर कुण्डलिनी में मिलते हैं, उस समय उसकी गर्मी से तस होकर एवं वायु के बारम्बार दबाव से कुण्डलिनी सीधी होकर सुषुमा के मुँह में प्रवेश कर जाती है ॥ ६५-६६ ॥

ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा रजोगुणसमुद्दवम् । सुषुमावदने शीघ्रं विद्युलेखेव संस्फुरेत् ॥ ६७ ॥

विष्णुग्रन्थिं प्रयात्युच्यैः सत्त्वरं हृदि संस्थिता । ऊर्ध्वं गच्छति यच्चान्ते रुद्रग्रन्थिं तदुद्दवम् ॥ ६८ ॥

तब यह कुण्डलिनी शक्ति रजोगुण से उत्पादित ब्रह्मग्रन्थि का भेदन करके विद्युत् शिखा की भाँति सुषुमा के मुख में ऊर्ध्वगमन करती है-प्रवेश करती है। (वहाँ से) शीघ्र ही हृदयचक्र में स्थित विष्णुग्रन्थि का भेदन कर उसके भी ऊपर रुद्रग्रन्थि (आज्ञा चक्र) में पहुँच जाती है ॥ ६७-६८ ॥

भ्रुवोर्मध्यं तु संभिद्य याति शीतांशुमण्डलम् । अनाहताख्यं यच्चक्रं दलैः षोडशभिर्युतम् ॥६९ ॥

भ्रुकुटियों के मध्य (आज्ञाचक्र) का भेदन करके यह चन्द्र स्थान में पहुँच जाती है, जहाँ पर षोडश दल वाला अनाहतचक्र स्थित है ॥ ६९ ॥

तत्र शीतांशुसंजातं द्रवं शोषयति स्वयम् । चलिते प्राणवेगेन रक्तं पित्तं रवेग्रहात् ॥ ७० ॥

यह (कुण्डलिनी शक्ति) वहाँ पर चन्द्रमा के द्वारा निःसृत द्रव को सुखाकर प्राणवायु के वेग से गतिशील होकर, सूर्य से मिलकर, रक्त और पित्त को ग्रहण कर लेती है ॥ ७० ॥

यातेन्दुचक्रं यत्रास्ते शुद्धश्वेषमद्रवात्मकम् । तत्र सिक्तं ग्रसत्युष्णं कथं शीतस्वभावकम् ॥ ७१ ॥

वहाँ चन्द्र स्थान में जाकर जहाँ शुद्ध श्वेषा द्रवस्वरूप रहता है, उस रस पदार्थ को सोखकर उसे गर्म कर देती है, इस तरह वहाँ शीतलता नहीं रह जाती ॥ ७१ ॥

तथैव रभसा शुक्लं चन्द्ररूपं हि तप्यते । ऊर्ध्वं प्रवहति क्षुब्धा तदैवं भ्रमतेतराम् ॥ ७२ ॥

तब यह शुक्ल रूप चन्द्रमा को शीघ्रता से तपा देती है तथा क्षुब्ध होकर ऊर्ध्वगामी हो जाती है ॥ ७२ ॥
तस्यास्वादवशाच्चित्तं बहिष्ठं विषयेषु यत् । तदेव परमं भुक्त्वा स्वस्थः स्वात्मरतो युवा ॥ ७३ ॥

उस स्थिति में उसे अमृतरस का स्वाद मिल जाता है, इसलिए जो मन पहले बाहरी विषयों में भोगरत रहता था, वह अब अन्तर्मुखी होकर स्वयं में स्थित स्वकीय आत्मा में आनन्द की अनुभूति करने लगता है ॥ ७३ ॥
प्रकृत्यष्टकरूपं च स्थानं गच्छति कुण्डली । क्रोडीकृत्य शिवं याति क्रोडीकृत्य विलीयते ॥ ७४ ॥

इस तरह से यह कुण्डलिनी शक्ति अष्टधा प्रकृति (पञ्च तत्त्व, मन, बुद्धि, अहंकार) से गमन करते हुए शिव से एकाकार होती है और उन्हीं में विलीन हो जाती है ॥ ७४ ॥

इत्यधोर्धरजः शुक्लं शिवे तदनु मारुतः । प्राणापानौ समौ याति सदा जातौ तथैव च ॥ ७५ ॥

इस प्रकार अधोभाग स्थित रज व ऊर्ध्व स्थित शुक्ल (शुक्र), वायु के वेग से शिव में मिल जाते हैं तथा प्राण व अपान भी शिव में विलीन हो जाते हैं; क्योंकि उन्हें समान रूप से उत्पन्न होने वाला कहा गया है ॥ ७५ ॥
भूतेऽल्पे चाप्यनल्पे वा वाचके त्वतिवर्धते । धावयत्यखिला वाता अग्निमूषाहिरण्यवत् ॥ ७६ ॥

जिस प्रकार अग्नि की गर्मी से स्वर्ण गलकर फैल जाता है, ठीक उसी प्रकार यह भौतिक शरीर चाहे छोटा हो या बड़ा (कुण्डलिनी की) उष्णता पाकर वह दिव्यशक्ति पूरे शरीर में फैल जाती है ॥ ७६ ॥

आधिभौतिकदेहं तु आधिदैविकविग्रहे । देहोऽतिविमलं याति चातिवाहिकतामियात् ॥ ७७ ॥
जाङ्ग्यभावविनिर्मुक्तममलं चिन्मयात्मकम् । तस्यातिवाहिकं मुख्यं सर्वेषां तु मदात्मकम् ॥ ७८ ॥

इस दिव्यशक्ति (कुण्डलिनी) के प्रभाव से यह आधिभौतिक शरीर आधिदैविक शरीर के रूप में परिवर्तित हो जाता है तथा शरीर अत्यन्त पवित्र होकर सूक्ष्म शरीर की तरह हो जाता है । वह जड़ता भाव को छोड़कर विशुद्ध चिन्मय स्वरूप हो जाता है, जबकि शेष मनुष्य अज्ञानग्रस्त ही बने रहते हैं ॥ ७८ ॥

जायाभवविनिर्मुक्तिः कालरूपस्य विभ्रमः । इति तं स्वरूपा हि मती रज्जुभुजङ्घवत् ॥ ७९ ॥
मृषैवोदेति सकलं मृषैव प्रविलीयते । रौप्यबुद्धिः शुक्तिकायां स्त्रीपुंसोर्धमतो यथा ॥ ८० ॥

उस साधक को अपने 'स्व' रूप की जानकारी हो जाती है, तब वह भव-बन्धन अर्थात् आवागमन से - मुक्त हो जाता है, वह काल के पाश से मुक्त हो जाता है, रस्सी में सर्प, सीपी में चाँदी एवं स्त्री में पुरुष के भ्रम की तरह अपने स्वरूप का ज्ञान होने पर साधक को अपने शरीर की नश्वरता का बोध हो जाता है ॥ ७९-८० ॥
पिण्डब्रह्माण्डयौरैक्यं लिङ्गसूत्रात्मनोरपि । स्वापाव्याकृतयौरैक्यं स्वप्रकाशचिदात्मनोः ॥ ८१ ॥

इस प्रकार पिण्ड और ब्रह्माण्ड तथा सूक्ष्म शरीर एवं सूत्रात्मा के एकाकार होने पर अपनी आत्मा और परम चैतन्य स्वप्रकाशित परमात्मा की एकता का ज्ञान हो जाता है ॥ ८१ ॥

शक्तिः कुण्डलिनी नाम बिसतन्तुनिभा शुभा । मूलकन्दं फणाग्रेण दृष्ट्वा कमलकन्दवत् ॥ ८२ ॥
मुखेन पुच्छं संगृह्य ब्रह्मरन्ध्रसमन्विता । पद्मासनगतः स्वस्थो गुदमाकुञ्ज्य साधकः ॥ ८३ ॥
वायुमूर्ध्वगतं कुर्वन्कुम्भकाविष्टमानसः । वाय्वाधातवशादग्निः स्वाधिष्ठानगतो ज्वलन् ॥ ८४ ॥

कमल के नाल की तरह कुण्डलिनी शक्ति होती है तथा कमलकन्द की तरह ही मूलकन्द को फणाग्र से देखकर, मुँह में अपने पुच्छ भाग को डालकर ब्रह्मरंध्र(सुषुमा नाड़ी) के द्वार को ढककर वह सुस पड़ी रहती है । इसके जागरण के लिए पद्मासन में बैठकर गुदा को ऊपर की ओर खींचकर कुम्भक करते हुए वायु को ऊपर की ओर ले जाकर वायु के आघात से स्वाधिष्ठानचक्र में स्थित अग्नि को प्रज्वलित करना चाहिए ॥ ८२-८४ ॥
ज्वलनाधातपवनाधातैरुत्रिद्वितोऽहिराट् । ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा विष्णुग्रन्थिं भिनन्त्यतः ॥ ८५ ॥
रुद्रग्रन्थिं च भित्त्वैव कमलानि भिनत्ति षट् । सहस्रकमले शक्तिः शिवेन सह मोदते ॥ ८६ ॥
सैवावस्था परा ज्ञेया सैव निर्वृतिकारिणी ॥ ८७ ॥ इति ॥

ऐसा करने से अग्नि और वायु के प्रहार से सुस कुण्डलिनी जाग्रत् होकर ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ग्रन्थियों का भेदन करके षट्चक्र का भेदन करती हुई सहस्रार कमल में पहुँच जाती है तथा यहाँ वह शक्ति के रूप में शिव में मिलकर आनन्द प्राप्त करती है । यह अवस्था परमानन्ददायी मुक्तिरूप होती है ॥ ८५-८७ ॥

॥ द्वितीयोऽध्यायः ॥

अथाहं संप्रवक्ष्यामि विद्यां खेचरिसंज्ञिकाम् । यथा विज्ञानवानस्या लोकेऽस्मिन्नजरोऽमरः ॥ १ ॥

अब खेचरी विद्या का वर्णन करते हैं, जिसे जान लेने के बाद व्यक्ति अजर-अमर हो जाता है ॥ १ ॥
मृत्युव्याधिजराग्रस्तो दृष्ट्वा विद्यामिमां मुने । बुद्धिं दृढतरां कृत्वा खेचरीं तु समभ्यसेत् ॥ २ ॥

जो मनुष्य जरा, मृत्यु और रोगों से ग्रसित है, वह दृढ़ निश्चय करके खेचरी विद्या का अभ्यास करे ॥ २ ॥
जरामृत्युगदधो यः खेचरीं वेत्ति भूतले । ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव तदभ्यासप्रयोगतः ॥ ३ ॥
तं मुने सर्वभावेन गुरुं मत्वा समाश्रयेत् । दुर्लभा खेचरी विद्या तदभ्यासोऽपि दुर्लभः ॥ ४ ॥

बुद्धापा, मृत्यु और रोगों का विनाश करने वाली इस खेचरी को इस पृथ्वी पर जो व्यक्ति ग्रन्थों के द्वारा, उनके भावों के द्वारा जानकर अभ्यास करते हों, इसका ज्ञान रखते हों, उन्हें समर्पित होकर, गुरु मानकर इसकी शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए । यह खेचरी विद्या तथा उसका अभ्यास दोनों दुर्लभ हैं ॥ ३-४ ॥

अभ्यासं मेलनं चैव युगपत्रैव सिद्ध्यति । अभ्यासमात्रनिरता न विन्दन्ते ह मेलनम् ॥ ५ ॥

इस खेचरी विद्या का अभ्यास एवं मेलन (साधना) साथ-साथ सिद्ध होता है, केवल अभ्यास करने से 'मेलन' (सिद्धि) की प्राप्ति नहीं हो पाती ॥ ५ ॥

[खेचरी सिद्धि के लिए क्रिया के अभ्यास के साथ-साथ मेलन प्रयोग करने का विधान है । मेलन के अन्तर्गत मंत्र अथवा गुरु के माध्यम से प्राण शक्ति को शिवशक्ति के साथ संयुक्त करने का विधान कहा गया है । आगे (३.१ में) मेलन मंत्र भी दिया गया है ।]

अभ्यासं लभते ब्रह्मञ्जन्मान्तरे क्वचित् । मेलनं तत्तु जन्मनां शतान्तेऽपि न लभ्यते ॥ ६ ॥

हे ब्रह्मन् ! किसी जन्म में अभ्यास तो मिल भी जाता है, पर मेलन सैकड़ों जन्मों में भी नहीं मिलता ॥ ६ ॥
अभ्यासं बहुजन्मान्ते कृत्वा तद्वावसाधितम् । मेलनं लभते कश्चिद्योगी जन्मान्तरे क्वचित् ॥ ७ ॥

भाव के सहित बहुत जन्मों में साधना करने पर किसी जन्म में योगी को मेलन प्राप्त हो जाता है ॥ ७ ॥

यदा तु मेलनं योगी लभते गुरुवक्रतः । तदा तत्सिद्धिमाप्नोति यदुक्ता शास्त्रसंततौ ॥ ८ ॥

साधक जब गुरु के श्रीमुख से 'मेलन' मंत्र ग्रहण करता है एवं शास्त्रीय परम्परानुसार साधना करता है, तब (कहीं) सिद्धि मिलती है ॥ ८ ॥

ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव मेलनं लभते यदा । तदा शिवत्वमाप्नोति निर्मुक्तः सर्वसंसृतेः ॥ ९ ॥

ग्रंथ के निर्देशानुसार अथवा उसके भावानुसार जब विधिवत् जान कर मेलन को प्राप्त कर लेता है, तब साधक संसार-सागर से मुक्त होकर शिवस्वरूप हो जाता है ॥ ९ ॥

शास्त्रं विनापि संबोद्धुं गुरवोऽपि न शक्युः । तस्मात्सुदुर्लभतरं लभ्यं शास्त्रमिदं मुने ॥ १० ॥

शास्त्र के बिना गुरु भी ज्ञान प्राप्त नहीं करा सकते, इसलिए हे मुने! शास्त्र का प्राप्त होना जरूरी है; क्योंकि यह शास्त्र बहुत महत्त्वपूर्ण है ॥ १० ॥

याक्ष्म लभ्यते शास्त्रं तावदां पर्यटेद्यतिः । यदा संलभ्यते शास्त्रं तदा सिद्धिः करे स्थिता ॥ ११ ॥

यति (साधक) को चाहिए कि जब तक 'शास्त्र' की प्राप्ति न हो जाए, तब तक धरती पर घूम-घूम कर उसे ढूँढ़ना चाहिए। सच्चा शास्त्र-ज्ञान प्राप्त हो जाने पर हाथों-हाथ सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥ ११ ॥

न शास्त्रेण विना सिद्धिर्दृष्टा चैव जगत्त्रये । तस्मान्मेलनदातारं शास्त्रदातारमच्युतम् ॥ १२ ॥
तदभ्यासप्रदातारं शिवं मत्वा समाश्रयेत् । लब्ध्वा शास्त्रमिदं महामन्येषां न प्रकाशयेत् ॥ १३ ॥

तीनों लोकों में बिना शास्त्र ज्ञान के सिद्धि नहीं मिल सकती। इसलिए शास्त्र का ज्ञान देने वाला और मेलन(योग) का अभ्यास कराने वाला गुरु भगवान् की प्रतिमूर्ति होता है, उसका अभ्यास कराने वाले को 'शिव' मानकर उसका आश्रय लेना चाहिए। यह ज्ञान प्राप्त करके अन्य(अनधिकारी)के समक्ष न प्रकट करे ॥ १२-१३
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन गोपनीयं विजानता । यत्रास्ते च गुरुर्ब्रह्मन्दिव्ययोगप्रदायकः ॥ १४ ॥
तत्र गत्वा च तेनोक्तविद्यां संगृह्य खेचरीम् । तेनोक्तः सम्यगभ्यासं कुर्यादादावतन्त्रितः ॥ १५ ॥

इसे हर प्रकार से गोपनीय रखते हुए, जहाँ भी इस दिव्य ज्ञान 'योग' में पारंगत गुरु मिलें, उन्हीं के पास जाकर खेचरी विद्या को ग्रहण कर उनके निर्देशानुसार जागरूक होकर अभ्यास करना चाहिए ॥ १४-१५ ॥
अनया विद्यया योगी खेचरीसिद्धिभावेत् । खेचर्या खेचरीं युञ्जन्खेचरीबीजपूरया ॥ १६ ॥

इस विद्या से योगी को खेचरी अर्थात् आकाश में उड़ने की शक्ति प्राप्त होती है, इसलिए खेचरी का अभ्यास खेचरी बीज (मन्त्र) के योग के साथ करना चाहिए ॥ १६ ॥

खेचराधिपतिर्भूत्वा खेचरेषु सदा वसेत् । खेचरावसर्थं वह्निमम्बुमण्डलभूषितम् ॥ १७ ॥

इस प्रकार का साधक आकाशगामी देवताओं का अधिपति होकर आकाश में विचरण करता रहता है। खेचरी के बीज मंत्र में खेचर का रूप 'ह' कार, आवस्थ अर्थात् धारणा का रूप 'ई' कार, अग्नि का रूप 'ई' कार और जल का रूप 'अनुस्वार' अर्थात् बिन्दु है। (इस प्रकार इन सबका योग 'हीं' होता है) ॥ १७ ॥

आख्यातं खेचरीबीजं तेन योगः प्रसिद्ध्यति । सोमांशनवकं वर्णं प्रतिलोमेन चोद्धरेत् ॥ १८ ॥
तस्मात् त्र्यंशकमाख्यातमक्षरं चन्द्ररूपकम् । तस्मादप्यष्टमं वर्णं विलोमेन परं मुने ॥ १९ ॥
तथा तत्परमं विद्धि तदादिरपि पञ्चमी । इन्दोश्च बहुभिन्ने च कूटोऽयं परिकीर्तिः ॥ २० ॥

खेचरी योग इसी (बीजमन्त्र) से सिद्ध होता है। (इसके आगे) सोमांश चन्द्रबीज 'स' कार होता है, इसके उल्टे गिनने पर नवें अक्षर पर 'भ' है, पुनः चन्द्रबीज 'स' कार है, इसके उल्टे गिनने पर अष्टम अक्षर पर 'म' है, इससे पाँच अक्षर उल्टा गिनने पर 'प' है, पुनः चन्द्रबीज 'स' कार एवं संयुक्त वर्ण युक्त 'क्ष' सबसे अन्तिम अक्षर है। (इस तरह हीं, भं, सं, मं, पं, सं, क्षं खेचरी का मंत्र होता है) ॥ १८-२० ॥

गुरुपदेशलभ्यं च सर्वयोगप्रसिद्धिदम् । यत्तस्य देहजा माया निरुद्धकरणाश्रया ॥ २१ ॥
स्वज्ञेऽपि न लभेत्स्य नित्यं द्वादशजप्तयः । य इमां पञ्च लक्षाणि जपेदपि सुयन्त्रितः ॥ २२ ॥
तस्य श्रीखेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्तते । नश्यन्ति सर्वविद्मानि प्रसीदन्ति च देवताः ॥ २३ ॥

गुरु के द्वारा विधिवत् उपदेश लेकर इस मंत्र का जप करने से यह सभी प्रकार की सिद्धियों को देने वाला है। इस मंत्र का प्रतिदिन द्वादश बार जप करने से देह में स्थित माया का स्वप्न में भी प्रभाव नहीं पड़ता। इस मंत्र का जीवन के सभी विद्म समाप्त हो जाते हैं एवं उसे देवताओं की प्रसन्नता प्राप्त होती है ॥ २१-२३ ॥

वलीपलितनाशश्च भविष्यति न संशयः । एवं लब्ध्वा महाविद्यामभ्यासं कारयेत्ततः ॥ २४ ॥

शरीर में पड़ी झुरियों एवं पके केश जैसे लक्षण समाप्त हो जाते हैं अर्थात् वृद्ध भी युवा हो जाता है, इसमें शंका नहीं करनी चाहिए, इसलिए इस महाविद्या का भली-भाँति अभ्यास करना चाहिए ॥ २४ ॥

अन्यथा किलश्यते ब्रह्मन् सिद्धिः खेचरीपथे । यदभ्यासविधौ विद्यां न लभेद्यः सुधामयीम् ॥ २५ ॥
ततः संमेलकादौ च लब्ध्वा विद्यां सदा जपेत् । नान्यथा रहितो ब्रह्मन् किंचित्सिद्धिभागभवेत् ॥

हे ब्रह्मन्! ऐसा न करने से इस खेचरी की सिद्धि नहीं होती, उल्टे कष्ट ही उठाना पड़ता है। सम्यक् प्रकार से अभ्यास के बाद भी यदि सिद्धि न मिले, तो भी मार्गदर्शक के द्वारा निर्देशित मार्ग का त्याग न करे। निरंतर इसका जप करना चाहिए, बिना उपयुक्त मार्गदर्शक के सिद्धि सम्भव नहीं ॥ २५-२६ ॥

यदिदं लभ्यते शास्त्रं यदा विद्यां समाश्रयेत् । ततस्तदोदितां सिद्धिमाशु तां लभते मुनिः ॥ २७ ॥

यदि यह शास्त्र प्राप्त हो जाये, तो इस विद्या का अभ्यास करे। इस प्रकार भली प्रकार से साधना करने पर साधक को सिद्धि शीघ्र प्राप्त हो जाती है ॥ २७ ॥

तालुमूलं समुत्कृष्य सप्तवासरमात्मवित् । स्वगुरुक्तप्रकारेण मलं सर्वं विशोधयेत् ॥ २८ ॥

सबसे पहले साधक गुरु के निर्देशानुसार तालु के मूल स्थान को सात दिनों तक घिसे, जिससे उसका मैल दूर हो जाये ॥ २८ ॥

सुहिपत्रनिभं शस्त्रं सुतीक्ष्णं स्त्रिगृहनिर्मलम् । समादाय ततस्तेन रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ २९ ॥

इसके बाद थूहर के पते की तरह तीक्ष्णधारयुक्त किसी पवित्र औजार से जिह्वा मूल (नीचे के जबड़े से जीभ को जोड़ने वाले तन्तु) को बाल के बराबर गुरु से कटाये या स्वयं काटे ॥ २९ ॥

हित्वा सैन्धवपथ्याभ्यां चूर्णिताभ्यां प्रकर्षयेत् । पुनः सप्तदिने प्राप्ते रोममात्रं समुच्छिनेत् ॥ ३० ॥

हरड़ और सेंधा नमक का चूर्ण कटे हुए स्थान पर सात दिन तक बुरकता रहे, इसके बाद पुनः उसी प्रकार बाल मात्र (तनिक सा) काटे ॥ ३० ॥

एवं क्रमेण षाण्मासं नित्योद्युक्तः समाचरेत् । षाण्मासाद्रसनामूलं सिराबन्धं प्रणश्यति ॥ ३१ ॥

इस तरह लगातार छः महीने प्रयास करने से जीभ का (निचले जबड़े से) सम्बन्ध कट जाता है ॥ ३१ ॥

अथ वागीश्वरीधाम शिरो वस्त्रेण वेष्टयेत् । शनैरुत्कर्षयेद्योगी कालवेलाविधानवित् ॥ ३२ ॥

पुनः षाण्मासमात्रेण नित्यं संघर्षणामुने । भ्रूमध्यावधि चाप्येति तिर्यक्कर्णबिलावधि ॥ ३३ ॥

अथश्च चुबुकं मूलं प्रयाति क्रमचारिता । पुनः संवत्सराणां तु तृतीयादेव लीलया ॥ ३४ ॥

केशान्तमूर्ध्वं क्रमति तिर्यक्षाखावधिर्मुने । अथस्तात्कण्ठकूपान्तं पुनर्वर्षत्रयेण तु ॥ ३५ ॥

ब्रह्मरन्धं समावृत्य तिष्ठेदेव न संशयः । तिर्यक् चूलितलं याति अथः कण्ठबिलावधिः ॥ ३६ ॥

तब जिहा के आगे वाले हिस्से में वस्त्र लपेटकर धीरे-धीरे बाहर की ओर को दोहन करना चाहिए। इस तरह नियमित रूप से अभ्यास करने पर जिहा बढ़कर बाहर भृकुटियों के बीच तक पहुँच जायेगी तथा और ज्यादा अभ्यास होने पर दोनों बगल, कान तक पहुँचने लगेगी। बाहर निकलने पर ठोड़ी तक पहुँच जायेगी। इस अभ्यास को यदि बराबर तीन वर्ष तक बनाये रखा जाये, तो जिहा सिर के बालों तक पहुँचने लगेगी। इस प्रकार अभ्यास करते रहा जाए, तो जीभ बगल में कधे तक एवं नीचे कण्ठकूप तक पहुँच जाती है। आगे और तीन वर्षों तक यदि अभ्यास किया जाये, तो वह गर्दन के पीछे और नीचे कण्ठ के अन्तिम भाग तक पहुँच जाती है। इस प्रकार जिहा सिर के ऊपर ब्रह्मरन्ध्र तक पहुँच कर उसे ढक लेगी, इसमें कोई संशय नहीं है ॥ ३२-३६ ॥

[इस उपनिषद् में खेचरी मुद्रा की हठयोग सम्मत दुस्साध्य विधि का वर्णन किया गया है। युग निर्माण अभियान के अन्तर्गत भावरससिद्धि हेतु खेचरी मुद्रा की जो सर्वसुलभ विधि बताई गई है, वह इससे भिन्न है। उस सर्वसुलभ विधि से खेचरी द्वारा अमृतपान साधना करने वाले साधकों को इससे किसी भ्रम या शंका में नहीं पड़ना चाहिए।]

शनैः शनैर्मस्तकाच्च महावज्रकपाटभित् । पूर्वं बीजयुता विद्या ह्याख्याता याऽतिदुर्लभा ॥३७ ॥
तस्याः षडङ्गं कुर्वीत तथा षट्स्वरभिन्नया । कुर्यादेवं करन्यासं सर्वसिद्ध्यादिहेतवे ॥ ३८ ॥

इस तरह क्रमशः अभ्यास करने पर जिहा ब्रह्मरन्ध्र का भेदन कर जाती है। सभी बीजाक्षरों की विधि सहित यह विद्या बहुत कठिन है। पूर्व में कहे हुए इन छः बीजाक्षरों से करन्यास एवं षडंगन्यास करने से ही पूरी सिद्धि मिल सकती है ॥ ३७-३८ ॥

शनैरेवं प्रकर्तव्यमभ्यासं युगपन्न हि । युगपद्वर्तते यस्य शरीरं विलयं व्रजेत् ॥ ३९ ॥
तस्माच्छनैः शनैः कार्यमभ्यासं मुनिपुङ्गव । यदा च बाह्यमार्गेण जिहा ब्रह्मबिलं व्रजेत् ॥ ४० ॥
तदा ब्रह्मार्गलं ब्रह्मन्दुर्भेद्यं त्रिदशैरपि । अङ्गुल्यग्रेण संघृष्य जिहामात्रं निवेशयेत् ॥ ४१ ॥

यह अभ्यास बड़ी सावधानी रखते हुए धीरे-धीरे क्रमशः करना चाहिए। जल्दी-जल्दी किया गया अभ्यास शरीर को हानि पहुँचा सकता है। इसलिए इसके अभ्यास में जल्दी नहीं करनी चाहिए। यदि बाह्य (स्थूल) विधि से जिहा ब्रह्म विवर में प्रवेश कर जाये, तब अँगुली के अग्रभाग से उठाकर उसे विवर के भीतर कर देना चाहिए ॥ ३९-४१ ॥

[तालु के पीछे नासिका से जुड़ी वायु नली का मार्ग गले में खुलता है। उसे तालुमूल कहा गया है। इस तालुमूल से लगा हुआ लोलचक्र या तालुचक्र कहा गया है। इसका सीधा संबंध मस्तिष्कमध्य में सहस्रारचक्र और ब्रह्मरन्ध्र से है। तालुमूल में खुलने वाले उक्त मार्ग के प्रवेश स्थल को ब्रह्म विवर कहा गया है।]

एवं वर्षत्रयं कृत्वा ब्रह्मद्वारं प्रविष्टे तु सम्यद्मथनमाचरेत् ॥ ४२ ॥

तीन वर्ष तक इस तरह अभ्यास करने पर जिहा का प्रवेश ब्रह्म द्वार में हो जाता है। जिहा के वहाँ प्रवेश कर जाने पर विधिवत् उसके द्वारा मंथन करना चाहिए ॥ ४२ ॥

मथनेन विना केचित्साधयन्ति विपश्चितः । खेचरीमन्त्रसिद्धस्य सिध्यते मथनं विना ॥ ४३ ॥

ऐसे कई योग्य साधक होते हैं, जो मंथन के बिना ही खेचरी सिद्ध कर लेते हैं, परन्तु जिन्होंने खेचरी मंत्र सिद्ध कर लिया है, वे ही मन्थन के बिना सिद्ध कर पाते हैं (अन्य नहीं) ॥ ४३ ॥

जपं च मथनं चैव कृत्वा शीघ्रं फलं लभेत् । स्वर्णजां रौप्यजां वापि लोहजां वा शलाकिकाम् ॥ ४४ ॥

नियोज्य नासिकारन्धं दुर्ग्रसिक्तेन तनुना। प्राणान्निरुद्ध्य हृदये सुखमासनमात्मनः ॥ ४५ ॥

शनैः सुमथनं कुर्याद्भूमध्ये न्यस्तचक्षुषी । घाणमासं मथनावस्था भावेनैव प्रजायते ॥ ४६ ॥

जप और मंथन दोनों करने से जल्दी लाभ मिलता है। मंथन हेतु लोहा, चाँदी या स्वर्ण की शलाका के एक सिरे पर दुग्ध लगा हुआ तनु लगाए, पुनः उसे नाक में डाल कर सुखासन में बैठ कर प्राण को हृदय में निरोध करके नेत्रों से भौंहों के मध्य देखते हुए उसी शलाका से मंथन करे। इस प्रकार छः मास तक मंथन करने पर इसका प्रभाव दिखलाई देने लगता है ॥ ४४-४६ ॥

यथा सुषुप्तिर्बालानां यथा भावस्तथा भवेत् । न सदा मथनं शस्तं मासे मासे समाचरेत् ॥ ४७ ॥
सदा रसनया योगी मार्गं न परिसंक्रमेत् । एवं द्वादशवर्षान्ते संसिद्धिर्भवति ध्रुवा ॥ ४८ ॥

उस समय साधक की अवस्था सोते हुए बालक की तरह होती है। इस मन्थन को मास में एक बार करे, नित्य न करे। जिह्वा को भी ब्रह्मरन्ध्र में बार-बार प्रविष्ट करे। द्वादश वर्ष तक इसी तरह अभ्यास करने से सिद्धि अवश्य प्राप्त होती है ॥ ४७-४८ ॥

शरीरे सकलं विश्वं पश्यत्यात्मविभेदतः । ब्रह्माण्डोऽयं महामार्गो राजदन्तोर्धर्वकुण्डली ॥ ४९ ॥

अभ्यास की इस अवस्था में योगी अपने अन्तर में पूरे विश्व का दर्शन कर लेता है; क्योंकि जिह्वा के ब्रह्म विवर में जाने वाले मार्ग में ही ब्रह्माण्ड की स्थिति है ॥ ४९ ॥

॥ तृतीयोऽध्यायः ॥

मेलनमन्त्रः हीं भं सं मं पं सं क्षम् । पद्मज उवाच । अमावास्या च प्रतिपत्पौर्णमासी च शंकर । अस्याः का वर्ण्यते संज्ञा एतदाख्याहि तत्त्वतः ॥ १ ॥

ब्रह्माजी ने कहा! खेचरी का— मेलन मन्त्र ‘हीं भं सं मं पं सं क्षं’ है। हे शंकर जी! कृपा करके आप हमें यह बतायें कि साधक के लिए अमावस्या, प्रतिपदा एवं पूर्णमासी का क्या अभिप्राय है? ॥ १ ॥

प्रतिपदिनतोऽकाले अमावास्या तथैव च । पौर्णमास्यां स्थिरीकुर्यात्स च पन्था हि नान्यथा ॥ २ ॥

(आत्मदर्शन के समय साधक की दृष्टि का वर्णन—) आत्मानुसंधान की साधना के प्रथम चरण में साधक की दृष्टि एवं स्थिति प्रकाशरहित अमावस्या की, द्वितीय चरण में प्रतिपदा (अल्प प्रकाश की) तथा तृतीय चरण में पूर्णिमा (पूर्ण प्रकाश) की होती है। वही कल्याण की स्थिति है ॥ २ ॥

कामेन विषयाकाङ्क्षी विषयात्काममोहितः । द्वावेव संत्यजेन्त्रित्यं निरञ्जनमुपाश्रयेत् ॥ ३ ॥

जब मनुष्य कामनाबद्ध होकर विषयों की ओर दौड़ता है, उस समय विषयों को प्राप्त करते हुए कामनाएँ बढ़ती जाती हैं। इसलिए विषय और कामना दोनों से अलग होकर (आत्मा में ध्यान लगाते हुए) ही विशुद्ध परमात्मभाव की प्राप्ति की जा सकती है ॥ ३ ॥

अपरं संत्यजेत्सर्वं यदीच्छेदात्मनो हितम् । शक्तिमध्ये मनः कृत्वा मनः शक्तेश्च मध्यगम् ॥ ४ ॥

अपना हित चाहने वाले को समस्त मिथ्या विषयों को छोड़कर शक्ति (कुण्डलिनी) के मध्य में मन को स्थिर करके उसी में स्थिर रहना चाहिए ॥ ४ ॥

[मन को चेतन सत्ता-शक्ति के मध्य स्थिर करना ‘स्व’ का चेतन में वास कहा जाता है। जब चेतन में वास होता है, तो शरीर को किन्हीं लौकिक संसाधनों की आवश्यकता नहीं पड़ती। जब तक शक्ति में ‘वास’ (पूरी तरह स्थिर होना) न सधे, तब तक यत्नपूर्वक ‘उपवास’ चेतना में आंशिकरूप से रहने का अभ्यास करना चाहिए। उपवास की स्थिति में शरीर के लिए न्यूनतम आहार देकर भी उसे सक्रिय और संतुष्ट रखा जा सकता है। उपवास साधना को शक्ति में वास की साधना का पूर्वाभ्यास कहा जा सकता है।]

मनसा मन आलोक्य तत्त्यजेत्परमं पदम् । मन एव हि बिन्दुश्च उत्पत्तिस्थितिकारणम् ॥ ५ ॥

मन से मन को देखते हुए उसकी गतिविधियों का निरीक्षण करके उनसे मुक्त होने को ही परम पद कहा गया है। मन ही बिन्दु (ईश्वर) है और वही (जगत्प्रपंच) की उत्पत्ति एवं स्थिति का मुख्य कारण है ॥ ५ ॥

मनसोत्पद्यते बिन्दुर्यथा क्षीरं घृतात्मकम् । न च बन्धनमध्यस्थं तद्वै कारणमानसम् ॥ ६ ॥

जिस प्रकार दूध से धी निकलता है, उसी प्रकार मन से बिन्दु प्रकट होता है। जो भी बन्धन हैं, मन में हैं, बिन्दु में नहीं ॥ ६ ॥

चन्द्रार्कमध्यमा शक्तिर्यत्रस्था तत्र बन्धनम् । ज्ञात्वा सुषुप्तां तद्देदं कृत्वा वायुं च मध्यगम् ॥ ७ ॥

जो शक्ति सूर्य और चन्द्र अर्थात् इड़ा-पिंगला नाड़ियों में स्थित है, वही बन्धन कारक है, यह जानकर उन (ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र ग्रन्थियों) का भेदन करके प्राणवायु को सुषुप्ता में गतिमान् करना चाहिए, जो इन दोनों के मध्य में स्थित है ॥ ७ ॥

स्थित्वासौ बैन्दवस्थाने ग्राणरन्धे निरोधयेत् । वायुं बिन्दुं समाख्यातं सत्त्वं प्रकृतिमेव च ॥ ८ ॥

बिन्दु स्थान में प्राण को रोककर वायु का निरोध नासिका के द्वारा करना चाहिए। बिन्दु, सत्त्व एवं प्रकृति का विस्तार यह प्राणवायु ही है ॥ ८ ॥

षट् चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत्सुखमण्डलम् । मूलाधारं स्वाधिष्ठानं मणिपूरं तृतीयकम् ॥ ९ ॥

अनाहतं विशुद्धिं च आज्ञाचक्रं च षष्ठकम् । आधारं गुदमित्युक्तं स्वाधिष्ठानं तु लैङ्गिकम् ॥ १० ॥

मणिपूरं नाभिदेशं हृदयस्थमनाहतम् । विशुद्धिः कण्ठमूले च आज्ञाचक्रं च मस्तकम् ॥ ११ ॥

षट्चक्रों को जानकर (उसे भेदकर) सुखमण्डल (सहस्रार चक्र) में प्रवेश करे। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध और आज्ञा ये छः चक्र कहे गये हैं। गुदास्थान के समीप मूलाधार, लिंग के समीप स्वाधिष्ठान, नाभिमण्डल में मणिपूर, हृदय में अनाहत, कण्ठमूल में विशुद्धचक्र एवं मस्तक में आज्ञाचक्र स्थित होता है ॥ ९-११ ॥

षट् चक्राणि परिज्ञात्वा प्रविशेत्सुखमण्डले । प्रविशेद्वायुमाकृष्टं तथैवोर्ध्वं नियोजयेत् ॥ १२ ॥

षट्चक्रों की जानकारी प्राप्त करके प्राण को आकर्षित करके सुखमण्डल अर्थात् परमानन्ददायी सहस्रार चक्र में प्रवेश करे और उसे ऊर्ध्वगामी दिशा में नियोजित करे ॥ १२ ॥

एवं समभ्यसेद्वायुं स ब्रह्माण्डमयो भवेत् । वायुं बिन्दुं तथा चक्रं चित्तं चैव समभ्यसेत् ॥ १३ ॥

समाधिमेकेन समममृतं यान्ति योगिनः । यथाग्निर्दर्शमध्यस्थो नोत्तिष्ठेन्मथनं विना ॥ १४ ॥

विना चाभ्यासयोगेन ज्ञानदीपस्तथा न हि । घटमध्यगतो दीपो बाह्ये नैव प्रकाशते ॥ १५ ॥

भिन्ने तस्मिन्ब्यटे चैव दीपञ्चाला च भासते । स्वकायं घटमित्युक्तं यथा दीपो हि तत्पदम् ॥ १६ ॥

गुरुवाक्यसमाभिन्ने ब्रह्मज्ञानं स्फुटीभवेत् । कर्णधारं गुरुं प्राप्य कृत्वा सूक्ष्मं तरन्ति च ॥ १७ ॥

इस तरह अभ्यसित होकर प्राण ब्रह्माण्ड में स्थित हो जाता है अर्थात् ब्रह्माण्ड का ज्ञान हो जाता है। समुचित रूप से चित्त, प्राण-वायु, बिन्दु एवं चक्र का अभ्यास हो जाने पर योगियों को परमात्मा से एकाकार होकर समाधि अवस्था में पहुँच कर अमृत-तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है। जिस तरह लकड़ी में अग्नि है, परन्तु बिना रगड़े हुए वह प्रज्वलित नहीं होती, उसी प्रकार बिना निरन्तर अभ्यास किये हुए योगविद्या का प्रकाश बाहर नहीं आ सकता। जिस प्रकार घड़े के भीतर रखा हुआ दीपक बिना उसका भेदन किये बाहर प्रकाश नहीं दे सकता, ठीक उसी तरह शरीररूपी घट के भीतर स्थित ब्रह्मरूपी प्रकाश तब तक बाहर नहीं दिखता, जब तक गुरुमुख होकर इस शरीररूपी घट का भेदन नहीं किया जाता। कर्णधार (नाविक) रूप गुरु ही इस संसार-सागर से पार होने का उपाय है ॥ १३-१७ ॥

अभ्यासवासनाशक्त्या तरन्ति भवसागरम् । परायामङ्गुरीभूय पश्यन्त्यां द्विदलीकृता ॥ १८ ॥
मध्यंमायां मुकुलिता वैखर्या विकसीकृता । पूर्वं यथोदिता या वाग्विलोमेनास्तगा भवेत् ॥ १९ ॥

अपनी श्रेष्ठ वासना अर्थात् उच्च आदर्शवादी महत्त्वाकांक्षा एवं निरन्तर अभ्यास के द्वारा अर्जित शक्ति के माध्यम से ही भवसागर को पार किया जा सकता है । शरीर में स्थित वाणी परारूप में अङ्गुरित होती, पश्यन्ती रूप में द्विदल (दो पत्ते) होती, मध्यमा में मुकुलित (खिलती-अग्रगामी) होती और वैखरी रूप में आकर पूर्ण विकसित (प्रकट) हो जाती है । इस वाणी का जिस तरह से प्राकट्य होता है, उसी क्रम में वह विलीन भी हो जाती है ॥ १८-१९ ॥

तस्या वाचः परो देवः कूटस्थो वाक्प्रबोधकः । सोऽहमस्मीति निश्चित्य यः सदा वर्तते पुमान् ॥ २० ॥
शब्दैरुच्चावचैर्नौचैर्भाषितोऽपि न लिप्यते । विश्वश्च तैजसश्चैव प्राज्ञश्चेति च ते त्रयः ॥ २१ ॥
विराङ्गुरण्यगर्भश्च ईश्वरश्चेति ते त्रयः । ब्रह्माण्डं चैव पिण्डाण्डं लोका भूरादयः क्रमात् ॥ २२ ॥
स्वस्वोपाधिलयादेव लीयन्ते प्रत्यगात्मनि । अण्डं ज्ञानाग्निना तसं लीयते कारणैः सह ॥ २३ ॥

उस वाणी का ज्ञान देने वाला 'मैं ही अन्तःस्थित परम देव हूँ' इस तरह निश्चित रूप से समझ कर जो उसके अनुरूप आचरण करता है, उसे अच्छा या बुरा कोई भी शब्द कह दिया जाए, तो वह व्यक्ति उससे प्रभावित नहीं होता । विश्व, तैजस तथा प्राज्ञ ये तीन तरह के पिण्ड कहे गये हैं । विराट्, हिरण्यगर्भ तथा ईश्वर तीन ब्रह्माण्ड एवं भूः, भुवः, स्वः क्रमशः ये तीन लोक कहे गये हैं । ये सभी अपनी उपाधियों के समाप्त होने पर पुनः अपनी पूर्व स्थिति में वापस आ जाते हैं । ज्ञानरूपी अग्नि में तस होकर अपने कारणों के मूलस्वरूप में विलीन हो जाते हैं ॥ २०-२३ ॥

परमात्मनि लीनं तत्परं ब्रह्मैव जायते । ततः स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ॥ २४ ॥

यह (जीव) परमात्मा से एकाकार होकर परम अगाध गम्भीर ब्रह्म स्वरूप हो जाता है, उस समय इसका ऐसा रूप होता है, जिसको न तो प्रकाश कहा जा सकता है, न अंधकार ही कहा जा सकता है ॥ २४ ॥
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत्किंचिदवशिष्यते । ध्यात्वा मध्यस्थमात्मानं कलशान्तरदीपवत् ॥ २५ ॥
अङ्गुष्ठमात्रमात्मानमधूमज्योतिरूपकम् । प्रकाशयन्तमन्तःस्थं ध्यायेत्कूटस्थमव्ययम् ॥ २६ ॥

उस समय एकमात्र नामरहित सत् स्वरूप, अव्यक्ततत्त्व ही शेष रह जाता है । (उस) मध्यस्थ (अन्तःकरण में स्थित) 'आत्मा' का कलश में स्थित दीपक की तरह ध्यान करके (आगे भी निरन्तर) अङ्गुष्ठमात्र, धूमरहित ज्योतिरूप, प्रकाशमान, कूटस्थ (शाश्वत) और अव्यय (अविनाशी) आत्मतत्त्व का अन्तःकरण में ध्यान करते रहना चाहिए ॥ २५-२६ ॥

विज्ञानात्मा तथा देहे जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिः । मायया मोहितः पश्चाद्गुजन्मान्तरे पुनः ॥ २७ ॥
सत्कर्मपरिपाकात् स्वविकारं चिकीर्षति । कोऽहं कथमयं दोषः संसाराख्य उपागतः ॥ २८ ॥

मूलतः आत्मा विज्ञान (विशिष्ट ज्ञान) रूप होता है, परन्तु शरीर प्राप्त होने पर वह माया के वशीभूत होकर जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं को प्राप्त हो जाता है और उसी माया में मोहित हो जाता है । जब जन्म-जन्मान्तरों के पुण्यकर्म उदित होते हैं, तब मानव अपने दोषों को जानने की इच्छा करता है, तब वह सोचता है कि वास्तव में मैं कौन हूँ एवं दोषरूप यह संसार कैसे प्राप्त हुआ है? ॥ २७-२८ ॥

जाग्रत्स्वप्ने व्यवहरन्त्सुषुप्तौ क्र गतिर्मम । इति चिन्तापरो भूत्वा स्वभासा च विशेषतः ॥ २९ ॥

जाग्रत् एवं स्वप्न अवस्था में तो मैं ही कर्ता के रूप में व्यवहार करता हूँ, परन्तु सुषुप्ति अवस्था में मेरी क्या गति होती है? इस तरह चिन्तन करते हुए अपने रूप पर विचार करता रहता है॥ २९॥

अज्ञानात् चिदाभासो बहिस्तापेन तापितः। दग्धं भवत्येव तदा तूलपिण्डमिवाग्निना॥ ३०॥

जिस प्रकार रुई का ढेर आग पाते ही जल जाता है, उसी प्रकार चिदाभास के प्रभाव से सांसारिक ताप से तापित अज्ञान समाप्त हो जाता है॥ ३०॥

दहरस्थः प्रत्यगात्मा नष्टे ज्ञाने ततः परम्। विततो व्याप्य विज्ञानं दहत्येव क्षणेन तु॥ ३१॥
मनोमयज्ञानमयान्तस्म्यगदग्ध्वा क्रमेण तु। घटस्थदीपवच्छश्वदन्तरेव प्रकाशते॥ ३२॥

इस तरह सांसारिक बोध के समाप्त होने पर प्रत्यगात्मा (शुद्ध आत्मा) प्रकाशित हो जाता है तथा उससे विज्ञान (संसार का विशेष ज्ञान) भी नष्ट हो जाता है। इस तरह क्रमशः मनोमय तथा विज्ञानमय के पूर्णतः नष्ट हो जाने पर घट के भीतर रखे हुए दीपक की तरह अंतःस्थ प्रकाश रूप आत्मा ही अंतःकरण में प्रकाशित होता रहता है॥ ३१-३२॥

ध्यायन्नास्ते मुनिश्वैवमासुमेरामृतेस्तु यः। जीवन्मुक्तः स विज्ञेयः स धन्यः कृतकृत्यवान्॥ ३३॥

इस प्रकार से नित्य प्रति जो आत्मज्ञानी आत्मा का ध्यान करता है तथा मृत्यु के आने पर भी स्थिर चित्त होकर उस पर ध्यान लगाये रहता है, उसे जीवन (सांसारिकता) से मुक्ति मिल जाती है, वही विज्ञानी है, धन्य है और वह कृत-कृत्य हो जाता है॥ ३३॥

जीवन्मुक्तपदं त्यक्त्वा स्वदेहे कालसाकृते। विशत्यदेहमुक्तत्वं पवनोऽस्पन्दतामिव॥ ३४॥

जीवन्मुक्त साधक का अन्तिम समय (मृत्यु) आने पर वह (शरीर रहते हुए जीवन्मुक्त एवं शरीर समाप्त होने पर) उसी प्रकार विदेह मुक्त हो जाता है, जिस प्रकार वायु (उन्मुक्त) आकाश में स्पन्दनरहित होकर प्रवेश कर जाती है॥ ३४॥

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।

अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं तदेव शिष्यत्यमलं निरामयम्॥ इत्युपनिषत्॥ ३५॥

जो आदि-अंत रहित, नित्य, अव्यय और महान् है तथा जो अटल है एवं शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध आदि पंचमहाभूतों से रहित है, वही विकाररहित परमपवित्र ब्रह्म ही अन्त में शेष बचता है, यही उपनिषद् है॥ ३५॥

॥ ॐ सह नाववतु इति शान्तिः ॥

॥ इति योगकुण्डल्युपनिषत्समाप्ता ॥



॥ योगचूडामण्युपनिषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। योग साधना द्वारा आत्मशक्ति जागरण की प्रक्रिया का इसमें समग्र मार्गदर्शन है।

सर्वप्रथम योग के छः अंगों (आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि) का उल्लेख हुआ है। तदुपरान्त योग की सिद्धि के लिए आवश्यक देहतत्त्व का ज्ञान, मूलाधार आदि चक्रों का ज्ञान, योनिस्थान (कुण्डलिनी) में परम ज्योति के दर्शन, नाड़ीचक्र, नाड़ी स्थान, नाड़ियों में संचरित प्राणवायु और उनकी क्रियाएँ, प्राणों के साथ जीव की गतिमयता, अजपा गायत्री का अनुसन्धान, कुण्डलिनी द्वारा मोक्ष द्वार का भेदन, तीन बन्ध (मूलबन्ध, जालन्धरबन्ध तथा उड़ियानबन्ध), खेचरी मुद्रा, वज्रोली आदि (विशेष योगसाधना) के लक्षण, महामुद्रा का स्वरूप, प्रणव (उँकार) जप की विशेष प्रक्रिया, प्रणव एवं ब्रह्म की एकरूपता, प्रणव (उँ) के अवयव (अ, उ, म) का अर्थ, तुरीयोङ्कार द्वारा अग्रब्रह्म की साधना, प्रणव एवं हंस साधना, कैवल्यबोध-आत्मज्ञान का प्रकाशक प्रणव जप, प्रणव मन्त्रानुष्ठान के साधक के लिए प्राणजय आवश्यक, नाड़ीशुद्धि से प्राणायामसिद्धि, मात्रा नियमपूर्वक प्राणायाम, योगांगों में से प्रत्येक के अलग-अलग फल और उनकी तारतम्यता, षण्मुखी मुद्रा के अभ्यास से नादाभिव्यक्ति, प्राणायाम का अभ्यास, सर्वरोग निवारक, 'प्राण' के निरोधाभ्यास में इन्द्रियों का प्रत्याहार आवश्यक इत्यादि अनेकविधि विषयों का बड़ा विशद विवेचन प्रस्तुत किया गया है। निःसन्देह इस उपनिषद् के अनुसार साधना करने वाला व्यक्ति योग के क्षेत्र में चूडामणि (मुकुट) स्तर का बन सकता है। योगपरक उपनिषदों में इस चूडामणि उपनिषद् का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है।

॥ शान्तिपाठः ॥

उँ आप्यायन्तु इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-महोपनिषद्)

योगचूडामणिं वक्ष्ये योगिनां हितकाम्यया । कैवल्यसिद्धिदं गूढं सेवितं योगवित्तमैः ॥ १ ॥

योग चूडामणि उपनिषद् को योगियों के हित की कामना से वर्णन करता हूँ, जो योगवेत्ताओं के द्वारा सेवन किया जाने वाला परम गूढ़ तथा कैवल्य (मोक्ष) सिद्धि देने वाला है ॥ १ ॥

आसनं प्राणसंरोधः प्रत्याहारश्च धारणा । ध्यानं समाधिरेतानि योगाङ्गानि भवन्ति षट् ॥ २ ॥

एकं सिद्धासनं प्रोक्तं द्वितीयं कमलासनम् । षट्चक्रं षोडशाधारं त्रिलक्ष्यं व्योमपञ्चकम् ॥ ३ ॥

स्वदेहे यो न जानाति तस्य सिद्धिः कथं भवेत् । चतुर्दलं स्यादाधारं स्वाधिष्ठानं च षट्दलम् ॥ ४ ॥

नाभौ दशदलं पद्मं हृदये द्वादशारकम् । षोडशारं विशुद्धाख्यं भूमध्ये द्विदलं तथा ॥ ५ ॥

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—इस प्रकार योग को छः अंगों वाला कहा गया है। दो प्रकार के आसनों का यहाँ वर्णन है, एक सिद्धासन दूसरा पद्मासन। अपने शरीर के भीतर जो साधक षट्चक्र, षोडश-आधार, त्रिलक्ष्य और पाँच आकाशों को नहीं देख पाता, उसे सिद्धि कहाँ मिल सकती है? शरीर में स्थित षट्चक्रों में आधारचक्र (मूलाधार चक्र) चार दल वाला है, स्वाधिष्ठान चक्र में छः दल हैं। दस दल वाला चक्र नाभि में स्थित है, द्वादशदल का पद्मचक्र हृदय में है, विशुद्धचक्र षोडश दल वाला तथा दो दल का चक्र भूमध्य में (आज्ञाचक्र के रूप में) स्थित है ॥ २-५ ॥

सहस्रदलसंख्यातं ब्रह्मरन्धे महापथि । आधारं प्रथमं चक्रं स्वाधिष्ठानं द्वितीयकम् ॥ ६ ॥
योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये कामरूपं निगद्यते । कामाख्यं तु गुदस्थाने पङ्कजं तु चतुर्दलम् ॥ ७ ॥
तत्मध्ये प्रोच्यते योनिः कामाख्या सिद्धवन्दिता । तस्य मध्ये महालिङ्गं पश्चिमाभिमुखं स्थितम् ॥ ८ ॥

सहस्र दल-कमल ब्रह्मरन्ध के महापथ में स्थित है । मूलाधार प्रथम चक्र है तथा स्वाधिष्ठान दूसरा चक्र है । दोनों के बीच में योनि स्थान (कुण्डलिनी) स्थित है । जगत् की उत्पत्ति का कारण होने से उसे कामरूप कहा जाता है । गुदस्थान में चार दल वाला कमल स्थित है, जिसे 'काम' कहा गया है । उसी के बीच सिद्ध पुरुषों के द्वारा वन्दित पश्चिमाभिमुख महालिंग स्थित है ॥ ६-८ ॥

नाभौ तु मणिवद्विम्बं यो जानाति स योगवित् । तस्मचामीकराभासं तडिल्लेखेव विस्फुरत् ॥ ९ ॥
त्रिकोणं तत्पुरं वहेरधोमेद्रात्प्रतिष्ठितम् । समाधौ परमं ज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् ॥ १० ॥

नाभि स्थान में मणि की आकृति वाले मणिपूर चक्र को जानने वाला ही योगी है । तपाये हुए सोने के समान आभा वाला, विद्युत् की तरह प्रकाशमान त्रिकोण युक्त अग्नि मेद्र में प्रतिष्ठित है । समाधि अवस्था में उस स्थान पर अनन्त विश्वतोमुख (सब ओर प्रकाशित) परमज्योति के दर्शन होते हैं ॥ ९-१० ॥

तस्मिन्दृष्टे महायोगे यातायातो न विद्यते । स्वशब्देन भवेत्प्राणः स्वाधिष्ठानं तदाश्रयः ॥ ११ ॥
स्वाधिष्ठानाश्रयादस्मान्मेद्रमेवाभिधीयते । तनुना मणिवत्प्रोतो योऽत्र कन्दः सुषुप्तया ॥ १२ ॥

योगाभ्यास के समय उस अग्निमयी ज्वाला के दर्शन कर लेने पर संसार के आवागमन से मुक्ति मिल जाती है । प्राण का निवास स्वाधिष्ठान चक्र में कहा गया है । प्राण को ही 'स्व' कहते हैं । स्वाधिष्ठान में स्थित होने के कारण उसे 'मेद्र' भी कहते हैं । जिस प्रकार मणि में तागा पिरोया होता है, उसी प्रकार कन्द (नाड़ी समूह) सुषुप्ता से युक्त है ॥ ११-१२ ॥

तत्राभिमण्डले चक्रं प्रोच्यते मणिपूरकम् । द्वादशारे महाचक्रे पुण्यपापविवर्जिते ॥ १३ ॥
तावज्जीवो भ्रमत्येवं यावत्तत्त्वं न विन्दति । ऊर्ध्वं मेद्रादधो नाभेः कन्दे योनिः खगाण्डवत् ॥ १४ ॥
तत्र नाड्यः समुत्पत्राः सहस्राणां द्विसमितिः । तेषु नाडीसहस्रेषु द्विसमितिरुदाहता ॥ १५ ॥
प्रथानाः प्राणवाहिन्यो भूयस्तासु दश स्मृताः । इडा च पिङ्गला चैव सुषुप्ता च तृतीयगा ॥ १६ ॥
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी । अलम्बुसा कुहूश्वेव शङ्खिनी दशमी स्मृता ॥ १७ ॥

नाभि मण्डल में स्थित द्वादशदल युक्त मणिपूर चक्र पाप-पुण्य रहित है, जब तक इसका तत्त्वज्ञान प्राप्त नहीं हो जाता, तब तक जीव को संसार चक्र में ही भ्रमण करना पड़ता है । पक्षी के अण्डे के अकार वाली योनि अर्थात् कुण्डलिनी, मेद्र और नाभि के मध्य स्थित है । बहतर हजार नाड़ियों का जाल पूरे शरीर में वर्ही से फैला है, उनमें से बहतर नाड़ियाँ मुख्य हैं । इनमें भी प्रमुख नाड़ियाँ दस कही गई हैं । १. इडा, २. पिंगला, ३. सुषुप्ता, ४. गांधारी, ५. हस्तिजिह्वा, ६. पूषा, ७. यशस्विनी, ८. अलम्बुसा, ९. कुहू और १०. शंखिनी ॥ १३-१७ ॥
एतत्राडीमहाचक्रं ज्ञातव्यं योगिभिः सदा । इडा वामे स्थिता भागे दक्षिणे पिङ्गला स्थिता ॥ १८ ॥
सुषुप्ता मध्यदेशे तु गान्धारी वामचक्षुषि । दक्षिणे हस्तिजिह्वा च पूषा कर्णे च दक्षिणे ॥ १९ ॥
यशस्विनी वामकर्णे चानने चाप्यलम्बुसा । कुहूश्व लिङ्गदेशे तु मूलस्थाने तु शङ्खिनी ॥ २० ॥

नाड़ियों के इस महाचक्र का ज्ञान योगियों को होना चाहिए । शरीर में इडा नाड़ी (नासिका के) बायीं ओर और पिंगला नाड़ी दाहिनी ओर स्थित रहती है । इडा-पिंगला के बीच में सुषुप्ता नाड़ी है । दायें नेत्र में हस्तिजिह्वा और बायें नेत्र में गांधारी का निवास है । पूषा तथा यशस्विनी क्रमशः दायें-बायें कान में स्थित हैं । मुँह में अलम्बुसा का निवास है । जननेन्द्रिय में कुहू एवं मूलस्थान में शंखिनी नाड़ी का निवास है ॥ १८-२० ॥

एवं द्वारं समाश्रित्य तिष्ठन्ते नाडयः क्रमात् । इडापिङ्ग्लासौषुप्त्वा: प्राणमार्गं च संस्थिताः ॥२१॥

सम्पूर्ण शरीर के भीतर एक-एक द्वार पर एक-एक नाड़ी स्थित है और प्राणमार्ग में इड़ा, पिंगला और सुषुप्ता नाड़ियाँ स्थित हैं ॥ २१ ॥

सततं प्राणवाहिन्यः सोमसूर्याग्निदेवताः । प्राणापानसमानाख्या व्यानोदानौ च वायवः ॥ २२ ॥

नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनंजयः । हृदि प्राणः स्थितो नित्यमपानो गुदमण्डले ॥ २३ ॥

समानो नाभिदेशो तु उदानः कण्ठमध्यगः । व्यानः सर्वशरीरे तु प्रधानाः पञ्च वायवः ॥ २४ ॥

सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि देवता प्राणों के वाहक हैं । प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान—ये पाँच प्राणवायु कहे गये हैं । नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त एवं धनञ्जय—ये पाँच उपप्राणवायु कहे गये हैं । शरीर के अन्दर हृदय में (मुख) प्राणवायु, गुदा स्थान में अपान, नाभि स्थान में समान, गले में उदान एवं पूरे शरीर में व्यानवायु स्थित रहता है । ये प्रधान प्राणवायु शरीर के पाँच स्थानों में स्थित हैं ॥ २२-२४ ॥

उद्धारे नाग आख्यातः कूर्म उन्मीलने तथा । कृकरः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे ॥ २५ ॥

ऊर्ध्ववायु (डकार) में नाग नामक उपप्राण, आँखों की पलक झपकने में कूर्मवायु, कृकल छींकने में एवं देवदत्त की स्थिति ज़ैभाई लेने में होती है ॥ २५ ॥

न जहाति मृतं वापि सर्वव्यापी धनंजयः । एते नाडीषु सर्वासु भ्रमन्ते जीवजन्तवः ॥ २६ ॥

सम्पूर्ण शरीर में धनञ्जय वायु इस प्रकार से व्याप्त है कि मृत्यु के बाद भी शरीर को नहीं छोड़ता है । इन्हीं नाड़ियों में जीव (प्राण) भ्रमण करते रहते हैं ॥ २६ ॥

आक्षिसो भुजदण्डेन यथा चलति कन्दुकः । प्राणापानसमाक्षिसस्तथा जीवो न तिष्ठति ॥ २७ ॥

खिलाड़ियों के द्वारा इधर से उधर फेंकी हुई गेंद की तरह जीव भी प्राण, अपान आदि वायुओं से स्थिर नहीं रह पाता अर्थात् सदैव गतिशील रहता है ॥ २७ ॥

प्राणापानवशो जीवो ह्यथश्रोर्ध्वं च गच्छति । वामदक्षिणमार्गभ्यां चञ्चलत्वात् दृश्यते ॥ २८ ॥

यह जीव प्राणादि वायुओं के वशीभूत होकर नीचे-ऊपर गमन करता हुआ बायें एवं दायें मार्ग में भी आता-जाता है । गमनचक्र तीव्रता से चलने के कारण वह दिखाई नहीं पड़ता ॥ २८ ॥

रज्जुबद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्ट्वा च गच्छते पुनः । गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कर्षति ॥ २९ ॥

रस्सी से बँधा हुआ श्येन पक्षी ऊपर उड़ता हुआ भी जिस प्रकार खींच लिया जाता है, ठीक उसी प्रकार गुणों से आबद्ध यह जीव भी प्राण और अपान वायुओं के द्वारा खींचा जाता है ॥ २९ ॥

प्राणापानवशो जीवो ह्यथश्रोर्ध्वं च गच्छति । अपानः कर्षति प्राणं प्राणोऽपानं च कर्षति । ऊर्ध्वाधः संस्थितावेतौ यो जानाति स योगवित् ॥ ३० ॥

प्राण अपान को खींचता है एवं अपान प्राण को खींचता है, इसलिए यह जीव प्राण और अपान की इस क्रिया के द्वारा निरंतर ऊपर-नीचे आता जाता रहता है । प्राण एवं जीव की इस अधः एवं ऊर्ध्वगमन प्रक्रिया को जानने वाला ही योगवेत्ता है ॥ ३० ॥

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेष्युनः । हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा ॥ ३१ ॥

श्वास 'स' कार ध्वनि (वायु) के माध्यम से भीतर और 'ह' कार के साथ बाहर आती है । इस तरह यह जीव हंस-हंस (हंसमंत्र) का जप सदैव करता रहता है ॥ ३१ ॥

षट्शतानि दिवारात्रौ सहस्राण्येकविंशतिः । एतत्संख्यान्वितं मंत्रं जीवो जपति सर्वदा ॥ ३२ ॥

दिन-रात निरन्तर जप करते रहने से यह जीव इकीस हजार छः सौ मंत्र नित्य जपता है ॥ ३२ ॥
अजपा नाम गायत्री योगिनां मोक्षदा सदा । अस्याः संकल्पमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३३ ॥
अनया सदृशी विद्या अनया सदृशो जपः । अनया सदृशं ज्ञानं न भूतं न भविष्यति ॥ ३४ ॥

योगियों के लिए मुक्ति प्रदात्री यही अजपा गायत्री है। इसके संकल्प मात्र से सभी पापों से मुक्ति मिल जाती है। इसके समान न कोई विद्या, न कोई जप, न कोई ज्ञान पहले हुआ है और न भविष्य में होगा ॥ ३३-३४ ॥
कुण्डलिन्या समुद्भूता गायत्री प्राणधारिणी । प्राणविद्या महाविद्या यस्तां वेत्ति स वेदवित् ॥ ३५ ॥

यह गायत्री प्राण को धारण करने वाली प्राणविद्या है-महाविद्या है, जो कुण्डलिनी से उद्भूत है। इस प्रकार जो जान लेता है, वही वेदवेत्ता है ॥ ३५ ॥

कन्दोर्ध्वं कुण्डलीशक्तिरष्टथा कुण्डलाकृतिः । ब्रह्मद्वारमुखं नित्यं मुखेनाच्छाद्य तिष्ठति ॥ ३६ ॥

कुण्डलिनी शक्ति कन्द के ऊर्ध्वभाग में आठ कुण्डलों की आकृति में व्यास होकर ब्रह्म द्वार के मुँह को अपने मुख से ढककर सदैव स्थित रहती है ॥ ३६ ॥

येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारं मनोमयम् । मुखेनाच्छाद्य तदद्वारं प्रसुप्ता परमेश्वरी ॥ ३७ ॥

जिस मनोमय ब्रह्म द्वार (सुषुप्ता) में प्रवेश किया जाता है, उसी द्वार (मुख) को अपने मुख से ढककर यह परमेश्वरी शक्ति (कुण्डलिनी) सोई रहती है ॥ ३७ ॥

प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह । सूचीवद्वात्रमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुप्त्या ॥ ३८ ॥

वह्नियोग (अग्नियोग) के द्वारा जाग्रत् होकर यह प्रकाश के रूप में मन और प्राणवायु के साथ सुषुप्ता नाड़ी के भीतर होकर सुई की तरह ऊपर की ओर चलती है ॥ ३८ ॥

उद्धाटयेत्कवाटं तु यथा कुञ्चिकया गृहम् । कुण्डलिन्यां तथा योगी मोक्षद्वारं प्रभेदयेत् ॥ ३९ ॥

कुंजी के द्वारा जिस तरह से घर का किवाड़ (ताला) खोलते हैं, उसी प्रकार कुण्डलिनी के द्वारा योगी लोग मुक्ति का द्वार खोल लेते हैं ॥ ३९ ॥

कृत्वा संपुटितौ करौ दृढतरं बध्वा तु पद्मासनं गाढं वक्षसि संनिधाय चुबुकं ध्यानं च तच्छेष्टितम् ।
वारंवारमपानमूर्ध्वमनिलं प्रोच्चारयेत्पूरितं मुञ्चन्प्राणमुपैति बोधमतुलं शक्तिप्रभावान्नरः ॥ ४० ॥

दृढतापूर्वक पद्मासन लगाकर हाथों को ऊपर-नीचे गोदी में रखकर सम्पुटित करे, पुनः सिर नीचा करके ठोड़ी को छाती से लगाये, इसके बाद ब्रह्म में ध्यान को एकाग्र करके, बार-बार श्वास को भीतर खींचे और बाहर निकाले। प्राणवायु अन्दर ले जाए और अपान वायु ऊपर ले जाए। इस तरह प्राणायाम करने से मनुष्य को अतुल शक्ति की अनुभूति होती है ॥ ४० ॥

अङ्गानां मर्दनं कृत्वा श्रमसंजातवारिणा । कट्वम्ललवणत्यागी क्षीरभोजनमाचरेत् ॥ ४१ ॥

इस प्रकार प्राणायाम के अभ्यास के श्रम से जो पसीना निकलता है, उसे शरीर में ही मसल लेना चाहिए तथा नमकीन, खट्टे, कडुके पदार्थों का परित्याग करना चाहिए और दूध एवं दूध से बने भोजन का विशेष रूप से प्रयोग करना चाहिए ॥ ४१ ॥

ब्रह्मचारी मिताहारी योगी योगपरायणः । अब्दादूर्ध्वं भवेत्सिद्धो नात्र कार्या विचारणा ॥ ४२ ॥

ब्रह्मचारी और मिताहार वाला योगी यदि योग के अभ्यास में लग जाए, तो एक वर्ष में ही योग की सिद्धि प्राप्त कर लेगा, इसमें सन्देह नहीं करना चाहिए ॥ ४२ ॥

सुस्तिग्रहमधुराहारश्चतुर्थाशिववर्जितः । भुञ्जते शिवसंप्रीत्या मिताहारी स उच्यते ॥ ४३ ॥

योग के साधक को मधुर और स्त्रिग्रह भोजन ही लेना चाहिए, (आधा पेट भोजन, चौथाई पानी तथा) चौथाई भाग खाली रखे। इस प्रकार भगवान् को समर्पित करके जो भोजन करता है, उसे मिताहारी कहते हैं ॥ ४३ ॥
कन्दोर्ध्वे कुण्डलीशक्तिरष्ट्धा कुण्डलाकृतिः । बन्धनाय च मूढानां योगिनां मोक्षदा सदा ॥ ४४ ॥

आठ कुण्डलों वाली कन्द के ऊर्ध्वभाग में जो कुण्डलिनी शक्ति है, वह योगियों के लिए मोक्ष देने वाली तथा अज्ञानियों के लिए बन्धनकारक कही गई है ॥ ४४ ॥

महामुद्रा नभोमुद्रा ओड्याणं च जलन्धरम् । मूलबन्धं च यो वेत्ति स योगी मुक्तिभाजनम् ॥ ४५ ॥

 महामुद्रा, नभोमुद्रा, उड्डियान बन्ध, जालन्धर बन्ध और मूलबन्ध को जो जानता है, वह योगी मुक्ति को प्राप्त करता है ॥ ४५ ॥

पार्षिधातेन संपीड्य योनिमाकुञ्छयेददृढम् । अपानमूर्ध्वमाकृष्य मूलबन्धो विधीयते ॥ ४६ ॥

एड़ी से दबाव डालकर योनि (सीवन) स्थान को पीड़ित करते हुए दृढ़तापूर्वक संकुचित करे, अपान वायु को ऊपर की ओर खींचने की इस प्रक्रिया को मूलबन्ध कहा जाता है ॥ ४६ ॥

अपानप्राणयोरैक्यं क्षयान्मूत्रपुरीषयोः । युवा भवति वृद्धोऽपि सततं मूलबन्धनात् ॥ ४७ ॥

इस प्रकार प्राण और अपान को एक में मिलाया जाता है, इससे मल-मूत्र कम हो जाता है। इस प्रकार मूलबन्ध का अभ्यास करने से वृद्ध भी युवा हो जाता है ॥ ४७ ॥

ओड्याणं कुरुते यस्मादविश्रान्तं महाखगः । ओड्डियाणं तदेव स्यान्मृत्युमातङ्गकेसरी ॥ ४८ ॥

महापक्षी (गिर्द आदि) जिस प्रकार विश्राम के लिए (आकाश में अत्यधिक ऊँचे) उड़ते हैं, उसी तरह उड्डियान बन्ध का अभ्यास मृत्यु रूपी हाथी को पछाड़ने के लिए सिंह के समान है। (बड़े पक्षियों को एक विशेष प्रकार से उड़ने में विश्राम प्राप्त होता है, जिससे उन्हें शक्ति प्राप्त हो जाती है।) ॥ ४८ ॥

उदरात्पश्चिमं ताणमधोनाभेनिंगद्यते । ओड्याणमुदरे बन्धस्तत्र बन्धो विधीयते ॥ ४९ ॥

पेट को नाभि के नीचे तानना अर्थात् खींचना पश्चिमोत्तान कहलाता है। वहाँ पेट में यह उड्डियान बंध भी किया जाता है ॥ ४९ ॥

बधाति हि शिरोजातमधोगामि नभोजलम् । ततो जालन्धरो बन्धः कष्टदुःखौघनाशनः ॥ ५० ॥

जो शरीर में नीचे की ओर प्रवहमान आकाश-जल (खेचरी मुद्रा द्वारा क्षरित होने वाला) को शिरोभाग में रोककर रखता है, उसे जालन्धर बंध कहते हैं, यह दुःखों और कष्टों का नाश कर देता है ॥ ५० ॥
जालन्धरे कृते बन्धे कण्ठसंकोचलक्षणे । न पीयूषं पतत्यग्ने न च वायुः प्रधावति ॥ ५१ ॥

जालन्धर बंध में सामने की ओर सिर झुकाकर गले से नीचे ठोड़ी को हृदय से स्पर्श करना होता है। इस से अमृत न तो अग्रि की ओर गिरता है और न वायु की ओर गमन करता है, स्थिर हो जाता है ॥ ५१ ॥
कपालकुहरे जिह्वा प्रविष्टा विपरीतगा । भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुद्रा भवति खेचरी ॥ ५२ ॥

दृष्टि को दोनों भौंहों के मध्य स्थित करे एवं जीभ को गले की ओर पीछे लौटाकर कपाल कुहर (गले के मध्य तालु) में प्रवेश कराये, इस प्रकार की क्रिया को खेचरी मुद्रा कहते हैं ॥ ५२ ॥
न रोगो मरणं तस्य न निद्रा न क्षुधा तृष्णा । न च मूर्च्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥ ५३ ॥

जो खेचरी मुद्रा को जानता और साधना करता है उसे रोग, मरण, भूख-प्यास और मूर्छा आदि से छुटकारा प्राप्त हो जाता है ॥ ५३ ॥

पीड्यते न च रोगेण लिप्यते न स कर्मभिः । बाध्यते न च केनापि यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥५४॥

खेचरी मुद्रा जानने वाला न तो रोग से कष्ट पाता है और न कर्मों में ही उसकी आसक्ति होती है तथा उसके पास तक कोई विघ्न भी नहीं पहुँच पाते ॥ ५४ ॥

चित्तं चरति खे यस्माञ्जिह्वा चरति खे यतः । तेनेयं खेचरी मुद्रा सर्वसिद्धनमस्तुता ॥ ५५ ॥

जिसकी साधना करने से चित्त और जिह्वा आकाश में विचरण करते हैं, उस खेचरी मुद्रा को सभी सिद्ध लोग प्रणाम करते हैं ॥ ५५ ॥

बिन्दुमूलशरीराणि शिरास्तत्र प्रतिष्ठिताः । भावयन्ती शरीराणि आपादतलमस्तकम् ॥ ५६ ॥

सिर से लेकर पैर तक शरीर के सभी अंगों का जिनके द्वारा पोषण होता है, उन सभी शिराओं का मूल बिन्दु खेचरी मुद्रा ही है ॥ ५६ ॥

खेचर्या मुद्रितं येन विवरं लम्बिकोर्ध्वतः । न तस्य क्षीयते बिन्दुः कामिन्यालिङ्गितस्य च ॥ ५७ ॥

खेचरी मुद्रा के द्वारा जिस साधक ने जीभ के ऊपर कपाल कुहर को ढक लिया है, उस साधक का रमणी के आलिंगन से भी बिन्दुपात नहीं हो सकता ॥ ५७ ॥

यावद्विन्दुः स्थितो देहे तावन्मृत्युभयं कुतः । यावद्वद्धा नभोमुद्रा तावद्विन्दुर्न गच्छति ॥ ५८ ॥

जब तक साधक ने खेचरी मुद्रा को बाँध रखा है, तब तक बिन्दु नहीं जाता है और जब तक शरीर में बिन्दु स्थित है, तब तक मृत्यु का क्या भय है ? ॥ ५८ ॥

ज्वलितोऽपि यथा बिन्दुः संप्राप्तश्च हुताशनम् । व्रजत्यूर्ध्वं गतः शक्त्या निरुद्धो योनिमुद्रया ॥ ५९ ॥

यदि जाज्वल्यमान अग्नितत्त्व में बिन्दुपात भी हो जाये, तो उसको योनिमुद्रा के द्वारा बलपूर्वक रोका और ऊर्ध्वगामी बनाया जा सकता है ॥ ५९ ॥

स पुनर्द्विविधो बिन्दुः पाण्डरो लोहितस्तथा । पाण्डरं शुक्लमित्याहुलोहिताख्यं महारजः ॥ ६० ॥

सफेद और लाल दो वर्ण (रंग) का बिन्दु होता है। श्वेत को शुक्ल (शुक्र) नाम दिया गया तथा लाल को महारज कहा गया है ॥ ६० ॥

सिन्दूव्रातसंकाशं रविस्थानस्थितं रजः । शशिस्थानस्थितं शुक्लं तयोरैक्यं सुदुर्लभम् ॥ ६१ ॥

सिन्दू के समान ज्योतित रविस्थान में रज का निवास स्थान है तथा चन्द्रस्थान में शुक्ल का निवास स्थान है। शुक्ल और रज का संयोग बड़ा कठिन होता है ॥ ६१ ॥

बिन्दुर्ब्रह्मा रजः शक्तिर्बिन्दुरिन्दु रजो रविः । उभयोः सङ्गमादेव प्राप्यते परमं पदम् ॥ ६२ ॥

बिन्दु ब्रह्मारूप है तथा रज शक्तिस्वरूप है, बिन्दु चन्द्ररूप और रज सूर्यरूप है। इन दोनों का योग (मिलन) होने से ही परमपद की प्राप्ति होती है ॥ ६२ ॥

वायुना शक्तिचालेन प्रेरितं च यथा रजः । याति बिन्दुः सदैकत्वं भवेदिव्यवपुस्तदा ॥ ६३ ॥

जब वायु (प्राणायाम) से शक्तिचालिनी मुद्रा के द्वारा गमनशील रज बिन्दु से एकाकार हो जाता है, तब शरीर दिव्य हो जाता है ॥ ६३ ॥

शुक्लं चन्द्रेण संयुक्तं रजः सूर्येण संगतम् । तयोः समरसैकत्वं यो जानाति स योगवित् ॥ ६४ ॥

रज का संयोग सूर्य में और शुक्ल (शुक्र) का संयोग चन्द्र में जिस प्रकार होता है, उस विषय को और दोनों के एकाकार होने को जानने वाला साधक योगवेत्ता कहा जाता है ॥ ६४ ॥

शोधनं नाडिजालस्य चालनं चन्द्रसूर्ययोः । रसानां शोषणं चैव महामुद्राभिधीयते ॥ ६५ ॥

जिस साधना के द्वारा नाड़ी-समूह का शोधन किया जाता है तथा सूर्य-चन्द्र को चलाया जाता है एवं रस का शोषण किया जाता है, उसे 'महामुद्रा' कहते हैं ॥ ६५ ॥

वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य सुचिरं योनिं च वामाङ् ग्रिणा हस्ताभ्यामनुधारयन्प्रसरितं पादं तथा दक्षिणम् । आपूर्य श्वसनेन कुक्षियुगलं बध्वा शनै रेचयेत्सेयं व्याधिविनाशिनी सुमहती मुद्रा नृणां कथ्यते ॥ ६६ ॥

बायें पैर से योनि स्थान पर दबाव डालते हुए, ठोढ़ी को छाती से लगाये और दायाँ पैर सीधा फैलाकर दोनों हाथों से पैर की अङ्गुलियों सहित पैर पकड़कर दोनों कुक्षियों अर्थात् पेट में पूरा श्वास भरकर धीरे-धीरे बाहर निकाले। यह महामुद्रा की क्रिया समस्त प्रकार की व्याधियों को नष्ट करती है ॥ ६६ ॥

चन्द्रांशेन समभ्यस्य सूर्याशेनाभ्यसेत्पुनः या तुल्या तु भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् ॥ ६७ ॥

अभ्यास क्रम में सर्वप्रथम बायीं नासिका 'चन्द्रांश' से श्वास खींचकर रेचन करते हुए अभ्यास करे, फिर दायीं नासिका 'सूर्यांश' से श्वास खींचकर रेचन का अभ्यास करना चाहिए। जब दोनों स्वर (चन्द्र-सूर्य) समान हो जाएँ, तब अभ्यास बन्द करना चाहिए ॥ ६७ ॥

नहि पथ्यमपथ्यं वा रसाः सर्वेऽपि नीरसाः । अतिभुक्तं विषं घोरं पीयूषमिव जीर्यते ॥ ६८ ॥

इस 'महामुद्रा' के करने से पथ्य-अपथ्य अथवा सभी तरह का नीरस भोजन सरस हो जाता है। भोजन अधिक कर लेने पर तथा विष भी खा लेने पर वह अमृत के समान पच जाता है ॥ ६८ ॥

क्षयकुष्ठगुदावर्तगुल्माजीर्णपुरोगमाः । तस्य रोगाः क्षयं यान्ति महामुद्रां तु योऽभ्यसेत् ॥ ६९ ॥

इस महामुद्रा के अभ्यास करने वाले साधक को इसके प्रभाव से क्षय, कुष्ठ, गुदावर्त (भगन्दर), गुल्म (तिली बढ़ना), अजीर्ण आदि एवं भविष्य में होने वाले सभी रोगों से छुटकारा मिल जाता है ॥ ६९ ॥

कथितेयं महामुद्रा महासिद्धिकरी नृणाम् । गोपनीया प्रयत्नेन न देया यस्य कस्यचित् ॥ ७० ॥

यह महामुद्रा साधकों को महासिद्धि देने वाली है, इसको हर किसी को (अनधिकारी को) नहीं बताना चाहिए, प्रयत्नपूर्वक गुप रखना चाहिए ॥ ७० ॥

पद्मासनं समारुद्ध्य समकायशिरोधरः । नासाग्रदृष्टिरेकान्ते जपेदोंकारमव्ययम् ॥ ७१ ॥

एकान्त स्थान में पद्मासन लगाकर कमर से सिर तक शरीर को सीधा करके नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि को जमाकर अव्यय प्रणव (ॐ) का जप करना चाहिए ॥ ७१ ॥

ॐ नित्यं शुद्धं बुद्धं निर्विकल्पं निरञ्जनं निराख्यातमनादिनिधनमेकं तुरीयं यद्वृतं भवद्विष्टत् परिवर्तमानं सर्वदाऽनवच्छिन्नं परं ब्रह्म तस्माज्ञाता परा शक्तिः स्वयंज्योतिरात्मिका । आत्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्व्ययः पृथिवी । एतेषां पञ्चभूतानां पतयः पञ्च सदाशिवेश्वररुद्रविष्णुब्रह्माणश्चेति । तेषां ब्रह्मविष्णुरुद्राश्चोत्पत्ति-स्थितिलयकर्तारः । राजसो ब्रह्मा सात्त्विको विष्णुस्तामसो रुद्र इति एते त्रयो गुणयुक्ताः । ब्रह्मा देवानां प्रथमः संबभूव । धाता च सृष्टौ विष्णुश्च स्थितौ रुद्रश्च नाशे भोगाय चेन्द्रः प्रथमजा बभूवः । एतेषां ब्रह्माणो लोका देवतिर्यङ्गनरस्थावराश्च जायन्ते । तेषां मनुष्यादीनां पञ्चभूतसमवायः शरीरम् । ज्ञानकर्मन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्राणादिपञ्चवायुमनोबुद्धिचित्ताहंकारैः स्थूलकल्पितैः सोऽपि स्थूलप्रकृतिरित्युच्यते । ज्ञानकर्मन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्राणादिपञ्चवायुमनोबुद्धिभिश्च

सूक्ष्मस्थोऽपि लिङ्गमेवेत्युच्यते । गुणत्रययुक्तं कारणम् । सर्वेषामेवं त्रीणि शरीराणि वर्तन्ते । जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिरीयाश्चेत्यवस्थाश्वतस्वः तासामवस्थानामधिपतयश्चत्वारः पुरुषा विश्वतैजस-प्राज्ञात्मानश्चेति । विश्वो हि स्थूलभुद्दनित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक् । आनन्दभुक्तथा प्राज्ञः सर्वसाक्षीत्यतः परः ॥ ७२ ॥

ॐ निरंजन, निर्विकल्प, नामरहित, शुद्ध, बुद्ध, नित्य, अनादिनिधन (शाश्वत), एक, तुरीय, भूत, भविष्यत्, वर्तमान में एक रस रहने वाले परब्रह्म से स्वयं प्रकाशरूपी पराशक्ति प्रकट हुई । आत्मा (परमात्मा) से आकाश प्रकट हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी प्रकट हुई । सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु और ब्रह्मा ये पाँच देवता इन पाँच महाभूतों के पाँच स्वामी हैं । इसमें ब्रह्माजी उत्पत्ति करने वाले, विष्णु पालन करने वाले तथा रुद्र संहार करने वाले हैं । सतोगुणरूप विष्णु, रजोगुणरूप ब्रह्मा, तमोगुणरूप रुद्र हैं । देवताओं में पहले ब्रह्माजी की उत्पत्ति हुई । सृष्टि की उत्पत्ति के लिए ब्रह्मा, सृष्टि के पालन अर्थात् विकास करने के लिए विष्णु, सृष्टि के विनाश के लिए रुद्र, भोगों के लिए इन्द्र की उत्पत्ति सर्वप्रथम हुई । लोक, देव, तिर्यक्, नर और स्थावर इन सबकी उत्पत्ति ब्रह्माजी के द्वारा हुई । उनमें मनुष्य आदि का शरीर पञ्चभूतों के संयोग से बनता है । ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, ज्ञान के विषय, प्राण आदि पंच वायु, मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार (अपेक्षाकृत) स्थूल रचना होने से (इनके मूल कारण को) स्थूल प्रकृति कहा जाता है । कर्मेन्द्रिय, ज्ञानेन्द्रिय, ज्ञान के विषय (शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध), पंचवायु, मन और बुद्धि को सूक्ष्म (लिंग) शरीर कहा जाता है । कारण शरीर तीन गुणों से युक्त है । स्थूल, सूक्ष्म और कारण ये तीन शरीर सबके होते हैं । जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय चार अवस्थाएँ होती हैं, तैजस, प्राज्ञ, विश्व और आत्मा ये चार पुरुष इन सब (अवस्थाओं) के अधिपति हैं । विश्व स्थूल का नित्य भोग करने वाला है, तैजस एकान्त का भोग करने वाला है, प्राज्ञ आनन्द का भोगने वाला है और सबका साक्षी (आत्मा) इससे परे कहा जाता है ॥ ७२ ॥

प्रणवः सर्वदा तिष्ठेत्सर्वजीवेषु भोगतः । अभिरामस्तु सर्वासु ह्यवस्थासु ह्यधोमुखः ॥ ७३ ॥

सर्वव्यापी प्रणव (परमात्मा) जीवों की सभी आनन्दमय अवस्थाओं के भोग के समय अधोमुख अर्थात् उदासीन होकर रहता है ॥ ७३ ॥

अकार उकारो मकारश्चेति त्रयो वर्णस्त्रयो वेदास्त्रयो लोकास्त्रयो गुणास्त्रीण्यक्षराणि त्रयः स्वरा एवं प्रणवः प्रकाशते । अकारो जाग्रति नेत्रे वर्तते सर्वजन्तुषु । उकारः कण्ठतः स्वप्ने मकारो हृदि सुसितः ॥ ७४ ॥

(प्रणव ३० कार में निहित) तीन अक्षर 'अ' कार, 'उ' कार एवं 'म' कार तीन वेद, तीन लोक, तीन गुण, तीन अक्षर और तीन स्वर के रूप में प्रणव (ओंकार ही) प्रकाशमान है । 'अ' कार समस्त जीवधारियों के जाग्रत् अवस्था में नेत्रों में निवास करता है, सोते समय 'उ' कार कण्ठ में निवास करता है और 'म' कार सुषुप्ति अवस्था में हृदय प्रदेश में निवास करता है ॥ ७४ ॥

विराङ्गविश्वः स्थूलश्चाकारः । हिरण्यगर्भस्तैजसः सूक्ष्मश्च उकारः । कारणाव्याकृतप्राज्ञश्च मकारः । अकारो राजसो रक्तो ब्रह्मा चेतन उच्यते । उकारः सात्त्विकः शुक्लो विष्णुरित्यभिधीयते ॥ ७५ ॥
मकारस्तामसः कृष्णो रुद्रश्चेति तथोच्यते । प्रणवात्प्रभवो ब्रह्मा प्रणवात्प्रभवो हरिः ॥ ७६ ॥
प्रणवात्प्रभवो रुद्रः प्रणवो हि परो भवेत् । अकारे लीयते ब्रह्मा ह्यकारे लीयते हरिः ॥ ७७ ॥
मकारे लीयते रुद्रः प्रणवो हि प्रकाशते । ज्ञानिनामूर्धर्वगो भूयादज्ञाने स्यादधोमुखः ॥ ७८ ॥
एवं वै प्रणवस्तिष्ठेद्यस्तं वेद स वेदवित् । अनाहतस्वरूपेण ज्ञानिनामूर्धर्वगो भवेत् ॥ ७९ ॥

यह स्थूल विराट विश्व 'अ' कार ही है, सूक्ष्म तेजस्वी हिरण्यगर्भ के रूप में 'उ' कार कहा जाता है और 'म' कार अव्याकृत (अप्रकट) कारण प्राज्ञ कहा जाता है। 'अ' कार की प्रकृति राजसी, वर्ण लाल है, उसे सृष्टि-कर्ता ब्रह्म कहा गया है। 'उ' कार की प्रकृति सात्त्विक, वर्ण श्वेत है, उसे पालनकर्ता विष्णु कहा गया है। 'म' कार की प्रकृति तामस, वर्ण कृष्ण है, उसे संहारकर्ता रुद्र कहा गया है, इस तरह ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र की उत्पत्ति का कारण प्रणव (ॐ) ही कहा गया है। प्रणव ही सबका अनादि कारण परतत्त्व है। 'अ' कार में सृष्टिकर्ता ब्रह्म समाहित हैं, उकार में विष्णु समाहित हैं तथा मकार में रुद्र समाहित हैं। एकमात्र प्रणव ही (सर्वत्र) प्रकाशमान रहता है। यह प्रणव ज्ञानी मनुष्यों में ऊर्ध्वमुख एवं अज्ञानी मनुष्यों में अधोमुख वाला कहा गया है। इस प्रकार सर्वत्र समरूप से प्रणव (ॐ कार) ही प्रतिष्ठित है, इसको इस प्रकार से जो जानता है, वही वेदविद् है। ज्ञानी साधकों में यह प्रणव अनाहत रूप से ऊर्ध्वगति वाला होता है॥ ७५-७९॥

तैलधारामिवाच्छिन्नं दीर्घघण्टानिनादवत् । प्रणवस्य ध्वनिस्तद्वृत्तदग्रं ब्रह्म चोच्यते ॥ ८० ॥

तैलधारवत् अविच्छिन्न, घण्टा के गम्भीर स्वर की तरह प्रणव (ओंकार) की ध्वनि वाला अनाहत नाद होता है, जिसका मूल 'ब्रह्म' कहा जाता है॥ ८० ॥

ज्योतिर्मयं तदग्रं स्यादवाच्यं बुद्धिसूक्ष्मतः । ददुशुर्ये महात्मानो यस्तं वेद स वेदवित् ॥ ८१ ॥

महापुरुषों के द्वारा सूक्ष्म बुद्धि से जानने योग्य प्रणव का वह अग्रभाग (मूल) प्रकाशमय और वाणी से परे है, इस प्रकार से जानने वाला महात्मा ही वेदविद् है॥ ८१ ॥

जाग्रन्नेत्रद्वयोर्मध्ये हंस एव प्रकाशते । सकारः खेचरी प्रोक्तस्त्वंपदं चेति निश्चितम् ॥ ८२ ॥

हकारः परमेशः स्यात्तत्पदं चेति निश्चितम् । सकारो ध्यायते जन्तुर्हकारो हि भवेद्धथुवम् ॥ ८३ ॥

दोनों नेत्रों के बीच जाग्रत् अवस्था में हंस ज्योतित रहता है। 'स' कार खेचरी के रूप में कहा गया है, जो निश्चित रूप से 'त्वं' का स्वरूप है। 'ह' कार पद परमात्मा का द्योतक है, जो निश्चित रूप से 'तत्' पद के रूप में है। जो भी प्राणी 'स' कार का ध्यान करता है, वह निश्चित रूप से 'ह' कार रूप हो जाता है। यही सोऽहम् और तत्त्वमसि की साधना है॥ ८२-८३॥

[ऋषि यहाँ 'सोऽहम्' और 'तत् त्वम्' बोध वाक्यों की समानता-एकरूपता प्रदर्शित कर रहे हैं। साधक जब तात्त्विक दृष्टि से 'स्व' की ओर देखता है, तो 'सोऽहमस्मि' का बोध करता है तथा जब बाहर की ओर उसी दृष्टि से देखता है, तो तत्त्वमसि का अनुभव करता है।]

इन्द्रियैर्बध्यते जीव आत्मा चैव न बध्यते । ममत्वेन भवेजीवो निर्ममत्वेन केवलः ॥ ८४ ॥

जीव को इन्द्रियाँ बन्धन में बाँधती हैं, आत्मा को इन्द्रियाँ नहीं बाँध सकती हैं। जब तक ममता होती है, वह जीव रहता है, ममता के बन्धन समाप्त हो जाने पर कैवल्य रूप हो जाता है॥ ८४ ॥

भूर्भुवः स्वरिमे लोकाः सोमसूर्याग्निदेवताः । यस्य मात्रासु तिष्ठन्ति तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८५ ॥

सूर्य, चन्द्र और अग्नि देवता एवं भूः, भुवः, स्वः लोक जिसकी मात्राओं में स्थित रहते हैं, वह परम प्रकाशरूप ओंकार है॥ ८५ ॥

क्रिया इच्छा तथा ज्ञानं ब्राह्मी रौद्री च वैष्णवी । त्रिधा मात्रास्थितिर्यत्र तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८६ ॥

परम प्रकाशमान ओंकार की तीन मात्राओं में क्रिया, इच्छा और ज्ञान तथा ब्राह्मी, रौद्री एवं वैष्णवी शक्तियाँ विराजमान हैं॥ ८६ ॥

वचसा तज्जपेन्नित्यं वपुषा तत्समध्यसेत् । मनसा तज्जपेन्नित्यं तत्परं ज्योतिरोमिति ॥ ८७ ॥

सदैव वाणी से उसका जप करे तथा शरीर से उसी के प्रति आचरण करना चाहिए। मन से उसी का जप करते हुए उसी परमप्रकाशरूप ओंकार में स्थिर हो जाए॥ ८७ ॥

शुचिर्वाप्यशुचिर्वापि यो जपेत्प्रणवं सदा । न स लिप्यति पापेन पद्मपत्रमिवाभ्यसा ॥ ८८ ॥

पवित्र या अपवित्र किसी भी अवस्था में ओंकार का जप करने वाला पाप-पंक में नहीं फँसता, संसार में वह जल से अलिस पद्मपत्र की तरह निर्लिपि बना रहता है ॥ ८८ ॥

चले वाते चलो बिन्दुर्निश्चले निश्चलो भवेत् । योगी स्थाणुत्वमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत् ॥ ८९ ॥

जब तक वायु चलती रहेगी, तब तक बिन्दु भी चलायमान होगा, वायु के स्थिर हो जाने पर योगी स्थिरता (निश्चलता) को प्राप्त हो जाता है। इसलिए वायु की स्थिरता (प्राणायाम) का अभ्यास करना चाहिए ॥ ८९ ॥
यावद्वायुः स्थितो देहे तावज्जीवो न मुञ्चति । मरणं तस्य निष्क्रान्तिस्ततो वायुं निरुन्धयेत् ॥ ९० ॥

शरीर में जब तक वायु विद्यमान है, तब तक शरीर में जीव स्थिर रहेगा। शरीर से वायु निकल जाना ही मृत्यु है, इस कारण वायु का निरोध (प्राणायाम) करना चाहिए ॥ ९० ॥

यावद्वद्वद्वो मरुत् देहे तावज्जीवो न मुञ्चति । यावद्दृष्टिर्भुवोर्मध्ये तावत्कालभयं कुतः ॥ ९१ ॥

जीव शरीर से तब तक नहीं निकल सकता, जब तक शरीर में वायु आबद्ध (स्थित) है, जो व्यक्ति दोनों भृकुटियों के बीच में दृष्टि को स्थिर रखता है, वह काल को जीत लेता है, उसे काल का भय कैसा? ॥ ९१ ॥
अल्पकालभयाद्वह्ना प्राणायामपरो भवेत् । योगिनो मुनयश्वैव ततः प्राणान्निरोधयेत् ॥ ९२ ॥

ब्रह्मा भी अल्प काल के भय से (अल्पायु से) मुक्ति पाने के लिए प्राणायाम करते हैं। इसलिए प्राण का निरोध करने के लिए योगियों और मुनियों को प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए ॥ ९२ ॥

षड्विंशदद्वुलिर्हसः प्रयाणं कुरुते बहिः । वामदक्षिणमार्गेण प्राणायामो विधीयते ॥ ९३ ॥

यह प्राण हंस रूप है, जो श्वास के माध्यम से छब्बीस अंगुल बाहर आता है। प्राणायाम नासिका के दोनों छिद्रों अर्थात् बायें-दायें मार्ग से करना चाहिए ॥ ९३ ॥

शुद्धिमेति यदा सर्वं नाडीचक्रं मलाकुलम् । तदैव जायते योगी प्राणसंग्रहणक्षमः ॥ ९४ ॥

सभी प्रकार के मलों से नाड़ी चक्र के शुद्ध हो जाने पर योगी प्राणों का निरोध करने (प्राणायाम-सिद्ध होने) में समर्थ हो जाता है ॥ ९४ ॥

बद्धपद्मासनो योगी प्राणं चन्द्रेण पूरयेत् । धारयेद्वा यथाशक्त्या भूयः सूर्येण रेचयेत् ॥ ९५ ॥

योग का अभ्यास करने के लिए बद्ध पद्मासन लगाकर चन्द्र नाड़ी (बायें स्वर) के द्वारा वायु को भीतर खींचे-पूरक करे, पुनः कुछ समय भीतर रोके-कुम्भक करे, फिर सूर्य नाड़ी (दायें स्वर) के द्वारा रेचन करे अर्थात् बाहर निकाले ॥ ९५ ॥

अमृतोदधिसंकाशं गोक्षीरधवलोपमम् । ध्यात्वा चन्द्रमसं बिम्बं प्राणायामे सुखी भवेत् ॥ ९६ ॥

प्राणायाम के समय अमृत समुद्र से निकले हुए गो-दुर्घ के समान श्वेत वर्ण के चन्द्रबिम्ब का ध्यान करने से साधक सुखी होता है ॥ ९६ ॥

स्फुरत्पञ्चलसंज्वालापूज्यमादित्यमण्डलम् । ध्यात्वा हृदि स्थितं योगी प्राणायामे सुखी भवेत् ॥

पुनः हृदयकमल में स्थित प्रज्वलित ज्वालासदृश भगवन् सूर्य के ध्यान के साथ प्राणायाम करना योगी के लिए सुखदायी होता है ॥ ९७ ॥

प्राणं चेदिङ्गया पिबेन्नियमितं भूयोऽन्यथा रेचयेत्पीत्वा पिङ्गलया समीरणमथो बद्धवा त्यजेद्वायामया । सूर्याचन्द्रमसोरनेन विधिना बिन्दुद्वयं ध्यायतः शुद्धा नाडिगणा भवन्ति यमिनो मासद्वयादूर्ध्वर्तः ॥ ९८ ॥

प्राणायाम में सर्वप्रथम इड़ा नाड़ी अर्थात् बायें स्वर से श्वास खींचे (पूरक करे)। पुनः पिंगला नाड़ी अर्थात् दायें स्वर से श्वास का रेचन करे (पुनः इसके विपरीत करे)। इस प्रकार प्राणायाम करते समय चन्द्र और सूर्य दोनों का पूर्व वर्णित तरीके से ध्यान का अभ्यास करने पर मात्र दो महीने में नाड़ीशोधन हो जाता है ॥ ९८ ॥
यथेष्ठधारणं वायोरनलस्य प्रदीपनम् । नादाभिव्यक्तिरारोग्यं जायते नाडिशोधनात् ॥ ९९ ॥

'नाड़ीशोधन प्राणायाम' करने से नाड़ी शुद्ध होने पर वायु को यथेष्ठ धारण करने की क्षमता प्राप्त हो जाती है तथा आरोग्य के लाभ के साथ जठराग्नि प्रबल हो जाती है और दिव्यनाद सुनाई पड़ने लगता है ॥ ९९ ॥

प्राणो देहस्थितो यावदपानं तु निरुन्धयेत् । एकश्वासमयी मात्रा ऊर्ध्वाधो गगने गतिः ॥ १०० ॥

प्राणायाम में कुंभक की स्थिति में जब तक वायु भीतर रुकी रहे, तब तक अपान वायु को भी रोके रखे। इस प्रकार हृदयाकाश में एक श्वास की मात्रा ऊपर और नीचे गमनशील होती है ॥ १०० ॥

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः प्रणवात्मकः । प्राणायामो भवेदेवं मात्राद्वादशसंयुतः ॥ १०१ ॥

प्राणायाम की पूरक, कुम्भक और रेचक ये तीनों क्रियाएँ साक्षात् प्रणव का ही रूप हैं (इस चिन्तन के साथ) द्वादश मात्रायुक्त प्राणायाम करना चाहिए ॥ १०१ ॥

मात्राद्वादशसंयुक्तौ दिवाकरनिशाकरौ । दोषजालमबध्नन्तौ ज्ञातव्यौ योगिभिः सदा ॥ १०२ ॥

सूर्य और चन्द्र का यह द्वादश मात्रा वाला प्राणायाम साधक के सभी दोषों को समाप्त कर देता है ॥ १०२ ॥

पूरकं द्वादशं कुर्यात्कुम्भकं षोडशं भवेत् । रेचकं दश चोंकारः प्राणायामः स उच्यते ॥ १०३ ॥

पूरक में द्वादश मात्रा, कुम्भक में षोडश मात्रा और रेचक में दस मात्रा के प्राणायाम को ओंकार प्राणायाम कहा जाता है ॥ १०३ ॥

अथमे द्वादश मात्रा मध्यमे द्विगुणा प्रोक्ता प्राणायामस्य निर्णयः ॥ १०४ ॥

यह प्राणायाम द्वादश मात्रा का सामान्य कोटि का, इससे दुगुनी मात्रा का मध्यम स्तर का और उसकी तिगुनी अर्थात् छत्तीस मात्रा का प्राणायाम उत्तम कोटि का होता है ॥ १०४ ॥

अथमे स्वेदजननं कम्पो भवति मध्यमे । उत्तमे स्थानमाप्नोति ततो वायुं निरुन्धयेत् ॥ १०५ ॥

अधम अर्थात् सामान्य प्राणायाम पसीना लाने वाला होता है, मध्यम प्राणायाम में शरीर काँपने लगता है तथा उत्तम कोटि के प्राणायाम में शरीर आसन से ऊपर उठने लगता है, इसलिए इसी तरह का प्राणायाम करना चाहिए ॥ १०५ ॥

बद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम् । नासाग्रदृष्टिरेकाकी प्राणायामं समर्थ्यसेत् ॥ १०६ ॥

योग का अभ्यास करने के लिए एकान्त में बद्धपदमासन लगाकर बैठे और शिवस्वरूप गुरु को नमस्कार करके नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि जमाकर प्राणायाम का अभ्यास करना चाहिए ॥ १०६ ॥

द्वाराणां नव संनिरुद्ध्य मरुतं बध्वा दृढां धारणां नीत्वा कालमपानवह्निसहितं शक्त्या समं चालितम् । आत्मध्यानयुतस्त्वनेन विधिना विन्यस्य मूर्धि स्थिरं यावत्तिष्ठति तावदेव महतां सङ्गो न संस्तूयते ॥ १०७ ॥

जिन नव द्वारों से वायु का गमनागमन होता है, उनका निरोध करके वायु को रोके और अपान को अग्नि से मिलाकर ऊर्ध्वगामी बनाकर शक्तिचालिनी मुद्रा द्वारा कुण्डलिनी मार्ग से दृढ़तापूर्वक ऊपर मस्तिष्क में आत्मा के ध्यान के साथ स्थापित करे। जब तक यह स्थिर रहे, तब तक वह (अन्य) महापुरुष की संगति नहीं चाहता अर्थात् वह स्वयं सर्वश्रेष्ठ हो जाता है ॥ १०७ ॥

प्राणायामो भवेदेवं पातकेन्थनपावकः । भवोदधिमहासेतुः प्रोच्यते योगिभिः सदा ॥ १०८ ॥

संसार-सागर से मुक्ति के लिए यह प्राणायाम महासेतु के सदृश है और पाप रूपी ईंधन को जलाने वाले अग्नि की तरह है, ऐसा योगियों द्वारा प्रायः कहा जाता है ॥ १०८ ॥

आसनेन रुजं हन्ति प्राणायामेन पातकम् । विकारं मानसं योगी प्रत्याहारेण मुञ्चति ॥ १०९ ॥

योग के आसनों से (शारीरिक) रोग समाप्त होते हैं, प्राणायाम करने से पापों का विनाश होता है तथा प्रत्याहार करने से मानसरोग (विकार) समाप्त होते हैं ॥ १०९ ॥

धारणाभिर्मनोर्धैर्य याति चैतन्यमद्बुतम् । समाधौ मोक्षमाप्नोति त्यक्त्वा कर्म शुभाशुभम् ॥ ११० ॥

योग की धारणाशक्ति द्वारा योगी का मन धैर्यवान् बनता है, समाधि से जीव के शुभाशुभ कर्म समाप्त हो जाते हैं तथा मुक्ति मिल जाती है ॥ ११० ॥

प्राणायामद्विषट्केन प्रत्याहारः प्रकीर्तिः । प्रत्याहारद्विषट्केन जायते धारणा शुभा ॥ १११ ॥

धारणा द्वादशं प्रोक्तं ध्यानं योगविशारदैः । ध्यानद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥ ११२ ॥

बारह बार प्राणायाम करने से प्रत्याहार की स्थिति बनती है तथा बारह बार इसी तरह प्रत्याहार करने से शुभफलदात्री धारणा की सिद्धि होती है। इसी प्रकार धारणा की द्वादश आवृत्ति पर ध्यान बनता है तथा द्वादश बार ध्यान होने पर समाधि अवस्था प्राप्त होती है, ऐसा योग के विशारदों का मत है ॥ १११-११२ ॥

यत्समाधौ परंज्योतिरनन्तं विश्वतोमुखम् । तस्मिन्दृष्टे क्रियाकर्म यातायातो न विद्यते ॥ ११३ ॥

समाधि की स्थिति में साधक परमप्रकाशरूप अनन्त विश्वतोमुख अर्थात् सर्वत्र समभाव प्राप्त कर लेता है, इस स्थिति को प्राप्त होने पर न तो कुछ करना शेष रहता है, न किये हुए कर्म मनुष्य को बन्धन में डालते हैं, इससे आवागमन से छुटकारा मिल जाता है ॥ ११३ ॥

संबद्धासनमेद्रमङ्ग्ययुगलं कर्णाक्षिनासापुटद्वाराद्यङ्गुलिभिर्नियम्य पवनं वक्त्रेण वा पूरितम् । बध्वा वक्षसि बहूपानसहितं मूर्ध्णस्थिरं धारयेदेवं याति विशेषतत्त्वसमतां योगीश्वरास्तन्मनाः ॥

दोनों पैर की एड़ियों को मेद्र अर्थात् सीवन स्थान में लगाकर आसन में दृढ़तापूर्वक बैठे, तत्पश्चात् आँख, कान एवं नाक को अङ्गुलियों से बन्द करे और मुँह से वायु खींचे। पुनः नीचे से अपान वायु को ऊर्ध्वगामी बनाए, फिर दोनों वायुओं को हृदय प्रदेश में रोके। पुनः ऊर्ध्वगामी बनाकर मस्तिष्क में स्थिर करके मन को उसी में लगाए, इस क्रिया से योगियों को विशेष समत्वभाव प्राप्त होता है ॥ ११४ ॥

गगनं पवने प्राप्ते ध्वनिरुत्पद्यते महान् । घण्टादीनां प्रवाद्यानां नादसिद्धिरुदीरिता ॥ ११५ ॥

ऊपर और नीचे दोनों ओर से गतिशील वायु जब आकाशमण्डल (हृदय प्रदेश) में स्थिर होती है, तब साधक को महान् ध्वनि सुनाई पड़ने लगती है, घण्टा आदि वायों की तरह ध्वनि सुनाई पड़ती है तथा नादयोग की सिद्धि होती है ॥ ११५ ॥

प्राणायामेन युक्तेन सर्वरोगक्षयो भवेत् । प्राणायामवियुक्तेभ्यः सर्वरोगसमुद्धवः ॥ ११६ ॥

विधिवत् प्राणायाम के अभ्यास से सभी प्रकार के रोगों से मुक्ति मिलती है। प्राणायाम के न करने से यह शरीर रोगों का उत्पत्तिस्थान बना रहता है ॥ ११६ ॥

हिक्का कासस्तथा श्वासः शिरःकर्णाक्षिवेदनाः । भवन्ति विविधा रोगाः पवनव्यत्ययक्रमात् ॥

वायु के विकृत होने के कारण ही खाँसी, श्वास, हिचकी, सिर, कान, आँख की पीड़ा होती है और नाना प्रकार के रोग पैदा होते हैं ॥ ११७ ॥

यथा सिंहो गजो व्याघ्रो भवेद्वश्यः शनैः शनैः । तथैव सेवितो वायुरन्यथा हन्ति साधकम् ॥११८॥

हाथी, सिंह, व्याघ्र आदि हिंस्र पशु जिस प्रकार से धीरे-धीरे अभ्यास के द्वारा वश में होते हैं, उसी तरह प्राणवायु को शनैः-शनैः अभ्यास के द्वारा वश में करे। यदि साधक ऐसा नहीं कर पाता है, तो उसका विनाश हो जाता है ॥११८॥

युक्तंयुक्तं त्यजेद्वायुं युक्तंयुक्तं प्रपूरयेत् । युक्तंयुक्तं प्रबश्नीयादेवं सिद्धिमवाप्यात् ॥ ११९ ॥

समुचित तरीके से प्राणवायु को खींचे, समुचित तरीके से प्राणवायु को बाहर निकाले तथा समुचित तरीके से ही प्राणवायु को रोकने से सिद्धि प्राप्त होती है ॥११९॥

चरतां चक्षुरादीनां विषयेषु यथाक्रमम् । तत्प्रत्याहरणं तेषां प्रत्याहारः स उच्यते ॥ १२० ॥

आँख आदि इन्द्रियों अपने-अपने विषयों की ओर भागती हैं, उनको वहाँ से रोकना (और इष्ट साधना में लगाना) प्रत्याहार कहा जाता है ॥१२०॥

यथा तृतीयकाले तु रविः प्रत्याहरेत्प्रभाम् । तृतीयाङ्गस्थितो योगी विकारं मानसं हरेत् ॥
इत्युपनिषत् ॥ १२१ ॥

जैसे-जैसे तृतीय प्रहर (सायंकाल) होता जाता है, वैसे ही सूर्य अपने प्रकाश को समेटता जाता है और सायंकाल को पूरी तरह समेट लेता है, ठीक उसी प्रकार योगी अपनी साधना का स्तर बढ़ाते हुए (तीन अवस्था, तीन गुण, तीन शरीर से आगे बढ़ते हुए) जब अपने तृतीयांग (उच्च योग के तृतीयांग-समाधि) में स्थित हो जाता है, तो वह अपने मन के समस्त विकारों का शमन कर लेता है। यही उपनिषद् (रहस्य विद्या) है ॥१२१॥

ॐ आप्यायन्तु इति शान्तिः ॥

॥ इति योगचूडामण्युपनिषत्समाप्ता ॥



॥ योगराजोपनिषद् ॥

यह योगपरक उपनिषद् है। इसके नाम से ही स्पष्ट है कि यह योगपरक उपनिषदों में श्रेष्ठ है, तभी इसे 'योगराज' संज्ञा प्रदान की गई है। इसमें कुल २१ मन्त्र हैं, जिसमें योग विषयक सिद्धान्तों को बड़े सरल शब्दों में व्याख्यायित किया गया है। सर्वप्रथम चार योगों-मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग एवं राजयोग का उल्लेख है। इसके बाद योग के प्रमुख चार अंगों-आसन, प्राणसंरोध (प्राणायाम), ध्यान तथा समाधि का विवेचन है। पुनः ९ चक्रों (ब्रह्मचक्र, स्वाधिष्ठानचक्र, नाभिचक्र, हृदयचक्र, कण्ठचक्र, तालुकाचक्र, भ्रूचक्र, ब्रह्मरन्ध्रचक्र, व्योमचक्र) का वर्णन तथा उनमें ध्यान करने की प्रक्रिया का उल्लेख है। अन्त में चक्रों के ध्यान की फलश्रुति बताते हुए उपनिषद् को पूर्णता प्रदान की गई है।

योगराजं प्रवक्ष्यामि योगिनां योगसिद्धये। मन्त्रयोगो लयश्चैव राजयोगो हठस्तथा ॥ १ ॥

अब योगियों के योग-सिद्धि के लिए मन्त्रयोग, लययोग, हठयोग एवं राजयोग इन चार प्रकार वाले योग से युक्त योगराज उपनिषद् का वर्णन करते हैं ॥ १ ॥

योगश्चतुर्विधः प्रोक्तो योगिभिस्तत्त्वदर्शिभिः। आसनं प्राणसंरोधो ध्यानं चैव समाधिकः ॥ २ ॥

योग के तत्त्वदर्शियों ने योग को आसन, प्राणसंरोध, ध्यान तथा समाधिरूप चार प्रकार का कहा है ॥ एतत्तुष्टयं विद्धि सर्वयोगेषु सम्मतम्। ब्रह्मविष्णुशिवादीनां मन्त्रं जाप्यं विशारदैः ॥ ३ ॥

ये चारों सर्वयोग-सम्मत कहे गये हैं । विद्वज्जन ब्रह्मा, विष्णु एवं शिव के मन्त्रों का जप करें ॥ ३ ॥

साध्यते मन्त्रयोगस्तु वत्सराजादिभिर्यथा। कृष्णद्वैपायनाद्यैस्तु साधितो लयसंज्ञितः ॥ ४ ॥

मन्त्रयोग को सिद्ध करने वाले वत्सराज आदि हैं एवं लययोग को व्यासादि ने सिद्ध किया ॥ ४ ॥

नवस्वेव हि चक्रेषु लयं कृत्वा महात्मभिः। प्रथमं ब्रह्मचक्रं स्यात् त्रिग्रावृत्तं भगाकृति ॥ ५ ॥

नौ प्रकार के चक्रों में लय करके महात्मा लोग योग की सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं । तीन बार आवृत्त (घिरा हुआ) 'भग' (त्रिकोण) की आकृति का प्रथम चक्र है, जिसको ब्रह्मचक्र कहा गया है ॥ ५ ॥

अपाने मूलकन्दाख्यं कामरूपं च तज्जगुः। तदेव वह्निकुण्डं स्यात् तत्त्वकुण्डलिनी तथा ॥ ६ ॥

अपान के स्थान में कामरूपी मूलकन्द स्थित है, उसको ही अग्नि कुण्ड एवं तत्त्व कुण्डलिनी कहा है ॥ ६ ॥ तां जीवरूपिणीं ध्यायेज्योतिष्ठं मुक्तिहेतवे। स्वाधिष्ठानं द्वितीयं स्याच्यक्रं तत्त्वमध्यं विदुः ॥ ७ ॥

उस ज्योतिस्वरूप जीवरूपिणी का मुक्ति की कामना से ध्यान करना चाहिए। उसी के मध्य में स्वाधिष्ठान नाम का दूसरा चक्र विद्वानों ने कहा है ॥ ७ ॥

पश्चिमाभिमुखं लिङ्गं प्रवालाङ्कुरसन्निभम्। तत्रोद्रीयाणपीठेषु तं ध्यात्वाकर्षयेज्जगत् ॥ ८ ॥

प्रवालाङ्कुर (रक्त वर्ण के अंकुर) के समान प्रकाशमान पश्चिमाभिमुख एक लिङ्ग स्थित है। वहाँ उद्रीयाणपीठ (स्वाधिष्ठान चक्र) के अन्तर्गत उस (प्रकाशमान अंकुर) का ध्यान करते हुए संसार का आकर्षण करे ॥ ८ ॥ तृतीयं नाभिचक्रं स्यात्तत्त्वमध्ये तु जगत् स्थितम्। पश्चावर्ता मध्यशक्तिं चिन्तयेद्विद्युदाकृति ॥ ९ ॥

तृतीय चक्र नाभि चक्र है, उसके अन्दर संसार की स्थिति कही गयी है। उसके मध्य में पाँच आवृत्ति वाली विद्युत् के समान शक्ति का चिन्तन (ध्यान) करना चाहिए ॥ ९ ॥

तां ध्यात्वा सर्वसिद्धीनां भाजनं जायते बुधः। चतुर्थं हृदये चक्रं विज्ञेयं तदधोमुखम् ॥ १० ॥

उसका ध्यान करके विद्वान् पुरुष समस्त सिद्धियों को प्राप्त कर लेता है। चतुर्थ चक्र नीचे की ओर मुँह किये हृदय में स्थित है, ऐसा जानना चाहिए ॥ १० ॥

ज्योतीरूपं च तत्त्वमध्ये हंसं ध्यायेत् प्रयततः। तं ध्यायतो जगत् सर्वं वश्यं स्यान्नात् संशयः ॥ ११ ॥

उसके मध्य में प्रकाश के रूप में हंस का ध्यान प्रयत्नपूर्वक करना चाहिए। उसका ध्यान करने से सारा संसार वशीभूत हो जाता है, इसमें किसी प्रकार का संशय नहीं करना चाहिए ॥ ११ ॥

पञ्चमं कण्ठचक्रं स्यात् तत्र वामे इडा भवेत् । दक्षिणे पिङ्गला ज्ञेया सुषुम्ना मध्यतः स्थिता ॥ १२ ॥

पञ्चम चक्र कण्ठचक्र कहा गया है, उसके वाम भाग में इडा, दक्षिण भाग में पिङ्गला एवं मध्य में सुषुम्ना की स्थिति कही गई है ॥ १२ ॥

तत्र ध्यात्वा शुचि ज्योतिः सिद्धीनां भाजनं भवेत् । षष्ठं च तालुकाचक्रं घण्टिकास्थान मुच्यते ॥

वहाँ पर (कण्ठचक्र में) पवित्र प्रकाश का ध्यान करने से समस्त सिद्धियाँ मिल जाती हैं। छठा 'तालुका' चक्र कहा गया है, जिसे घण्टिका स्थान भी कहते हैं ॥ १३ ॥

दशमद्वारमार्गं तद्राजदन्तं च तज्जगुः । तत्र शून्ये लयं कृत्वा मुक्तो भवति निश्चितम् ॥ १४ ॥

उसे दसवें द्वार का मार्ग एवं राजदन्त भी कहा जाता है। वहाँ पर शून्य में (मन को) लय करने से मनुष्य निश्चित रूप से मुक्ति प्राप्त कर लेता है ॥ १४ ॥

भूचक्रं सप्तमं विद्याद्विन्दुस्थानं च तद्विदुः । भ्रुवोर्मध्ये वर्तुलं च ध्यात्वा ज्योतिः प्रमुच्यते ॥ १५ ॥

सप्तम 'भ्रु' चक्र है, उसे विद्या एवं बिन्दुस्थान भी कहते हैं। योगीजन भ्रुकुटि-मध्य में गोलाकार ज्योति का ध्यान करके मुक्ति प्राप्त कर लेते हैं ॥ १५ ॥

अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रं स्यात् परं निर्वाणसूचकम् । तं ध्यात्वा सूतिकाग्रामं धूमाकारं विमुच्यते ॥ १६ ॥

परम निर्वाण का सूचक आठवाँ चक्र 'ब्रह्मरन्ध्र' कहा जाता है। धूम्रवर्ण वाले उस सूतिका ग्राम अर्थात् उद्गमस्थान का ध्यान करके योगी मुक्ति को प्राप्त कर लेता है ॥ १६ ॥

तत्त्वं जालन्धरं ज्ञेयं मोक्षदं नीलचेतसम् । नवमं व्योमचक्रं स्यादश्रौः षोडशभिर्युतम् ॥ १७ ॥

उस नीलवर्ण वाले मोक्षदाता को जालन्धर (जालन्धरपीठ) समझना चाहिए। नौवाँ चक्र सोलह दल वाला व्योमचक्र कहा गया है ॥ १७ ॥

संविद्ब्रूयाच्य तन्मध्ये शक्तिरुद्धा स्थिता परा । तत्र पूर्णा गिरौ पीठे शक्तिं ध्यात्वा विमुच्यते ॥ १८ ॥

उस षोडशदलचक्र के मध्य में जो पराशक्ति अवरुद्ध (स्थित) है, उसे संविद् कहना चाहिए। वहाँ (उस चक्र के मध्य में) पूर्णागिरिपीठ में पूर्णशक्ति का ध्यान करके साधक मुक्ति प्राप्त कर लेता है ॥ १८ ॥
एतेषां नवचक्राणामेकैकं ध्यायतो मुनेः । सिद्धयो मुक्तिसहिताः करस्थाः स्युर्दिने दिने ॥ १९ ॥

जो साधक ऊपर वर्णित इन नौ चक्रों में से क्रमशः एक-एक का ध्यान करता है, उसे मुक्ति के सहित समस्त सिद्धियाँ प्रतिदिन प्राप्त होती जाती हैं ॥ १९ ॥

एको दण्डद्वयं मध्ये पश्यति ज्ञानचक्षुषा । कदम्बगोलकाकारं ब्रह्मलोकं व्रजन्ति ते ॥ २० ॥

अपने ज्ञाननेत्र से जो साधक कदम्ब के गुच्छक के समान गोलाकार चक्र के मध्य में दो दण्डों का दर्शन करते हैं, वे ब्रह्मलोक प्राप्त कर लेते हैं ॥ २० ॥

ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन अधःशक्तेर्निकुञ्जनात् । मध्यशक्तिप्रबोधेन जायते परमं सुखं जायते परमं सुखम् ॥ २१ ॥

ऊर्ध्वशक्ति के निपात से एवं अधःशक्ति को संकुचित करने से तथा मध्य की शक्ति को जाग्रत् कर देने से परमसुख प्राप्त हो जाता है। यह निश्चित है ॥ २१ ॥

॥ इति योगराजोपनिषत् समाप्ता ॥



॥ राधोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् ऋग्वेदीय परम्परा से सम्बन्धित है। यह सनकादि ऋषियों एवं हिरण्यगर्भ ब्रह्माजी के बीच प्रश्नोत्तर रूप में प्रस्तुत हुई है। सर्वप्रथम सनकादिक ऋषियों ने परमदेव और परमशक्ति कौन हैं? ऐसा प्रश्न ब्रह्माजी से किया, जिसके उत्तर में उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण को सर्वप्रथम देवता और श्रीराधा को उनकी अन्तरंगभूता सर्वश्रेष्ठ शक्ति कहा है। भगवान् कृष्ण द्वारा आराधित होने से ही उनका नाम 'राधिका' पड़ा। तदुपरान्त 'राधा' की महिमामयी शक्तियों का विवेचन है। आगे राधाजी के २८ नामों का उल्लेख है, जिसके पाठ से- चिन्तन-मनन से व्यक्ति के जीवन्मुक्त हो जाने की बात कही गई है। अन्त में राधाशक्ति को लीलाशक्ति कहते हुए अवतार प्रक्रिया में उनकी प्रधान भूमिका स्वीकारी गई है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाऽमे इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अक्षमालिकोपनिषद्)

ओमथोर्ध्वं पञ्चिन ऋषयः सनकाद्या भगवन्तं हिरण्यगर्भमुपासित्वोचुः देवः कः परमो देवताः का वा तच्छक्तयः तासु च का वरीयसी भवतीति सृष्टिभूता च केति । स होवाच हे पुत्रका: शृणुतेदं ह वाव गुह्याद् गुह्यतरमप्रकाशयं यस्मै कस्मै न देयम् । स्त्रिग्राधाय ब्रह्मवादिने गुरुभक्ताय, देयमन्यथा दातुर्महदवस्थीत । कृष्णो ह वै हरिः परमो देवः षड्विधैश्वर्यैः परिपूर्णो भगवान् गोपीगोपसेव्यो वृन्दाऽराधितो वृन्दावनादिनाथः स एकः सर्वेश्वरः । तस्य ह वै द्वैततत्त्वं नारायणोऽखिल ब्रह्माण्डाधिपतिरेकः प्रकृतेः प्राचीनो नित्यः । एवं हि तस्य शक्तयस्त्वनेकथा । आह्लादिनीसन्धिनीज्ञानेच्छाक्रियाद्याबहुविधः शक्तयः । तास्वाह्लादिनी वरीयसी परमान्तरङ्गभूता राधा कृष्णोन आराध्यत इति राधा कृष्णं समाराध्यति सदेति राधिका गान्धर्वैति व्यपदेश्यत इति । येयं राधा यश्च कृष्णो रसाभ्यर्थेहैनैकः क्रीडानार्थं द्विधाभूत् ॥ १ ॥

हिरण्यगर्भ ब्रह्माजी की प्रार्थना करके एक बार ऊर्ध्वरीता सनकादि ऋषियों ने उनसे प्रश्न किया कि हे भगवन्! परमदेव कौन हैं? कौन-कौन सी उनकी शक्तियाँ हैं? सभी शक्तियों में कौन सी शक्ति सबसे उत्तम एवं सृष्टि का आदि कारण है? ब्रह्माजी बोले कि हे पुत्रो! सुनो, अब मैं अति गोपनीय रहस्य को तुमसे कहता हूँ, परन्तु इसके जानने का हर व्यक्ति अधिकारी नहीं है, जो गुरुभक्त न हो, ब्रह्मचारी न हो एवं स्नेहरहित हो, उन्हें इसको बताने से पाप लगता है। भगवान् श्रीकृष्ण ही सर्वप्रधान देवता हैं। षड्वैश्वर्ययुक्त उन भगवान् श्रीकृष्ण की गोप एवं गोपी सदैव सेवा किया करते हैं। वृन्दा द्वारा आराधना किये जाने वाले वे वृन्दावनअधीश्वर ही एकमात्र सर्वेश्वर हैं। उनका एक रूप श्रीनारायण है, जो समस्त जगत् के अधीश्वर हैं। वे प्रकृति से परे और नित्य हैं। उन सर्वेश्वर श्रीकृष्ण की आह्लादिनी, सन्धिनी, ज्ञान, इच्छा, क्रिया आदि अनेक शक्तियाँ हैं। इनमें आह्लादिनी सबसे मुख्यशक्ति है। यही कृष्ण की सबसे अधिक अंतरंगभूता 'श्रीराधा' कही जाती हैं। भगवान् कृष्ण के द्वारा आराधित होने के कारण इन्हें राधिका भी कहते हैं। कृष्ण इनके आराध्यदेव हैं। इनको गांधर्वा भी कहते हैं। व्रज की समस्त गोपियाँ श्रीकृष्ण की सभी पटरानियाँ और श्रीलक्ष्मी जी, श्रीराधिका जी की अंशभूता हैं। इस रस-समुद्ररूपी भगवान् श्रीकृष्ण ने क्रीड़ा करने के लिए अपने आपको दो रूपों में विभक्त कर रखा है ॥ १ ॥

[यहाँ भगवान् कृष्ण की 'वृन्दा' द्वारा आराधना किए जाने तथा 'राधा' को गान्धर्वा, सनातनी विद्या, प्राणों की अधिष्ठात्री आदि संज्ञाओं से विभूषित किए जाने का विशिष्ट अर्थ में प्रयोग हुआ है। वृन्दा का तात्पर्य 'वृन्द-समूह' से है, ईश्वरीय चेतना (कृष्ण) सामूहिक प्रार्थना से अधिक प्रभावित होती है। उस चेतना की अन्तरंग शक्ति राधा (राधोत्ति साधयति कार्याणि)-साधकों के कार्यों को सिद्ध करने वाली है, गान्धर्वा (गां) पृथ्वी, किरण, इन्द्रिय आदि

को धारण करने वाली शक्ति है, इसी कारण उसे सनातनी विद्या, प्राणों की अधिष्ठात्री आदि भी कहा गया है। 'राधा' के अनेकानेक नामों एवं विशेषणों को इसी परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए, तभी उसका सही अर्थ प्राप्त किया जा सकेगा।]

एषा वै हेरेः सर्वेश्वरी सर्वविद्या सनातनी कृष्णप्राणाधिदेवी चेति, विवित्ते वेदाः स्तुवन्ति, यस्या गतिं, वकुं न चोत्सहे सर्वं यस्य प्रसीदति तस्य करतलावकलितम्परमधामेति । एतामवज्ञाय यः कृष्णमाराधितुमिच्छति, स मूढतमो मूढतमश्वेति ॥ २ ॥

श्रीराधिका जी सर्वेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण की सर्वेश्वरी शक्ति एवं उनकी समस्त विद्याओं में सनातनी विद्या एवं प्राणों की अधिष्ठात्री देवी हैं। एकान्तभाव से चारों वेद उनकी प्रार्थना करते रहते हैं। इनकी गति को ब्रह्मज्ञानी ऋषि भी नहीं जान सकते। हे पुत्रो! मैं सम्पूर्ण आयुर्पर्यन्त यदि इनकी महिमा का गान करता रहूँ, तो भी उसका पार नहीं मिल सकता। श्रीराधाजी की कृपा जिस पर होती है, उसे सहज ही परमधाम प्राप्त हो जाता है। श्रीराधाजी को जाने बिना जो भगवान् श्रीकृष्ण की उपासना करता है, वह महामूढ़ों में भी मूढ़ है ॥ २ ॥

अथ हैतानि नामानि गायन्ति श्रुतयः । राधा रासेश्वरी रम्या कृष्णमन्त्राधिदेवता । सर्वाद्या सर्ववन्द्या च वृन्दावनविहारिणी । वृन्दाराध्या रमाऽशेषगोपीमण्डलपूजिता । सत्या सत्यपरा सत्यभामा श्रीकृष्णवल्लभा । वृषभानुसुता गोपी मूलप्रकृतीश्वरी । गान्धर्वा राधिका रम्या रुक्मिणी परमेश्वरी । परात्परतरा पूर्णा पूर्णचन्द्रनिभानना । भुक्तिमुक्तिप्रदा नित्यं भवव्याधिविनाशिनी इत्येतानि नामानि यः पठेत् स जीवन्मुक्तो भवति । इत्याह हिरण्यगर्भो भगवानिति ॥३ ॥

श्रीराधाजी के इन नामों का गुणगान श्रुतियाँ करती रहती हैं— १. राधा २. रासेश्वरी ३. रम्या ४. कृष्णमन्त्राधिदेवता ५. सर्वाद्या ६. सर्ववन्द्या ७. वृन्दावनविहारिणी ८. वृन्दाराध्या ९. रमा १०. अशेषगोपीमण्डलपूजिता ११. सत्या १२. सत्यपरा १३. सत्यभामा १४. श्रीकृष्णवल्लभा १५. वृषभानुसुता १६. गोपी १७. मूलप्रकृति १८. ईश्वरी १९. गान्धर्वा २०. राधिका २१. रम्या २२. रुक्मिणी २३. परमेश्वरी २४. परात्परता २५. पूर्णा २६. पूर्णचन्द्रनिभानना २७. भुक्तिमुक्तिप्रदा २८. भवव्याधिविनाशिनी। ब्रह्माजी कहते हैं कि जो इन नामों का पाठ करता है, वह जीवन्मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

सन्धिनी तु धामभूषणशस्यासनादि मित्रभृत्यातिरूपेण परिणत मृत्युलोकावतरणकाले मातृपितृरूपेण चाऽसीदित्यनेकावतारकारणज्ञानशक्तिस्तु क्षेत्रज्ञशक्तिरिति इच्छाभूता मायासत्त्वरजस्तमोमयी बहिरङ्गा जगत्कारणभूता सैवाविद्यारूपेण जीवबन्धनभूता क्रियाशक्तिस्तु लीलाशक्तिरिति । य इमामुपनिषदमधीते सोऽव्रती व्रती भवति, स वायुपूतो भवति, स सर्वपूतो भवति, राधाकृष्णप्रियो भवति स यावच्यक्षुः पातं पंक्तिं पुनाति ॥ ४ ॥

भगवान् के मृत्युलोक में अवतार लेने के समय सन्धिनीशक्ति धाम, भूषण, शस्या, आसनादि, मित्र-भृत्यादि तथा उनके माता-पिता के रूप में परिणत हो जाती है। यह शक्ति ही भगवान् के अवतारों का कारण कही जाती है। ज्ञानशक्ति ही क्षेत्रज्ञ शक्ति है तथा मायाशक्ति, इच्छाशक्ति में अन्तर्निहित है। यह शक्ति जगत् की कारणभूता सत, रज, तम के रूप में बहिरङ्ग होने के कारण जड़ कही जाती है। अविद्या के रूप में जीव को बन्धन में डालने के कारण माया कही गई है। इसलिए भगवान् की इस क्रियाशक्ति को ही लीलाशक्ति कहते हैं। जो इस उपनिषद् का पाठ करते हैं, वे अव्रती व्रती हो जाते हैं, वायु के समान पवित्र हो जाते हैं एवं सर्वत्र पवित्रता का संचार करने में समर्थ हो जाते हैं। श्रीकृष्ण और श्रीराधा के परम प्रिय हो जाते हैं। वे जहाँ भी जाते एवं दृष्टिपात करते हैं, वह क्षेत्र पवित्र हो जाता है ॥ ४ ॥

॥ इति राधोपनिषत्समाप्ता ॥



॥ रामपूर्वतापिन्युपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अर्थवेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। भगवान् 'राम' का तात्त्विक स्वरूप व्यक्त करने वाली है। इस उपनिषद् में पाँच प्रखण्ड हैं, उन्हें भी उपनिषद् संज्ञा प्रदान की गई है।

प्रथम उपनिषद् में सर्वप्रथम 'राम' शब्द का अर्थ प्रकट किया गया है। तदुपरान्त उपासक के लिए निर्विशेष रूप की कल्पना की गई है, पुनः मन्त्रजप और यन्त्रपूजन से 'राम' की प्रसन्नता का उल्लेख है। द्वितीय उपनिषद् में 'राम' बीज की सर्वात्मकता-सर्वव्यापकता का प्रतिपादन है। तृतीय उपनिषद् में सीता और राम के मन्त्र-यन्त्र की पूज्यता का कथन है। चतुर्थ उपनिषद् में क्रमशः षड्क्षर राममन्त्र का अर्थ, देवताओं द्वारा राम की स्तुति, रामचन्द्र के सिंहासनासीन वैभव, 'राम' यन्त्र लिखने का प्रकार, माला मन्त्र का उद्घार (मन्त्र का क्रमबद्ध क्रम) तथा यन्त्र की स्तुति का विवेचन है। अन्तिम पंचमोपनिषद् में भूतशुद्धि सहित पीठ (यन्त्रपीठ) की पूजा-अर्चना तथा भगवान् के ध्यानपूर्वक आवरण की पूजा का विधान उल्लिखित है। उपनिषद् का समापन भगवान् की प्रसन्नता से मोक्ष-प्राप्ति के अकाद्य सिद्धान्त के साथ किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-कृष्णोपनिषद्)

॥ प्रथमोपनिषद् ॥

चिन्मयेऽस्मिन्महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ । रघोः कुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थितः ॥१ ॥
 स राम इति लोकेषु विद्वद्द्विः प्रकटीकृतः । राक्षसा येन मरणं यान्ति स्वोद्रेकतोऽथवा ॥ २ ॥
 रामनाम भुवि ख्यातमभिरामेण वा पुनः । राक्षसान्मर्त्यरूपेण राहुर्मनसिंजं यथा ॥ ३ ॥
 प्रभाहीनांस्तथा कृत्वा राज्यार्हाणां महीभृताम् । धर्ममार्गं चरित्रेण ज्ञानमार्गं च नामतः ॥ ४ ॥
 तथा ध्यानेन वैराग्यमैश्वर्यं स्वस्य पूजनात् । तथा रात्यस्य रामाख्या भुवि स्यादथ तत्त्वतः ॥ ५ ॥
 रमन्ते योगिनोऽनन्ते नित्यानन्दे चिदात्मनि । इति रामपदेनासौ परं ब्रह्माभिधीयते ॥ ६ ॥

(अपनी प्रतिज्ञा के पालन हेतु) महाराज दशरथ के यहाँ सच्चिदानन्द महाविष्णु श्री हरि ने धरती पर अति प्रसिद्ध रघुवंश में जन्म लिया, विद्वानों द्वारा उनका नाम 'राम' रखा गया। जिनके द्वारा राक्षस अपने पाप कृत्यों से मरण को प्राप्त करते हैं, वे राम हैं। अथवा अपनी ही उत्त्रति से इस भूमण्डल पर वे राम नाम से प्रसिद्ध हुए तथा कुछ ने अभिराम (सबके मन को रञ्जन-आनन्द-देने वाले) होने से उन्हें राम स्वीकार किया। राहु के द्वारा चन्द्रमा को कान्तिहीन कर देने के समान ही राक्षसों को मानवरूप द्वारा कान्तिहीन करने से वे 'राम' हैं। कुछ के मतानुसार शासन प्राप्ति के पात्र राजाओं को अपने आदर्श चरित्र का प्रस्तुतीकरण करके वे धर्ममय पथ दर्शाते हैं, नाम का उच्चारण करने वालों को ज्ञानपथ की प्राप्ति कराते हैं। ध्यान से वैराग्य प्राप्ति तथा अपनी मूर्ति के पूजन से वैभव-सम्पदा प्रदान करते हैं, इसी से इस भूमण्डल पर 'राम' नाम से इनकी ख्याति रही होगी। वस्तुतः यथार्थ यही है कि जिस अनन्त, नित्यानन्दरूप, चिदरूप परमात्मा में योगीजन रमण करते हैं, वे परब्रह्म परमेश्वर ही 'राम' पद से जाने जाते हैं ॥ १-६ ॥

चिन्मयस्याद्वितीयस्य निष्कलस्याशरीरिणः । उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना ॥ ७ ॥

यद्यपि चिदरूप परमात्मा अद्वितीय, निष्कल और (पञ्चभौतिक) देह रहित हैं, लेकिन भक्तजनों की अभीष्ट सिद्धि हेतु निराकार ब्रह्म साकार रूप धारण करते हैं ॥ ७ ॥

रूपस्थानां देवतानां पुंस्यङ्गास्त्रादिकल्पना । द्विचत्वारिषडष्टानां दश द्वादश षोडश ॥ ८ ॥
अष्टादशामी कथिता हस्ताः शङ्खादिभिर्युताः । सहस्रान्तास्तथा तासां वर्णवाहनकल्पना ॥ ९ ॥
शक्तिसेनाकल्पना च ब्रह्मण्येवं हि पञ्चधा । कल्पितस्य शरीरस्य तस्य सेनादिकल्पना ॥ १० ॥

परमेश्वर स्वरूप में विद्यमान देवों की ही पुरुष, स्त्री, अङ्ग, अस्त्र आदि के रूप में कल्पना की गई है । परमेश्वर के विभिन्न साकार स्वरूपों में दो, चार, छः, आठ, दस, बारह, सोलह और अठारह हाथ तक कहे गये हैं । ये हाथ शङ्खादि से युक्त रहते हैं । विराटरूप धारण करने पर तो उनके सहस्रों हाथ हो जाते हैं । उन सभी विग्रहों के पृथक्-पृथक् वर्ण, वाहन आदि की कल्पना तथा अनेक तरह की शक्तियों और सेनाओं की भी कल्पना की जाती है । परब्रह्म में (विष्णु, शिव, दुर्गा, सूर्य और गणेश आदि के रूप में) पाँच प्रकार के शरीर तथा उन सबके निमित्त अलग-अलग सेना आदि की कल्पना है ॥ ८-१० ॥

ब्रह्मादीनां वाचकोऽयं मन्त्रोऽन्वर्थादिसंज्ञकः । जसव्यो मन्त्रिणा नैवं विना देवः प्रसीदति ॥ ११ ॥
क्रियाकर्मज्याकर्तृणामर्थं मन्त्रो वदत्यथ । मननात्वाणनामन्त्रः सर्ववाच्यस्य वाचकः ॥ १२ ॥

ब्रह्म से लेकर सम्पूर्ण जड़-चेतन तक का वाचक यह 'राम मन्त्र' अपने अर्थानुसार ही है । इसलिए इस मन्त्र में दीक्षित होकर इसका जप किये जाने पर भगवान् प्रसन्न होते हैं । अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि हेतु जो साधक मन्त्र का अनुष्ठान करते हैं, उनके प्रयोजन को मन्त्र बता देता है (प्रयोजन पूर्ति की सुनिश्चितता प्रकट करता है) । मनन और रक्षण करने से उसे मन्त्र कहते हैं, यह मन्त्र ही समस्त वाच्यों का वाचक है ॥ ११-१२ ॥
सोऽभयस्यास्य देवस्य विग्रहो यन्त्रकल्पना । विना यन्त्रेण चेत्यूजा देवता न प्रसीदति ॥ १३ ॥

वह (मन्त्र) अभयस्वरूप (निर्भयता प्रदान करने वाले) इस देव (रामरूप परब्रह्म) के विग्रह (स्वरूप) का 'यन्त्र' है । बिना यंत्र के यदि देवों की अर्चना की जाती है, तो देवता उससे प्रसन्न नहीं होते ॥ १३ ॥

॥ द्वितीयोपनिषद् ॥

स्वर्भूज्योतिर्मयोऽनन्तरूपी स्वेनैव भासते । जीवत्वेन समो यस्य सृष्टिस्थितिलयस्य च ॥ १ ॥
कारणत्वेन चिच्छक्त्या रजःसत्त्वतमोगुणैः । यथैव वटबीजस्थः प्राकृतश्च महान्द्रुमः ॥ २ ॥
तथैव रामबीजस्थं जगदेतच्चराचरम् । रेफारूढा मूर्तयः स्युः शक्तयस्तिस्त्र एव चेति ॥ ३ ॥

परब्रह्म स्वतः प्रादुर्भूत होते हैं, अतः 'स्वभू' कहे जाते हैं । अपने प्रकाश से ज्योतित रहने से वे ज्योतिर्मय हैं । वे साकार रूप होते हुए भी अनन्त हैं । वे अपनी ही शक्ति से प्रकाशमान हैं । अपनी चैतन्यशक्ति से वे ही सब प्राणियों में जीवरूप में स्थित हैं तथा सत, रज और तमोगुण द्वारा सम्पूर्ण संसार की उत्पत्ति, स्थिति और लय के निमित्त बनते हैं । जिस प्रकार वटवृक्ष के छोटे से बीज में प्राकृत महान् वटवृक्ष विद्यमान रहता है उसी प्रकार रामरूप बीज में यह चराचर जगत् स्थित है । ब्रह्मा, विष्णु और महेशरूप ये तीन मूर्तियाँ 'राम' के रकार पर अवस्थित हैं तथा सृष्टि, पालन और संहार की तीन प्रकार की शक्तियाँ (अथवा बिन्दु, नाद और बीज से उत्पन्न होने वाली रौद्री, ज्येष्ठा और वामा ये तीन प्रकार की शक्तियाँ) भी उसी में स्थित हैं ॥ १-३ ॥

॥ तृतीयोपनिषद् ॥

सीतारामौ तन्मयावत्र पूज्यौ जातान्याभ्यां भुवनानि द्विसप्त । स्थितानि च प्रहितान्येव तेषु
ततो रामो मानवो माययाऽधात् ॥ १ ॥ जगत्प्राणायात्मनेऽस्मै नमः स्यान्नमस्त्वैक्यं
प्रवदेत्प्रागगुणेनेति ॥ २ ॥

इस बीज मन्त्र (राम) में पूजनीय सीतारूप प्रकृति और रामरूप पुरुष विद्यमान हैं। इन्हीं से चौदह भुवनों का प्रादुर्भाव हुआ। ये भुवन इन दोनों पर ही अवलम्बित हैं तथा इन्हीं में ये विलीन भी होते हैं। भगवान् श्री राम ने (ही) मायाशक्ति से मानव देहरूप में स्वयं को अवतरित किया। विश्व के प्राणस्वरूप और विश्वात्मा रूप इन श्रीराम को नमस्कार है। नमस्कार के बाद गुणों से भी प्रादुर्भूत परब्रह्मरूप नमन योग्य श्रीराम के प्रति अपने एकीकरण के भाव को कहे (अर्थात् 'मैं ही श्रीराम ब्रह्म हूँ' ऐसा दृढ़निश्चय से आवाहन करे) ॥ १-२ ॥

॥ चतुर्थोपनिषद् ॥

जीववाची नमो नाम चात्मा रामेति गीयते । तदात्मिका या चतुर्थी तथा चायेति गीयते ॥ १ ॥
मन्त्रोऽयं वाचको रामो वाच्यः स्याद्योग एतयोः । फलदश्वैव सर्वेषां साधकानां न संशयः ॥ २ ॥
यथा नामी वाचकेन नाम्नो योऽभिमुखो भवेत् । तथा बीजात्मको मन्त्रो मन्त्रिणोऽभिमुखो भवेत् ॥

'नमः' यह पद जीव का वाचक और 'राम' यह पद आत्मा को प्रतिपादित करता है। राम के साथ जुड़ी हुई 'आय' (रामाय) रूपी चतुर्थी विभक्ति द्वारा जीव और चेतना के एकात्मभाव का वर्णन किया गया है। 'रामाय नमः' यह मन्त्र वाचक और 'राम' इसके वाच्य हैं, इन दोनों का सम्मिलन (अर्थात् मन्त्रजप के साथ भगवत्स्वरूप का ध्यान) सभी साधकों को अभीष्ट फल देने वाला है, इसमें संदेह की गुंजायश नहीं। जैसे जिसका नाम उच्चारित किया जाए, तो वह अपने नाम की पुकार सुनकर सम्मुख प्रस्तुत होता है, वैसे ही बीजात्मक मन्त्र द्वारा आवाहित किये जाने पर आराध्य राम मन्त्रजापक के सम्मुख आ जाते हैं ॥ १-३ ॥

बीजशक्तिं न्यस्मेदक्षवामयोः स्तनयोरपि । कीलो मध्ये विना भाव्यः स्ववाञ्छाविनियोगवान् ॥ ४ ॥

बीज और शक्ति (रां बीज और मां शक्ति) इनका दायें और बाएँ स्तन पर तथा कीलक (यं) का हृदय में न्यास करे। इसी के साथ साधक अपनी मनोवाञ्छित सिद्धि हेतु विनियोग करे ॥ ४ ॥

सर्वेषामेव मन्त्राणामेष साधारणः क्रमः । अत्र रामोऽनन्तरूपस्तेजसा वहिना समः ॥ ५ ॥

सभी मंत्रों की साधारणतया यही प्रक्रिया है। ध्यान-चिन्तन में भाव यही रहे कि भगवान् श्रीराम अनन्त रूप हैं और वे तेजस्विता में अग्नि के सदृश हैं ॥ ५ ॥

स त्वनुष्णागुविश्वश्वेदग्रीषोमात्मकं जगत् । उत्पन्नः सीतया भाति चन्द्रश्चन्द्रिकया यथा ॥ ६ ॥

श्रीराम जब सौम्यप्रभा वाली सीता जी से संयुक्त होते हैं, तो अग्रिषोमात्मक (पुरुष और स्त्री रूप) विश्व होता है। चन्द्रमा और चाँदनी के समान ही श्रीराम, सीता के साथ सुशोभित होते हैं ॥ ६ ॥

प्रकृत्या सहितः श्यामः पीतवासा जटाधरः । द्विभुजः कुण्डली रत्नमाली धीरो धनुर्धरः ॥ ७ ॥

प्रसन्नवदनो जेता धृष्टयष्टकविभूषितः । प्रकृत्या परमेश्वर्या जगद्योन्याङ्किताङ्कितभूत् ॥ ८ ॥

जिसका वर्ण श्याम, देह पर पीताम्बर धारण किये हुए, सिर जटाओं से सुशोभित, दो भुजाओं वाले, कानों में कुण्डल तथा कण्ठ रत्नों की मालाओं से विभूषित है, ऐसे भगवान् श्रीराम अपनी आह्वादप्रदा शक्ति सीता जी के साथ अतिशोभायमान हैं। वे स्वभाव से धीर-गम्भीर और धनुष को कन्धे पर धारण किये हुए हैं। मुख पर सदैव प्रसन्नता धारण किये हुए तथा संग्रामविजयी हैं। वे अणिमा आदि ऐश्वर्यभूता अष्टसिद्धियों से विभूषित हैं। विश्व की कारणभूता प्रकृतिरूपा भगवती सीता उनके वामाङ्ग में शोभा पा रही हैं ॥ ७-८ ॥

हेमाभया द्विभुजया सर्वालंकृतया चिता । श्रिष्ठः कमलधारिण्या पुष्टः कोसलजात्मजः ॥ ९ ॥
दक्षिणे लक्ष्मणेनाथ सधनुष्णाणिना पुनः । हेमाभेनानुजेनैव तथा कोणत्रयं भवेत् ॥ १० ॥

भगवती सीता सुवर्ण की प्रभा युक्त, दो भुजाओं वाली, सभी दिव्य अलंकारों से सुशोभित तथा हाथ में कमलपुष्प धारण किये हुए हैं। उन चिदानन्दरूपा शक्ति के निकट विराजमान श्रीराम अति हृष्ट-पुष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। दाहिने भाग में श्रीराम के अनुज गौर वर्ण वाले लक्ष्मण जी हाथ में धनुष-बाण लिए उपस्थित हैं। श्रीराम, लक्ष्मण और सीता जी के इस प्रकार विराजमान होने से एक त्रिकोण-सी आकृति बन जाती है ॥ ९-१० ॥

तथैव तस्य मन्त्रस्य यस्याणुश्च स्वडेन्तया । एवं त्रिकोणरूपं स्यात्तं देवा ये समाययुः ॥ ११ ॥

स्तुतिं चकुश्च जगतः पतिं कल्पतरौ स्थितम् । कामरूपाय रामाय नमो मायामयाय च ॥ १२ ॥

नमो वेदादिरूपाय ओङ्काराय नमो नमः । रमाधराय रामाय श्रीरामायात्ममूर्तये ॥ १३ ॥

जानकीदेहभूय रक्षोद्घाय शुभाङ्गिने । भद्राय रघुवीराय दशास्यान्तकरूपिणे ॥ १४ ॥

श्रीराम मन्त्र के 'राम' बीज की तरह ही उसके शेष भाग को प्रतिपादित किया जाता है। स्व अर्थात् 'राम' पद के चतुर्थ्यन्त रूप के साथ जीव अर्थात् 'नमः' पद के युक्त होने पर 'राम रामाय नमः' यह छः अक्षरों का मन्त्र विनिर्मित होता है। षडक्षर मन्त्र के सिद्ध होने की स्थिति में दो त्रिकोण बनते हैं। एक समय का कथा प्रसङ्ग है कि देवता, भगवान् श्रीराम के दर्शन हेतु पधारे। कल्पतरु के नीचे रत्नजटित सिंहासन पर प्रतिष्ठित जगत् के स्वामी श्रीरामजी की देवों ने इस प्रकार से स्तुति की—काम बीज 'कर्ली' और माया रूप बीज 'हीं' से समन्वित श्रीराम को नमन है। वेद के आदिकारणभूत ॐकार रूप श्रीराम को नमन है। रमारूप श्रीसीताजी के धारणकर्ता, आत्मरूप, नेत्रों को मनोहर लगने वाले श्रीराम को नमन है। श्रीजानकी की देह ही जिनके लिए आभूषणरूप है। जो असुरों का संहार करने वाले, मंगलमय विग्रहयुक्त, दशानन रावण के अन्त के लिए यमस्वरूप हैं, उन श्रीरघुवीर को हमारा नमन है ॥ ११-१४ ॥

रामभद्र महेष्वास रघुवीर नृपोत्तम । भो दशास्यान्तकास्माकं रक्षां देहि श्रियं च ते ॥ १५ ॥

हे रामभद्र! हे महान् धनुर्धारी! हे रघुवीर! हे नृपोत्तम! हे दशानन संहारक! आप हमारी रक्षा करें तथा अपने से जुड़ी ऐश्वर्य-सम्पदा हमें प्रदान करें ॥ १५ ॥

त्वमैश्वर्य दापयाथ संप्रत्याश्वरिमारणम् । कुर्विति स्तुत्य देवाद्यास्तेन सार्थं सुखं स्थिताः ॥ १६ ॥

हे राम! आप हमें वैभव प्रदान करें। श्रीराम द्वारा अरि (रूप खर नामक असुर) के संहार तक देवगण उपर्युक्त रीति से उनका स्तवन करके सुखपूर्वक उनके साथ विद्यमान रहे ॥ १६ ॥

स्तुवन्त्येवं हि ऋषयस्तदा रावण आसुरः । रामपलीं वनस्थां यः स्वनिवृत्त्यर्थमाददे ॥ १७ ॥

स रावण इति ख्यातो यद्वा रावाच्च रावणः । तदव्याजेनेक्षितुं सीतां रामो लक्ष्मण एव च ॥ १८ ॥

विचेरतुस्तदा भूमौ देवीं संदृश्य चासुरम् । हत्वा कबन्धं शबरीं गत्वा तस्याज्ञया तया ॥ १९ ॥

पूजितो वायुपुत्रेण भक्तेन च कपीश्वरम् । आहूय शंसतां सर्वमाद्यन्तं रामलक्ष्मणौ ॥ २० ॥

देवों की तरह ऋषिगण भी स्तुतिगान में संलग्न रहे। खर आदि असुरों के संहार के उपरान्त असुर वंशज रावण ने वन में आकर अपने विनाश हेतु रामपली सीता का हरण किया। वन में रहने वाली सीता का 'वन' से हरण किये जाने से उनका रावण नाम पड़ा ['राम' शब्द से 'रा' एवं 'वन' शब्द से 'वन' मिलाने पर 'रावण' नाम बनता है।] अथवा दूसरों को रुलाने से वे रावण कहे जाते हैं। (दशानन द्वारा कैलाश को उठाये जाने पर भगवान् शंकर ने कैलाश को अत्यधिक भारी बना दिया, उससे दबने पर) उन्होंने अत्यधिक रख (शोर) किया, इससे इनका नाम रावण प्रख्यात हुआ। सीता के चुराये जाने के बाद राम और लक्ष्मण उनकी खोज हेतु वन में घूमने लगे। कबन्ध असुर के उनके समक्ष उपस्थित होने पर उन्होंने उसका संहार किया तथा उसी के

निर्देशानुसार वे दोनों शबरी के आश्रम में गये। वहाँ शबरी ने उनका आदर-सत्कार किया। उसके बाद आगे बढ़ने पर उनकी वायुपुत्र भक्त हनुमान् से भेंट हुई, जिन्होंने कपीश्वर सुग्रीव को बुलाकर राम और लक्ष्मण से उनका मैत्री सम्बन्ध जोड़ा। दोनों भाइयों ने मित्र सुग्रीव से अपना आद्योपान्त समाचार बताया ॥ १७-२० ॥

स तु रामे शङ्कितः सन्प्रत्ययार्थं च दुन्दुभेः । विग्रहं दर्शयामास यो रामस्तमचिक्षिपत् ॥ २१ ॥

सप्त सालान्विभिद्याशु मोदते राघवस्तदा । तेन हष्टः कपीन्द्रोऽसौ सरामस्तस्य पत्तनम् ॥ २२ ॥

जगामागर्जदनुजो वालिनो वेगतो गृहात् । तदा वाली निर्जगाम तं वालिनमथाहवे ॥ २३ ॥

सुग्रीव ने श्रीराम की वीरता पर सन्देह किया और दुन्दुभि नाम वाले असुर का विकराल शरीर दिखाया। भगवान् राम ने दुन्दुभि के मृत शरीर को देखते-देखते सहज ही अति दूर फेंक दिया। उन्होंने अपने बाण से सात तालवृक्षों को तुरन्त छेद डाला, जिससे कपीश्वर सुग्रीव के सन्देह का निवारण होने के साथ-साथ उन्हें अति हर्ष की प्राप्ति हुई। इस प्रकार अपने मित्र सुग्रीव को आश्वस्त करके श्री राम ने भी प्रसन्नता अनुभव की। तत्पश्चात् भगवान् राम सुग्रीव की नगरी में पधारे, यहाँ आकर बाली के अनुज सुग्रीव ने बड़ी भयंकर ललकार लगाई, उनकी ओर ललकार को सुनकर बाली भी अतिवेग से घर से बाहर निकला ॥ २१-२३ ॥

निहत्य राघवो राज्ये सुग्रीवं स्थापयेत्ततः । हरीनाहूय सुग्रीवस्त्वाह चाशाविदोऽधुना ॥ २४ ॥

आदाय मैथिलीमद्य ददताश्वाशु गच्छत । ततस्तार हनुमानब्धि लङ्घां समाययो ॥ २५ ॥

श्री रघुवीर ने बाली का वध करके किञ्चिन्त्या के राजसिंहासन पर सुग्रीव को प्रतिष्ठित किया। तदुपरात् वानरराज सुग्रीव ने वानरों को बुलाकर कहा-हे वानर वीरो! तुमसे किसी देश की जानकारी छिपी नहीं है। तुम जल्दी से यहाँ से प्रस्थान करके सीता को आज ही खोज कर श्रीरामजी को सौंप दो। उसके बाद हनुमान् जी समुद्र को पार कर लंका में पहुँचे ॥ २४-२५ ॥

सीतां दृष्ट्वाऽसुरान्हत्वा पुरं दग्ध्वा तथा स्वयम् । आगत्य रामेण सह व्यवेदयत तत्त्वतः ॥ २६ ॥

वहाँ जाकर उन्होंने सीताजी के दर्शन किये, अनेक राक्षसों को मौत के घाट उतारा तथा लंका नगरी को फूँक डाला। इतना करके वे श्रीराम के पास लौट आये और सारा वृत्तान्त क्रमशः उनसे कहा ॥ २६ ॥

तदा रामः क्रोधस्त्वपी तानाहूयाथ वानरान् । तैः सार्थमादायास्त्राणि पुरीं लङ्घां समाययो ॥ २७ ॥

तब श्रीराम ने अतिक्रोध का प्रदर्शन किया। लंकापति रावण के प्रति आक्रोशयुक्त होकर वानर सेना को बुलाकर उन्हें साथ लेकर अस्त्र-शस्त्रों सहित लङ्घा पर चढ़ाई कर दी ॥ २७ ॥

तां दृष्ट्वा तदधीशेन सार्थं युद्धमकारयत् । घटश्रोत्रसहस्राक्षजिदभ्यां युक्तं तमाहवे ॥ २८ ॥

हत्वा विभीषणं तत्र स्थाप्याथ जनकात्मजाम् । आदायाङ्गस्थितां कृत्वा स्वपुरं तैर्जगाम सः ॥ २९ ॥

लंका की अच्छी तरह जाँच-पड़ताल करके श्रीराम ने लंकाधीश रावण के साथ युद्ध प्रारम्भ किया। इस धर्मयुद्ध में रावण के भाई कुम्भकरण और उनके पुत्र मेघनाद सहित रावण का उन्होंने संहार किया। तत्पश्चात् विभीषण का राज्याभिषेक करके उन्हें लंका का राजा नियुक्त किया और जनकनन्दिनी को अपने वामभाग में बिठाकर वानरों के साथ अपनी नगरी अयोध्या की ओर प्रस्थान किया ॥ २८-२९ ॥

ततः सिंहासनस्थः सन् द्विभुजो रघुनन्दनः । धनुर्धरः प्रसन्नात्मा सर्वाभरणभूषितः ॥ ३० ॥

मुद्रां ज्ञानमयीं याप्ये वामे तेजः प्रकाशिनीम् । धृत्वा व्याख्याननिरतश्चिन्मयः परमेश्वरः ॥ ३१ ॥

द्विभुजधारी श्री रघुनाथ जी अयोध्या के राजसिंहासन पर सुर्खेति हैं। धनुर्धरी श्रीराम स्वभाव से प्रसन्न चित्त तथा सभी आभूषणों से सुसज्जित हैं। वामहस्त में तेजस्विता को प्रकाशित करने वाली धनुर्मयी मुद्रा और दक्षिणहस्त में ज्ञानमयी मुद्रा धारण करके वे सच्चिदानन्द परमेश्वर व्याख्यान मुद्रा में प्रतिष्ठित हैं ॥ ३०-३१ ॥

उदगदक्षिणयोः स्वस्य शत्रुघ्नभरतौ ततः । हनूमन्तं च श्रोतारमग्रतः स्यात्निकोणगम् ॥ ३२ ॥
भरताधस्तु सुग्रीवं शत्रुघ्नाधो विभीषणम् । पश्चिमे लक्ष्मणं तस्य धृतच्छत्रं सचामरम् ॥ ३३ ॥
तदधस्तौ तालवृत्तकरौ ऋस्वं पुनर्भवेत् । एवं षट्कोणमादौ स्वदीर्घाङ्गैरेष संयुतः ॥ ३४ ॥

भगवान् श्रीराम के दाहिनी ओर भरत और बायीं ओर शत्रुघ्न स्थित हैं । भक्त हनुमान् श्रोतारूप में हाथ जोड़कर त्रिकोण के अंदर ही विराजमान हैं । भरत के नीचे सुग्रीव और शत्रुघ्न के नीचे विभीषण स्थित हैं । भगवान् श्रीराम के पृष्ठभाग में लक्ष्मण जी छत्र-चँवर हाथ में लिए हुए प्रतिष्ठित हैं । उनके नीचे ताड़ के पंखे हाथों में लिए हुए भरत-शत्रुघ्न दोनों भाई खड़े हैं । इससे भरत, शत्रुघ्न और लक्ष्मण द्वारा दूसरे त्रिकोण की स्थिति बनती है । श्री रघुवीर अपने बीज मन्त्र रूप दीर्घ अक्षरों के धेरे में ही आबद्ध हैं ॥ ३२-३४ ॥

द्वितीयं वासुदेवाद्यैराग्रेयादिषु संयुतः । तृतीयं वायुसूनुं च सुग्रीवं भरतं तथा ॥ ३५ ॥
विभीषणं लक्ष्मणं च अङ्गदं चारिमर्दनम् । जाम्बवन्तं च तैर्युक्तस्ततो धृष्टिर्जयन्तकः ॥ ३६ ॥
विजयश्च सुराष्ट्रश्च राष्ट्रवर्धनं एव च । अशोको धर्मपालश्च सुमन्त्रश्चैभिरावृतः ॥ ३७ ॥

दूसरे आवरण में आग्रेय आदि दिशाओं में वासुदेव, संकर्षण, शान्ति, श्री, सरस्वती, अनिरुद्ध और रति स्थित हैं । वे इनसे संयुक्त होकर द्वितीय आवरण में रहते हैं । तीसरे आवरण में भरत, शत्रुघ्न, लक्ष्मण, हनुमान्, सुग्रीव, विभीषण, अंगद तथा जामवन्त की गिनती है । इनके अतिरिक्त धृष्टि, जयन्त, विजय, सुराष्ट्र, राष्ट्रवर्धन, अशोक, धर्मपाल और सुमन्त्र से धेरे रहने पर भी तीसरे धेरे की ही उनकी स्थिति रहती है ॥ ३५-३७ ॥

ततः सहस्रदृग्वहिर्धर्मज्ञो वरुणोऽनिलः । इन्द्रीशधात्रनन्ताश्च दशभिश्चैभिरावृतः ॥ ३८ ॥

चतुर्थ आवरण की स्थिति तब बनती है-जब सहस्रदृग् (इन्द्र), अग्नि, धर्मराज, वरुण, निर्वर्ति, वायु, चन्द्रमा, ब्रह्मा, ईशान तथा अनन्त इन दस दिग्पालों से श्रीराम धेरे रहते हैं ॥ ३८ ॥

बहिस्तदायुधैः: पूज्यो नीलादिभिरलंकृतः । वसिष्ठवामदेवादिमुनिभिः समुपासितः ॥ ३९ ॥

इन दिग्पाल आदि के बाह्य भाग में उनके आयुध हैं, उन आयुधों से तथा नल आदि वानरों से धेरे रहने से वे पूजनीय श्रीराम शोभायमान दिखाई देते हैं । इसी के साथ वसिष्ठ, वामदेव आदि ऋषिगण भी भगवान् श्री राम की उपासना में संलग्न रहते हैं ॥ ३९ ॥

एवमुद्देशतः: प्रोक्तं निर्देशस्तस्य चाधुना । त्रिरेखापुटमालिख्य मध्ये तारद्वयं लिखेत् ॥ ४० ॥

तन्मध्ये बीजमालिख्य तदधः: साध्यमालिखेत् । द्वितीयान्तं च तस्योर्ध्वं षष्ठ्यन्तं साधकं तथा ॥ ४१ ॥

संक्षेपतः: पूजायन्त्र के विवेचन के बाद उसके समग्र रूप का निर्देश किया जा रहा है । सम रेखाओं के दो त्रिकोणों को विनिर्मित करके उनके बीच में प्रणवद्वय को भिन्न-भिन्न लिखे । उन दोनों के बीच आद्यबीज (रां) का उल्लेख करके उसके नीचे सिद्ध किये जाने वाले कार्य को लिखे । आद्यबीज के ऊपरी हिस्से में साधक का नाम षष्ठ्यन्त करके लिखे तथा साध्य का द्वितीयान्त रूप में प्रयोग करे ॥ ४०-४१ ॥

कुरु द्वयं च तत्पाश्चं लिखेद्वीजान्तरे रमाम् । तत्सर्वं प्रणवाभ्यां च वेष्टयेच्छुद्धबुद्धिमान् ॥ ४२ ॥

बायें-दायें पाश्वर्वभाग में एक-एक 'कुरु' पद का उल्लेख करे । बीज के मध्य और साध्य के ऊपर की ओर श्रीबीज लिखे । मेधावी पुरुष को इन सभी को ऐसे लिखना चाहिए, जिससे दोनों प्रणव से वे युक्त रहें ॥ ४२ ॥

दीर्घभाजि षडस्त्रे तु लिखेद्वीजं हृदादिभिः । कोणपाश्चं रमामाये तदग्रेऽनङ्गमालिखेत् ॥ ४३ ॥

तत्पश्चात् मूल बीज को छहों कोणों पर दीर्घस्वर सहित लिखे । इसी के साथ एक-एक के साथ क्रमशः 'हृदयाय नमः' 'आदि भी अङ्गित करे । कोणों के पाश्व भाग में श्रीं, हर्णीं, कल्लीं-इन बीजाक्षरों का उल्लेख करे ॥ ४३ ॥

क्रोधं कोणाग्रान्तरेषु लिख्य मन्त्रभितो गिरम् । वृत्तत्रयं साष्टपत्रं सरोजे विलिखेत्स्वरान् ॥४४ ॥
 केसरे चाष्टपत्रे च वर्गाष्टकमथालिखेत् । तेषु मालाभनोर्वर्णान्विलिखेदूर्मिसंख्यया ॥ ४५ ॥
 अन्ते पञ्चाक्षराण्येवं पुनरष्टदलं लिखेत् । तेषु नारायणाष्टाणांस्त्रिख्य तत्केसरे रमाम् ॥ ४६ ॥
 तद्वहिर्द्वादशदलं विलिखेद्वादशाक्षरम् । अथोन्मो भगवते वासुदेवाय इत्यम् ॥ ४७ ॥

कोण के अगले भाग और अन्दर वाले भागों में क्रोध बीज 'हुम्' लिखकर उसके दोनों ओर बगल में सरस्वती बीज 'ऐं' लिखे । फिर तीन गोलाकार रेखाएँ बनाए । (एक वृत्त षट्कोण से ऊपर, दूसरा मध्य में तथा तीसरा दलों के अगले भाग में रहेगा ।) इन वृत्तों के साथ-साथ एक अष्टदल कमल भी निर्मित करे । कमल केसर में दो-दो अक्षरों के क्रम से सभी स्वर-वर्णों को लिखे । आठों दलों के स्वर-वर्णों के ऊपर व्यञ्जन-वर्णों के अष्टवर्ग का उल्लेख करे । इस अष्टदल में अष्टवर्ग के ऊपर माला मन्त्र के ४७ वर्णों को छः-छः के क्रम से लिखे, इससे अन्तिम दल में पाँच वर्ण का उल्लेख रह जाएगा । पहले की तरह ही पुनः एक अष्टदल कमल का निर्माण करे । उसकी पंखुड़ियों पर 'ॐ नमो नारायणाय' मन्त्र के एक-एक अक्षर का उल्लेख करे तथा उसके केसर पर रमा-बीज (श्रीं) लिखे । उसके ऊपर द्वादश-पंखुड़ियों वाला कमल बनाए तथा उसकी प्रत्येक पंखुड़ी पर बारह अक्षर के मन्त्र 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' का एक-एक अक्षर लिखे ॥ ४४-४७ ॥

आदिक्षान्तान्के सरेषु वृत्ताकारेण संलिखेत् । तद्वहिः षोडशदलं लिख्य तत्केसरे हियम् ॥४८ ॥
 वर्मास्त्रनतिसंयुक्तं दलेषु द्वादशाक्षरम् । तत्सन्धिष्विरजादीनां मन्त्रान्मन्त्री समालिखेत् ॥ ४९ ॥
 हं स्तं भ्रं व्रं लं अं श्रं ज्रं च लिखेत्सम्यक्ततो बहिः । द्वात्रिंशारं महापद्मं नादबिन्दुसमायुतम् ॥५० ॥

बारह दल वाले कमल केसरों में 'अ' से 'क्ष' तक के वर्ण (१६ स्वर और ३५ व्यञ्जन) वृत्ताकार लिखे (एक-एक केसर में चार-चार तथा अन्तिम में सात वर्ण होंगे) । उसके बाहर-सोलह दलयुक्त कमल पुनः निर्मित करे । उसकी सोलह पंखुड़ियों में एक-एक अक्षर के क्रमानुसार द्वादश अक्षर मन्त्र 'ॐ ह्रीं भरताग्रज राम कर्लीं स्वाहा' एवं 'हुं' 'फट' 'नमः' को लिखे । दलों के सन्धि भाग में हनुमान् के बीज मंत्र तथा धृष्टि आदि बीज मन्त्रों का उल्लेख करें । वे इस प्रकार हैं- हं स्तं भ्रं व्रं लं अं श्रं और ज्रं तथा घ्रं ज्रं स्तं ऋं अं ध्रं और स्तं । तत्पक्षात् इसके बाहर पुनः बत्तीस पंखुड़ियों से युक्त ऐसे महाकमल का निर्माण करे, जो नाद और बिन्दु दोनों से युक्त हो ॥ ४८-५० ॥

विलिखेन्मन्त्रराजाणांस्तेषु पत्रेषु यत्ततः । ध्यायेदष्टवसूनेकादशरुद्रांश्च तत्र वै ॥ ५१ ॥
 द्वादशेनांश्च धातारं वषट्कारं च तद्वहिः । भूगृहं वज्रशूलाद्यं रेखात्रयसमन्वितम् ॥ ५२ ॥
 द्वारोपेतं च राश्यादिभूषितं फणिसंयुतम् । अनन्तो वासुकिश्वैव तक्षः ककोटपद्मकः ॥ ५३ ॥
 महापद्मश्च शङ्खश्च गुलिकोऽष्टौ प्रकीर्तिताः । एवं मण्डलमालिख्य तस्य दिक्षु विदिक्षु च ॥५४ ॥

उसकी पंखुड़ियों पर प्रयासपूर्वक नारसिंह मन्त्रराज के बत्तीस वर्णों का उल्लेख करे । उसकी पंखुड़ियों में ही अष्टवसु, एकादश रुद्र, द्वादश आदित्य तथा सबके धारणकर्ता वषट्कार का न्यास एवं ध्यान करे । (अष्टवसु-धूव, धर, सोम, आप, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रभास । एकादश रुद्र-हर, बहुरूप, त्र्यम्बक, अपराजित, शम्भु, वृषाकपि, कपर्दी, रैवत, मृगव्याध, शर्व एवं कपाली । द्वादश आदित्य-धाता, अर्यमा, मित्र, वरुण, अंशा, भग, इन्द्र, विवस्वान्, पूषा, पर्जन्य, त्वष्टा और विष्णु ।) इस बत्तीस दल कमल के बाहरी भाग में भूगृह यन्त्र का निर्माण करे । उसके चारों ओर वज्र तथा कोषों में शूलचिह्न को बनाए । इस भूगृह यन्त्र को तीन रेखाओं से भी समाविष्ट करे । इसकी तीन रेखाएँ सत, रज, तम गुणों की प्रेरक हैं । मण्डप के द्वारों की तरह ही

इसमें भी द्वार निर्मित करे। इसी के साथ भूगृह को राशि आदि से सुशोभित करे। उसे आठों दिशाओं-विदिशाओं से आठ नागों ने धारण किये रखा है। उनके नाम ये हैं- अनन्त, वासुकि, तक्षक, कर्कोटक, पद्म, महापद्म, शङ्ख तथा गुलिक ॥ ५१-५४ ॥

नारसिंहं च वाराहं लिखेन्मन्त्रद्वयं तथा । कूटो रेफानुग्रहेन्दुनादशक्त्यादिभिर्युतः ॥ ५५ ॥
यो नृसिंहः समाख्यातो ग्रहमारणकर्मणि । अन्त्यार्थीशवियद्विन्दुनादैर्बीजं च सौकरम् ॥ ५६ ॥

भूगृह यंत्र लिखकर उसके चारों ओर नारसिंह बीज मन्त्र तथा कोणों में वाराह बीज मन्त्र का उल्लेख करे। नारसिंह बीज मन्त्र 'क' 'ष' 'र' अनुग्रह (औ), इन्दु (अनुस्वार), नाद (ध्वनि) और शक्ति (माया) से सम्पन्न 'क्षरों' है। ग्रहबाधा दूर करने और शत्रुमारण आदि में प्रयुक्त होकर यह मन्त्र अभिलिषित सिद्धि प्रदान करने वाला है। अन्त्यवर्ण-हकार, अर्धीश (उकार) से सम्पन्न हो, उसके साथ बिन्दु (अनुस्वार), नाद (ध्वनि) और शक्ति आदि भी संयुक्त रहे, (तो 'हुम्' वाराह बीज मंत्र बनता है) ॥ ५५-५६ ॥

हुंकारं चात्र रामस्य मालामन्त्रोऽधुनेरितः । तारो नतिश्च निद्रायाः स्मृतिर्मेदश्च कामिका ॥ ५७ ॥
रुद्रेण संयुता वह्निर्मेधामरविभूषिता । दीर्घा कूरयुता हादिन्यथो दीर्घसमायुता ॥ ५८ ॥
क्षुधा क्रोधिन्यमोघा च विश्वमप्यथ मेधया । युक्ता दीर्घज्वालिनी च सुसूक्ष्मा मृत्युरूपिणी ॥ ५९ ॥
सप्रतिष्ठा हादिनी त्वक्ष्वेलप्रीतिश्च सामरा । ज्योतिस्तीक्षणाग्निसंयुक्ता श्वेतानुस्वारसंयुता ॥ ६० ॥
कामिकापञ्चमूलान्तस्तान्तान्तो थान्त इत्यथ । स सानन्तो दीर्घयुतो वायुः सूक्ष्मयुतो विषः ॥ ६१ ॥
कामिका कामका रुद्रयुक्ताथोऽथ स्थिरातपा । तापिनी दीर्घयुक्ता भूरनलोऽनन्तगोऽनिलः ॥ ६२ ॥
नारायणात्मकः कालः प्राणाभ्यो विद्यया युतः । पीतारातिस्तथा लान्तो योन्या युक्तस्ततो नतिः ॥

'हुम्' को भी इस यंत्र में कोणों में लिखना चाहिए। अब श्री रामजी से सम्बन्धित माला मन्त्र का वर्णन करेंगे। इसमें प्रणव (ॐ), नमः, निद्रा (भ), स्मृति (ग), मेद (व), कामिका (त) तथा रुद्र (ए) से युक्त है। अग्नि (र), मेधा (घ), अमर (उ) से संयुक्त, दीर्घकाल (न) चन्द्रमा (अनुस्वार) से युक्त है। हादिनी (द) के पश्चात् दीर्घकाल (न) मानदा कला (आ) से युक्त है। इसके बाद क्षुधा (य) है। इन्हें मिलाकर 'ॐ नमो भगवते रघुनन्दनाय' इस मन्त्रभाग की सिद्धि हुई। क्रोधिनी (र), अमोघा (क्ष) और विश्व (ओ) मेधा (घ) से अलंकृत है। दीर्घा (न), वह्निकला (व) सूक्ष्म रुद्र (इ) से युक्त है। फिर मृत्यु-प्रणव कला (श) प्रतिष्ठा अर्थात् उच्चारण के आधार रूप 'अ' से युक्त है। अन्त में हादिनी (दा) और त्वक् (य) हैं। इनसे 'रक्षोन्नविशदाय' यह मन्त्रभाग सिद्ध हुआ। श्वेल (म), प्रीति (ध) अमर (उ) से युक्त, ज्योति (र), तीक्ष्णा (प) अग्नि (र) से संयुक्त, श्वेता (स) अनुस्वार से संयुक्त है। पश्चात् तकार से पाँचवाँ वर्ण (न), लकार के बाद का वर्ण (व), तकार एक वर्ण छोड़कर (द), धकार छोड़कर (न) अनन्त (आ) से संयुक्त है। फिर दीर्घ स्वर (आ) से संयुक्त वायु (य), हस्त इकार से सम्पन्न विष (म), कामिका (त) तथा रुद्र (ए) से संयुक्त कामिका (त) है। पश्चात् स्थिरा (ज), 'ए' मात्रा 'स' वर्ण से युक्त है। इनसे 'मधुरप्रसन्नवदनायामिततेजसे' यह मन्त्र भाग सिद्ध हुआ। इसके बाद तापिनी (ब), दीर्घ (ल) भू अर्थात् दीर्घ 'आ' की मात्रा जुड़ी है, साथ में अनिल (य) है, इनसे 'बलाय' सिद्ध हुआ। अनन्तग अनल यानी आकार की मात्रा के साथ रेफ (रा) है। फिर नारायणात्मक आकार की मात्रा के साथ काल (म), प्राण (य) की स्थिति है। इनसे 'रामाय' सिद्ध हुआ। विद्या युक्त अम्भस्-इकार मात्रा युक्त वकार है। फिर पीता (ष), रति (ण) और 'ल' के पश्चात् का (व) योनि (ए) से युक्त है। इनसे 'विष्णवे' की सिद्धि हुई। अन्त में नति-प्रणाम वाचक 'नमः' तथा प्रणव 'ॐ' है ॥ ५७-६३ ॥

सप्तत्वारिंशद्वर्णगुणान्तः सगुणः स्वयम् । राज्याभिषिक्तस्य तस्य रामस्योक्तक्रमालिखेत् ॥६४

यह सैंतालीस अक्षरों का (ॐ नमो भगवते रघुनन्दनाय रक्षोद्धविशदाय मधुरप्रसन्नवदनायामिततेजसे बलाय रामाय विष्णवे नमः ॐ) माला मन्त्र राज्य अभिषेक से युक्त श्रीराम से सम्बन्धित है। सगुण होने पर भी यह साधकों को त्रिगुणमयीमाया के बन्धन से मुक्त करने वाला है। पूर्वोक्त क्रमानुसार ही इस मन्त्र को लिखना चाहिए ॥ ६४ ॥

**इदं सर्वात्मकं यन्त्रं प्रागुक्तमृषिसेवितम् । सेवकानां मोक्षकरमायुरारोग्यवर्धनम् ॥ ६५ ॥
अपुत्राणां पुत्रादं च बहुना किमनेन वै । प्राप्नुवन्ति क्षणात्सम्यगत्र धर्मादिकानपि ॥ ६६ ॥**

ऊपर लिखित यन्त्र सर्वस्वरूप है। ऋषि मुनियों ने इस यन्त्र की साधना की है तथा प्राचीन आचार्यों ने भी इसका सन्देश दिया है। इससे साधक को आरोग्य प्राप्ति, आयुवृद्धि तथा मुक्ति की प्राप्ति होती है। इससे पुत्रहीनों को पुत्र की प्राप्ति होती है। अधिक क्या कहा जाए, इसका साधक शीघ्र ही सभी उपलब्धियों को प्राप्त करता है। इसकी साधना से साधक धर्म, ज्ञान, वैराग्य आदि इच्छित कामनाओं की पूर्ति करते हैं ॥ ६५-६६ ॥
इदं रहस्यं परममीश्वरेणापि दुर्गमम् । इदं यन्त्रं समाख्यातं न देयं प्राकृते जने ॥ ६७ ॥

यह अति रहस्यपूर्ण गोपनीय यन्त्र बिना दीक्षा के परम विद्वान् के लिए भी दुर्गम है। पात्रतारहित सामान्य व्यक्तियों (प्राकृतजन) को इसका उपदेश कभी भी नहीं देना चाहिए ॥ ६७ ॥

॥ पञ्चमोपनिषद् ॥

**ॐ भूतादिकं शोधयेद्द्वारपूजां कृत्वा पद्माद्यासनस्थः प्रसन्नः । अर्चाविधावस्य
पीठाधरोर्ध्वपाश्र्वार्चनं मध्यपद्मार्चनं च ॥ १ ॥ कृत्वा मृदुलशूक्षणसुतूलिकायां रत्नासने
देशिकमर्चयित्वा । शक्तिं चाधाराख्यकां कूर्मनागौ पृथिव्यब्जे स्वासनाधः प्रकल्प्य ॥ २ ॥**

द्वारपूजा करके पदमासन आदि लगाकर बैठे और प्रसन्नचित्त होकर सभी तत्त्वों का शोधन (शुद्धि) करे। भगवान् श्रीराम के पूजा विधान में सिंहासन पीठ का नीचे का हिस्सा, ऊपरी हिस्सा तथा दोनों पार्श्व भाग में देव-अर्चन किये जाने की व्यवस्था है। पीठ के ऊपर मध्य में स्थित अष्टदलकमल का भी पूजन करे। रत्नयुक्त सिंहासन पर गुदगुदी और चिकनी तूलिका (रईदार गद्दी) को बनाकर उसके ऊपर परमात्मरूप आचार्य की अर्चना-वंदना करे। पीठ के नीचे वाले हिस्से में इष्टदेव के आसन के नीचे आधार शक्ति, कूर्म, नाग और पृथ्वीमय-कमलद्वय की भावना करके उनकी अर्चना करे ॥ १-२ ॥

**विघ्नेशं दुर्गा क्षेत्रपालं च वाणीं बीजादिकांशाग्निदेशादिकांशं । पीठस्यादिग्रन्थवेव धर्मादिकांशं
नत्वा पूर्वाद्यासु दिक्ष्वर्चयेच्च ॥ ३ ॥ मध्ये क्रमादर्कविध्वग्नितेजांस्युपर्युपर्यादिमैर्चितानि । रजः
सत्त्वं तम एतानि वृत्तत्रयं बीजाद्यं क्रमाद्वावयेच्च ॥ ४ ॥**

विघ्नेश गणेश, क्षेत्रपाल, दुर्गा और वाणी के साथ प्रारम्भ में बीज लगाकर चतुर्थी का प्रयोग करके आग्रेय आदि दिशा में पूजन-अर्चन करे। तदुपरान्त पीठ के पादों में विद्यमान धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का अर्चन पूर्व आदि दिशाओं में करे। तत्पश्चात् पीठ के ऊपर-ऊपर मध्य भाग में श्रेष्ठजनों द्वारा अर्चित सूर्य, चन्द्र एवं अग्नि का पूजन करे। यन्त्र में विद्यमान सत्त्व, रज एवं तम के प्रतीक बीज मन्त्र के साथ तीन वृत्तों का भी क्रमशः पूजन और चिन्तन करे ॥ ३-४ ॥

आशाव्याशास्वव्यथात्मानमन्तरात्मानं वा परमात्मानमन्तः । ज्ञानात्मानं चार्चयेत्तस्य दिक्षु
मायाविद्ये ये कलापारतत्त्वे ॥ ५ ॥ संपूजयेद्विमलादीश्व शक्तीरभ्यर्चयेदेवमावाहयेच्च ।
अङ्गव्यूहानिलाजादैश्व पूज्य धृष्ट्यादिकैलोकपालैस्तदस्त्रैः ॥ ६ ॥ वसिष्ठादैर्मुनिभिर्नीलमुख्यैरारा-
धयेद्राघवं चन्दनादैः । मुख्योपहारैर्विविधैश्व पूज्यैस्तस्मै जपादीश्व सम्प्यकप्रकल्प्य ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् कोणों और दिशाओं में निर्मित अष्टदलों का पूजन करे । इनमें कोणों में स्थित दलों को आग्नेय
कोण से शुरुआत करके क्रमशः आत्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा और ज्ञानात्मा के रूप में पूजन करे । मायातत्त्व,
कलातत्त्व और परतत्त्व इन सबकी क्रमशः पूर्वादि दिशाओं में अर्चना करे । तत्पश्चात् विमलादि शक्तियों का
विधिपूर्वक पूजन करे । प्रधान देवता के आवाहन-पूजन के बाद जल से अङ्गव्यूहों (हृदय, मस्तक आदि) की
पूजा करे । धृष्टि (जयन्त, विजय, सुराष्ट्र) आदि, लोकपाल (इन्द्र, यम, निर्वृति...) गण, उनके आयुध
(वज्र, शक्ति, दण्ड), वसिष्ठ (वामदेव, जाबाल, गौतम.....) आदि ऋषिगण तथा नील (नल, सुषेण, शरभ
....) आदि के साथ चन्दनादि विभिन्न पूजा-उपचारों और नानाविध उत्तम उपहारों द्वारा भगवान् श्रीराम की
पूजा-आराधना करे । इसी के साथ विधि-विधान पूर्वक जप आदि भी उन्हें समर्पित करे ॥ ५-७ ॥

एवंभूतं जगदाधारभूतं रामं वन्दे सच्चिदानन्दरूपम् ।

गदारिशङ्खाब्जधरं भवारिं स यो ध्यायेन्मोक्षमाप्नोति सर्वे ॥ ८ ॥

जो गदा, चक्र, शंख और कमल को अपने हाथों में धारण किये हुए, भव-बन्धन के नाशक, जगत् के
आधारस्वरूप, अति महिमाशाली तथा सच्चिदानन्द स्वरूप हैं, उन श्री रघुवीर के प्रति हम नमन करते हैं । इस
प्रकार की स्तुति करने वाले सभी साधक मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥ ८ ॥

विश्वव्यापी राघवो यस्तदानीमन्तर्दधे शङ्खचक्रे गदाब्जे ।

धृत्वा रमासहितः सानुजश्च सपत्तनः सानुगः सर्वलोकी ॥ ९ ॥

लीला संदोह काल में सारे संसार में संव्यास श्रीराम सशरीर अपने शङ्ख, चक्र, गदा और पद्म आयुध
सहित अन्तर्धान हो गये । अपने स्वाभाविक स्वरूप को धारण कर वे सीता के साथ परमधाम में प्रविष्ट हुए । इसी
के साथ उनके सभी परिवारी परिजन, सभी भाई, समस्त प्रजा तथा विभीषण आदि शत्रुवंशज भी श्रेष्ठधाम में
प्रस्थान कर गये ॥ ९ ॥

तद्वक्ता ये लब्धकामाश्व भुक्त्वा तथा पदं परमं यान्ति ते च ।

इमा ऋचः सर्वकामार्थदाश्व ये ते पठन्त्यमला यान्ति मोक्षम् ॥ १० ॥

उनके भक्त मनोवाञ्छित उपभोग साधनों को प्राप्त करते हैं । उन्हें भोगते हुए वे मृत्यु के पश्चात् परमपद
को अङ्गीकार करते हैं । समस्त कामनाओं और अर्थसिद्धि करने वाली इन ऋचाओं का पाठ करने वाले भक्तगण
निर्मल अन्तःकरण से युक्त होकर मोक्ष पद को प्राप्त करते हैं ॥ १० ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः इति शान्तिः ॥

॥ इति रामपूर्वतापिन्युपनिषत्समाप्ता ॥



॥ रुद्रहृदयोपनिषद् ॥

यह कृष्णायजुर्वेद से सम्बद्ध उपनिषद् है। इसमें मुख्यतया 'शिव और विष्णु' को अभिन्न बताया गया है। श्रीशुकदेव और वेदव्यास जी के मध्य हुए प्रश्नोत्तर के रूप में उपनिषद् का शुभारम्भ किया गया है। सर्वप्रथम श्रीशुकदेव जी ने श्रीव्यासजी से प्रश्न किया है कि सभी देवों में सर्वश्रेष्ठ कौन है? जिसका उत्तर 'रुद्र' बताया गया है। तत्पश्चात् शिव-विष्णु की एकता, आत्मा की त्रिविधता (आत्मा, परमात्मा तथा अन्तरात्मा), रुद्र की त्रिमूर्तिता (ब्रह्म, विष्णु, महेश), 'रुद्र' के कीर्तन से सर्वपाप विमुक्ति, परा-अपरा विद्या का स्वरूप, अक्षर (परम सत्य) ज्ञान से संसार का विनाश, मुमुक्षुजनों के लिए प्रणवोपासना, जीव और ईश्वर का भेद काल्पनिक तथा अद्वैत ज्ञान से शोक मोह की निवृत्ति का क्रमशः वर्णन किया गया है। यह उपनिषद् विभेद बुद्धि को दूर करके अभेद बुद्धि का ज्ञान कराने में अतीव उपयोगी है। आज के विभ्रमित समाज के लिए ऐसी उपनिषदविद्या नितान्त उपयोगी है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ सह नाववतु इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अक्ष्युपनिषद्)

हृदयं कुण्डली भस्मरुद्राक्षगणादर्शनम् । तारसां महावाक्यं पञ्चब्रह्माग्निहोत्रकम् । प्रणम्य शिरसा पादौ शुको व्यासमुवाच ह । को देवः सर्ववेदेषु कस्मिन्देवाश्च सर्वशः ॥ १ ॥

रुद्रहृदय, योगकुण्डली, भस्मजाबाल, रुद्राक्षजाबाल और गणपति ये पाँच उपनिषदें ॐ (प्रणव) के मूलतत्त्व का विवेचन करती हैं। यही ब्रह्मज्ञान से सम्बन्धित यज्ञ के पाँच महामन्त्र कहलाते हैं, इन्हें ही श्रुति के महावाक्य कहा गया है। श्रीशुकदेव जी ने अपने पिता श्रीव्यास जी के चरणों में शीश झुकाकर प्रणाम किया और निवेदन किया— भगवन्! सभी वेदों ने किस एक देव का उल्लेख किया है और सम्पूर्ण देवों का वास किस एक देव में है? ॥ १ ॥

कस्य शुश्रूषणान्नित्यं प्रीता देवा भवन्ति मे । तस्य तद्वचनं श्रुत्वा प्रत्युवाच पिता शुकम् ॥ २ ॥

कृपया यह भी बताएँ कि किस देव की उपासना से सभी देव मुझ पर प्रसन्न होंगे। उनके इस प्रकार के प्रश्न को सुनकर उनके पिता ने उनसे कहा— ॥ २ ॥

सर्वदेवात्मको रुद्रः सर्वे देवाः शिवात्मकाः । रुद्रस्य दक्षिणे पार्श्वे रविर्ब्रह्मा त्रयोऽग्न्यः ॥ ३ ॥

हे शुकदेव! भगवान् रुद्र में सभी देवता समाहित हैं और सब देवता रुद्रस्वरूप हैं। रुद्रदेव के दक्षिण पार्श्व में सूर्य, ब्रह्मा तथा तीन प्रकार की अग्नियाँ (गार्हपत्य, दक्षिणाग्नि और आहवनीय) विद्यमान हैं ॥ ३ ॥

वामपार्श्वे उमा देवी विष्णुः सोमोऽपि ते त्रयः । या उमा सा स्वयं विष्णुर्यो विष्णुः स हि चन्द्रमाः ॥

वाम पार्श्व में भगवती उमा, भगवान् विष्णु और सोम ये तीन देवशक्तियाँ स्थित हैं। जो उमा हैं, वही भगवान् विष्णु हैं और जो भगवान् विष्णु हैं, वही चन्द्रमा हैं ॥ ४ ॥

ये नमस्यन्ति गोविन्दं ते नमस्यन्ति शंकरम् । ये ऽर्चयन्ति हरिं भक्त्या ते ऽर्चयन्ति वृषभ्वजम् ॥ ५ ॥

गोविन्द के प्रति नमन करना, भगवान् शंकर को नमन करना कहा जायेगा। जो भक्ति भावना से भगवान्

विष्णु की पूजा-अर्चना करते हैं, वे वृषभध्वज अर्थात् रुद्रदेव की ही अर्चना करते हैं ॥ ५ ॥

ये द्विषन्ति विरूपाक्षं ते द्विषन्ति जनार्दनम् । ये रुद्रं नाभिजानन्ति ते न जानन्ति केशवम् ॥ ६ ॥

जो विरूपाक्ष (भगवान् शंकर) से द्वेषभाव रखते हैं, वे जनार्दन भगवान् के प्रियपात्र कदापि नहीं हो सकते। जो रुद्ररूप के ज्ञाता नहीं, वे केशव के प्रति भी सर्वथा अनभिज्ञ हैं ॥ ६ ॥

रुद्रात्प्रवर्तते बीजं बीजयोनिर्जनार्दनः । यो रुद्रः स स्वयं ब्रह्मा यो ब्रह्मा स हुताशनः ॥ ७ ॥

रुद्र ही प्राणियों के उत्पत्ति के बीजरूप हैं तथा उस बीज की योनिरूप (अर्थात् क्षेत्र) भगवान् विष्णु हैं । जो रुद्रदेव हैं, वे स्वयं ब्रह्मा हैं; जो ब्रह्मा हैं, वही अग्निदेव हैं ॥ ७ ॥

ब्रह्मविष्णुमयो रुद्र अग्नीषोमात्मकं जगत् । पूँज्लिङ्गं सर्वमीशानं स्त्रीलिङ्गं भगवत्युमा ॥ ८ ॥

रुद्रदेव ही ब्रह्मा और विष्णुरूप हैं तथा अग्नि और सोम से युक्त जगत् भी रुद्रमय ही है । विश्व के समस्त पूँज्लिंग प्राणी रुद्ररूप और स्त्रीलिङ्ग समस्त प्राणी भगवती उमा स्वरूप हैं ॥ ८ ॥

उमारुद्रात्मिकाः सर्वाः प्रजाः स्थावरजङ्गमाः । व्यक्तं सर्वमुमारूपमव्यक्तं तु महेश्वरम् ॥ ९ ॥

सभी जड़ और चेतन सृष्टि रुद्र और उमारूप ही है । सम्पूर्ण व्यक्त संसार उमारूप और अव्यक्त संसार महेश्वरस्वरूप है ॥ ९ ॥

उमाशंकरयोगो यः स योगो विष्णुरुच्यते । यस्तु तस्मै नमस्कारं कुर्याद्ब्रह्मिसमन्वितः ॥ १० ॥

आत्मानं परमात्मानमन्तरात्मानमेव च । ज्ञात्वा त्रिविधमात्मानं परमात्मानमाश्रयेत् ॥ ११ ॥

उमा और शिव का मिलन ही विष्णु कहा जाता है । जो विष्णु को भक्तिभाव से नमन करते हैं, वे आत्मा, परमात्मा और अन्तरात्मा इन त्रिविध आत्माओं का ज्ञान प्राप्त करके परमात्मा को प्राप्त होते हैं ॥ १०-११ ॥

अन्तरात्मा भवेद् ब्रह्मा परमात्मा महेश्वरः । सर्वेषामेव भूतानां विष्णुरात्मा सनातनः ॥ १२ ॥

अन्तरात्मा ब्रह्मा, परमात्मा महेश्वर और सभी प्राणियों के सनातन आत्मा भगवान् विष्णु हैं ॥ १२ ॥

अस्य त्रैलोक्यवृक्षस्य भूमौ विटपशाखिनः । अग्रं मध्यं तथा मूलं विष्णुब्रह्ममहेश्वराः ॥ १३ ॥

इस त्रिलोकरूप वृक्ष की शाखाएँ एवं तने ही पृथ्वी पर फैले हुए हैं, इसके अग्रभाग के रूप में विष्णु, मध्य (तना) भाग ब्रह्मा तथा मूलभाग महेश्वर हैं ॥ १३ ॥

कार्यविष्णुः क्रिया ब्रह्मा कारणं तु महेश्वरः । प्रयोजनार्थं रुद्रेण मूर्तिरिका त्रिधा कृता ॥ १४ ॥

कार्यरूप विष्णु, क्रियारूप ब्रह्मा और कारणरूप महेश्वर हैं । इस प्रकार भगवान् रुद्रदेव ही प्रयोजन के अनुरूप अपनी एक ही मूर्ति (शक्ति) को तीन रूपों में धारण किये हुए हैं ॥ १४ ॥

धर्मो रुद्रो जगद्विष्णुः सर्वज्ञानं पितामहः ॥ १५ ॥ श्रीरुद्र रुद्र रुद्रेति यस्तं ब्रूयाद्विचक्षणः । कीर्तनात्सर्वदेवस्य सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ १६ ॥

धर्म रुद्ररूप, जगत् विष्णुरूप और सम्पूर्ण ज्ञान ब्रह्मारूप है । जो ज्ञानी 'श्रीरुद्र रुद्र रुद्र' इस प्रकार से रुद्र के नाम का स्मरण करता है । इससे वह सभी देवों के नाम-जप का फल प्राप्त करके सभी पाप-कर्मों से निवृत्त हो जाता है ॥ १५-१६ ॥

रुद्रो नर उमा नारी तस्मै तस्यै नमो नमः ॥ १७ ॥ रुद्रो ब्रह्मा उमा वाणी तस्मै तस्यै नमो नमः ।

रुद्रो विष्णुरुमा लक्ष्मीस्तस्मै तस्यै नमो नमः ॥ १८ ॥ रुद्रः सूर्य उमा छाया तस्मै तस्यै नमो नमः ।

रुद्रः सोम उमा तारा तस्मै तस्यै नमो नमः ॥ १९ ॥ रुद्रो दिवा उमा रात्रिस्तस्मै तस्यै नमो नमः ।

रुद्रो यज्ञ उमा वेदिस्तस्मै तस्यै नमो नमः ॥ २० ॥ रुद्रो वह्निरुमा स्वाहा तस्मै तस्यै नमो नमः ।

रुद्रो वेद उमा शास्त्रं तस्मै तस्यै नमो नमः ॥ २१ ॥ रुद्रो वृक्ष उमा वल्ली तस्मै तस्यै नमो नमः ।

रुद्रो गन्ध उमा पुष्पं तस्मै तस्यै नमो नमः ॥ २२ ॥ रुद्रोऽर्थ अक्षरः सोमा तस्मै तस्यै नमो नमः ।

रुद्रो लिङ्गमुमा पीठं तस्मै तस्यै नमो नमः ॥ २३ ॥ सर्वदेवात्मकं रुद्रं नमस्कुर्यात्पृथक्पृथक् ।

एभिर्मत्रपदैरेव नमस्यामीशपार्वतीम् ॥ २४ ॥ यत्र यत्र भवेत्सार्थमिमं मन्त्रमुदीरयेत् । ब्रह्महा
जलमध्ये तु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ २५ ॥

रुद्ररूप पुरुष और उमारूप नारी, इस प्रकार दोनों रूपों में भगवान् रुद्र और भगवती उमा को नमन है। रुद्र ब्रह्मा और उमा वाणी हैं, इन दोनों रूपों में रुद्र और उमा को नमस्कार है। रुद्र विष्णु और उमा लक्ष्मी रूप हैं, दोनों को नमस्कार है। रुद्ररूप सूर्य और उमारूप छाया को नमस्कार है। रुद्र सोम(चन्द्र) हैं तथा उमा तारागण हैं, दोनों को नमस्कार है। रुद्र दिन हैं, उमा रात्रि हैं, इन रूपों में उन्हें नमस्कार है। रुद्ररूप यज्ञ और उमारूपी वेदी को नमस्कार है। रुद्ररूप अग्नि और उमारूप स्वाहा को प्रणाम है। रुद्र वेदरूप और उमा शास्त्ररूप में हैं, उन्हें प्रणाम है। वृक्ष और लतारूप शंकर-उमा को नमस्कार है। गन्ध और पुष्परूप शंकर-उमा को नमस्कार है। अर्थ और अक्षररूप शंकर-उमा को नमन है। लिङ्ग और पीठरूप शंकर-उमा को नमन है। इस प्रकार सभी देवों के रूप में रुद्र को अलग-अलग प्रणाम करे। इन्हीं मन्त्र-पदों द्वारा मैं भी शिव-पार्वती को नमस्कार करता हूँ। मनुष्य जहाँ कहीं भी रहे, वहाँ इस अर्धालीयुक्त मन्त्र का जप करता रहे। ब्रह्महत्या करने वाला भी यदि जल में प्रवेश करके इस मन्त्र का जप करता है, तो वह सभी पापों से मुक्त हो जाता है ॥ १७-२५ ॥

सर्वाधिष्ठानमद्वन्द्वं परं ब्रह्म सनातनम् । सच्चिदानन्दरूपं तदवाऽम्भनसगोचरम् ॥२६ ॥
तस्मिन्सुविदिते सर्वं विज्ञातं स्यादिदं शुक । तदात्मकत्वात्सर्वस्य तस्माद्विन्नं नहि क्वचित् ॥२७ ॥

हे शुक! सबके आश्रय स्थान, द्वन्द्वातीत, सच्चिदानन्द स्वरूप, मन और वाणी से अगोचर जो सनातन परम ब्रह्म है, उसे भली प्रकार जान लेने पर ये सम्पूर्ण रहस्य विदित हो जाते हैं; क्योंकि उस ब्रह्म से पृथक् कुछ भी नहीं है, यह सब उसी का स्वरूप है ॥ २६-२७ ॥

द्वे विद्ये वेदितव्ये हि परा चैवापरा च ते । तत्रापरा तु विद्यैषा ऋग्वेदो यजुरेव च ॥ २८ ॥
सामवेदस्तथाथर्ववेदः शिक्षा मुनीश्वर । कल्पो व्याकरणं चैव निरुक्तं छन्द एव च ॥ २९ ॥
ज्योतिषं च यथा नात्मविषया अपि बुद्ध्यः । अथैषा परमा विद्या ययात्मा परमाक्षरम् ॥ ३० ॥

दो विद्याएँ साधक के लिए जानने योग्य हैं- वे परा और अपरा हैं। ऋक्, यजुष्, साम, अर्थव, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष ये सब अपराविद्या के अन्तर्गत हैं। हे मुनीश्वर! इस विद्या में आत्मविषय के अतिरिक्त अन्य सभी प्रकार का बौद्धिक ज्ञान सन्त्रिहित है। जिससे आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है, उसे पराविद्या कहा गया है। वह आत्मतत्त्व परम अविनाशी है ॥ २८-३० ॥

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रं रूपवर्जितम् । अचक्षुः श्रोत्रमत्यर्थं तदपाणिपदं तथा ॥ ३१ ॥
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं च तदव्ययम् । तद्बूतयोनिं पश्यन्ति धीरा आत्मानभात्मनि ॥ ३२ ॥

वह न तो दिखाई देता है और न ग्रहण किया जाता है। वह नाम, रूप और गोत्रादि से रहित है। वह नेत्र, श्रोत्र और हाथ-पैर के अस्तित्व से रहित है। वह सर्वव्यापी, नित्य, सर्वगत, सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अविकारी है। वह सब प्राणियों का उत्पत्ति स्थान है। धीरपुरुष उस परमात्मतत्त्व को अपने ही आत्मा में देखते हैं ॥ ३१-३२ ॥
यः सर्वज्ञः सर्वविद्यो यस्य ज्ञानमयं तपः । तस्मादश्रान्तरूपेण जायते जगदावलिः ॥ ३३ ॥

सर्वज्ञता (भूत, भविष्यत्, वर्तमान का ज्ञान रखने वाला), सभी विद्याओं का आश्रय स्थल वह ब्रह्म ही है। ज्ञान ही जिसका तप है, उसी से भोक्ता एवं अन्न रूप इस (जड़-चेतन) जगत् की उत्पत्ति हुई है ॥ ३३ ॥

सत्यवद्वाति तत्सर्वं रजुसर्पवदास्थितम् ।

तदेतदक्षरं सत्यं तद्विजाय विमुच्यते ॥ ३४ ॥

सत्य की तरह प्रतीत होने वाला यह संसार ब्रह्म में उसी प्रकार स्थित है, जैसे रस्सी में सर्प का आभास होता है। अविनाशी ब्रह्म सत्य है, ऐसा ज्ञान रखने वाला मनुष्य मोक्ष पद को प्राप्त करता है ॥ ३४ ॥

ज्ञानेनैव हि संसारविनाशो नैव कर्मणा । श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं स्वगुरुं गच्छेद्यथाविधि ॥ ३५ ॥

ज्ञान द्वारा ही संसार रूपी पाश को काटा जाना सम्भव है, कर्म से इसे नहीं काटा जा सकता। अतएव साधक को श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ अपने गुरु के पास (ज्ञान प्राप्ति के लिए) विधिपूर्वक जाना चाहिए ॥ ३५ ॥

गुरुस्तस्मै परां विद्यां दद्याद्ब्रह्मात्मबोधिनीम् । गुहायां निहितं साक्षादक्षरं वेद चेन्नरः ॥ ३६ ॥
छित्त्वाऽविद्यामहाग्रन्थिं शिवं गच्छेत्सनातनम् । तदेतदमृतं सत्यं तद्वेद्व्यं मुमुक्षुभिः ॥ ३७ ॥

ऐसे साधक को गुरु, आत्मा और ब्रह्म के अभिन्न स्वरूप का बोध कराने वाली पराविद्या प्रदान करे। (हृदय) गुहा में स्थित उस अक्षरब्रह्म का जो साधक साक्षात्कार कर लेता है, ऐसा साधक अज्ञानरूपी महाग्रन्थि को काटकर सनातन शिवतत्त्व को प्राप्त करता है। मोक्ष की इच्छा रखने वाले साधकों के लिए यह अमृतरूप सत्य (परमात्मतत्त्व) जानने योग्य है ॥ ३६-३७ ॥

धनुस्तारं शरो ह्यात्मा ब्रह्म तलक्ष्यमुच्यते । अप्रमत्तेन वेद्व्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ ३८ ॥

प्रणव को धनुष और आत्मा को बाण की संज्ञा दी गई है, जिनसे ब्रह्मरूपी लक्ष्य का वेधन आलस्य-प्रमाद का परित्याग करके करना चाहिए। लक्ष्य को वेधने वाले बाण की तरह ही साधक को ब्रह्म में तन्मय हो जाना चाहिए ॥ ३८ ॥

लक्ष्यं सर्वगतं चैव शरः सर्वगतो मुखः । वेद्वा सर्वगतश्चैव शिवलक्ष्यं न संशयः ॥ ३९ ॥

ब्रह्मरूप लक्ष्य सर्वगत है, आत्मारूप बाण सब और मुख वाला है; परन्तु यदि साधकरूप वेद्वा भी सर्वगत हो, तो शिवरूप लक्ष्य का सन्धान करना सुनिश्चित हो जाता है ॥ ३९ ॥

न तत्र चन्द्रार्कवपुः प्रकाशते न वान्ति वाताः सकला देवताश्च ।

स एष देवः कृतभावभूतः स्वयं विशुद्धो विरजः प्रकाशते ॥ ४० ॥

जिस परमात्मा के पावनधारमें सूर्य और चन्द्र के विग्रह प्रकाशित नहीं होते, जहाँ वायुदेव और समस्त अन्य देवताओं की भी पहुँच नहीं, वही परमात्मा साधक द्वारा चिन्तन किये जाने पर शुद्ध एवं निर्गुण स्वरूप से प्रकाशित होते हैं ॥ ४० ॥

द्वौ सुपर्णो शरीरेऽस्मिञ्चीवेशाख्यौ सह स्थितौ । तयोर्जीवः फलं भुक्ते कर्मणो न महेश्वरः ॥ ४१ ॥

इस देहरूपी वृक्ष में जीव और ईश्वररूपी दो पक्षियों का निवास है, जिनमें जीवरूपी पक्षी तो कर्म का फल भोगता है, परन्तु ईश्वर कर्मों का भोक्ता नहीं (केवल द्रष्टा भर) है ॥ ४१ ॥

केवलं साक्षिरूपेण विना भोगं महेश्वरः । प्रकाशते स्वयं भेदः कल्पितो मायया तयोः ॥ ४२ ॥

ईश्वर कर्मफल का भोक्ता न होकर मात्र साक्षीरूप में प्रकाशमान रहता है। जीव और ईश्वर के भेद की त्वना माया के आधार पर ही की गई है ॥ ४२ ॥

घटाकाशमठाकाशौ यथाकाशप्रभेदतः । कल्पितौ परमौ जीवशिवरूपेण कल्पितौ ॥ ४३ ॥

घटाकाश और मठाकाश जिस प्रकार आकाश के ही कल्पित भेद हैं, उसी प्रकार परमात्मा के जीव और ईश्वर रूप भेद भी कल्पनाजन्य हैं ॥ ४३ ॥

तत्त्वतश्च शिवः साक्षाच्चिज्जीवश्च स्वतः सदा । चिच्छिदाकारतो भिन्ना न भिन्ना चित्त्वहानितः ॥

वास्तव में चिदरूप जीवात्मा स्वयं ही सदा साक्षात् शिव है। जीव और ईश्वर में चिन्मय उपाधि से युक्त आकार भेद से भिन्नता परिलक्षित होती है, स्वरूप से भिन्नता नहीं। यदि वास्तव में ही स्वरूप भेद हो तो दोनों का चित्स्वरूप ही विनष्ट हो जायेगा ॥ ४४ ॥

चितश्चिन्नं चिदाकाराद्बिद्यते जडरूपतः । भिद्यते चेजडो भेदश्चिदेका सर्वदा खलु ॥ ४५ ॥

चित् से चित् की भिन्नता चिदाकार स्वरूप से नहीं; अपितु यह जडरूप उपाधि से ही कल्पित है। यदि भेद दृष्टि है, तो यह जड़तायुक्त ही है। चित् तो सभी जगह एक जैसे स्वरूप वाला है ॥ ४५ ॥

**तर्कतश्च प्रमाणाच्च चिदेकत्वव्यवस्थितेः । चिदेकत्वपरिज्ञाने न शोचति न मुहूर्ति ॥ ४६ ॥
अद्वैतं परमानन्दं शिवं याति तु केवलम् ॥ ४७ ॥**

युक्ति और प्रमाण इन दोनों से ही चित् की एकता की परिपुष्टि होती है। अतएव चित् के एकत्व का बोध हो जाने पर मनुष्य न तो शोकग्रस्त रहता है और न मोह-बन्धन में जकड़ा रहता है, (अपितु इनसे मुक्त हो जाता है।) उसे अद्वैत परमानन्दस्वरूप शिवत्व की प्राप्ति हो जाती है ॥ ४६-४७ ॥

अधिष्ठानं समस्तस्य जगतः सत्यचिदधनम् । अहमस्मीति निश्चित्य वीतशोको भवेऽमुनिः ॥ ४८ ॥

सत्यरूप चिदधन ईश्वर समस्त संसार के आश्रय स्थान हैं। मनीषी जन 'वह मैं ही हूँ' (वह परमात्मा मैं ही हूँ) ऐसा निश्चय करके शोक से रहित हो जाते हैं ॥ ४८ ॥

स्वशरीरे स्वयं ज्योतिःस्वरूपं सर्वसाक्षिणम् । क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति नेतरे माययावृताः ॥ ४९ ॥

स्वयं ज्योतित सर्वसाक्षी ईश्वर को स्वकीय अन्तःकरण में वही पुरुष देख पाते हैं, जिनके कषाय-कल्पणों का क्षय हो चुका है; परन्तु जो प्रपञ्चात्मक माया से लिप्त हैं, वे उनके दर्शन लाभ से वंचित रहते हैं ॥ ४९ ॥
एवं रूपपरिज्ञानं यस्यास्ति परयोगिनः । कुत्रचिद्भूमनं नास्ति तस्य पूर्णस्वरूपिणः ॥ ५० ॥

जो महापुरुष आत्मस्वरूप के ज्ञान से युक्त हैं, ऐसे पूर्ण सिद्धावस्था को प्राप्त योगी का कहीं आवागमन नहीं होता (पुनर्जन्म नहीं होता) ॥ ५० ॥

आकाशमेकं संपूर्णं कुत्रचिन्नैव गच्छति । तद्वत्स्वात्मपरिज्ञानी कुत्रचिन्नैव गच्छति ॥ ५१ ॥

जिस प्रकार सम्पूर्ण आकाश का कहीं आना-जाना नहीं होता, उसी प्रकार आत्मज्ञान को प्राप्त करने वाला ज्ञानी पुरुष भी कहीं गमन नहीं करता ॥ ५१ ॥

**स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म यो वेद वै मुनिः । ब्रह्मैव भवति स्वस्थः सच्चिदानन्दमातृकः ॥
इत्युपनिषत् ॥ ५२ ॥**

जो मनीषी निश्चित ही परब्रह्म को जानने वाला है, वह स्वकीय स्वरूप में अवस्थित होकर स्वयं सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म ही कहलाता है। इस प्रकार यह उपनिषद् पूर्ण हुई ॥ ५२ ॥

ॐ सह नाववतु इति शान्तिः ॥

॥ इति रुद्रहृदयोपनिषत्समाप्ता ॥



॥ रुद्राक्षजाबालोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। 'रुद्राक्ष' की अतिशय महत्ता प्रकट करना उपनिषद् का प्रयोजन है। उपनिषद् का शुभारम्भ भुसुण्ड और कालाग्निरुद्र की आख्यायिका से हुआ है। सर्वप्रथम भुसुण्ड जी ने रुद्राक्ष की उत्पत्ति तथा उसके धारण का प्रतिफल पूछा है, जिसका उत्तर क्रमशः कालाग्निरुद्र भगवान् ने विस्तार से प्रदान किया है। उन्होंने क्रमशः रुद्राक्ष की उत्पत्ति, रुद्राक्ष के धारण और जप का प्रतिफल रुद्राक्ष के उत्तम-मध्यम और अधमभेद, रुद्राक्ष के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रभेद, ग्राह्य-अग्राह्य, रुद्राक्ष, शिखा आदि स्थानों में रुद्राक्ष धारण करने का विधान, उन-उन स्थानों पर रुद्राक्ष धारण करने के मन्त्र, रुद्राक्ष के मुख भेद (एकमुखी से चौदह मुखी तक), रुद्राक्ष धारण करने वाले के लिए वर्ज्य नियम (मांसाहार आदि) तथा अन्त में रुद्राक्ष विद्या के जानने की फलश्रुति का वर्णन किया है। इस प्रकार कुल मिलाकर 'रुद्राक्ष' के विषय में समग्र विवेचन इस उपनिषद् में किया गया है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-महोपनिषद्)

अथ हैनं कालाग्निरुद्रं भुसुण्डः पप्रच्छ कथं रुद्राक्षोत्पत्तिः । तद्वारणात्किं फलमिति ॥ १ ॥

एक बार भुसुण्ड ने कालाग्निरुद्र से पूछा-हे भगवन्! रुद्राक्ष की उत्पत्ति किस प्रकार हुई तथा उसके धारण से क्या फल प्राप्त होता है? ॥ १ ॥

तं होवाच भगवान्कालाग्निरुद्रः त्रिपुरवधार्थमहं निमीलिताक्षोऽभवम् । तेभ्यो जलबिन्दवो भूमौ पतितास्ते रुद्राक्षा जाताः । सर्वानुग्रहार्थाय तेषां नामोच्चारमात्रेण दशगोप्रदानफलं दर्शनस्पर्शनाभ्यां द्विगुणं फलमत ऊर्ध्वं उक्तं न शक्रोमि ॥ २ ॥

तब उन भगवान् कालाग्नि रुद्र ने कहा—जब मैं त्रिपुरासुर राक्षस को मारने के लिए आँखें बन्द कर समाधिस्थ हुआ, उसी समय आँखों से जल की बूँदें पृथकी पर गिरीं, वे बूँदें रुद्राक्ष बन गयीं। सबके कल्याण की कामना से कह रहा हूँ कि जो रुद्राक्ष का नाम भी ले लेता है, उसे दस गौओं के दान करने का फल प्राप्त होता है तथा उसका दर्शन कर लेने-उसका स्पर्श कर लेने से उसका भी दो गुना फल प्राप्त होता है। इससे ज्यादा क्या कहें? ॥ २ ॥

तत्रैते श्रोका भवन्ति—कस्मिस्थितं तु किं नाम कथं वा धार्यते नरैः । कतिभेदमुखान्यत्र कैमत्रैर्धार्यते कथम् ॥ ३ ॥

इसके बारे में ये श्रोक कहे गये हैं— (प्रश्न-रुद्राक्ष) कहाँ स्थित है? क्या नाम है? इसे मनुष्य को कैसे धारण करना चाहिए? कितने प्रकार के भेद हैं? किन-किन मंत्रों से धारण करना चाहिए? ॥ ३ ॥

दिव्यवर्षसहस्राणि चक्षुरुमीलितं मया । भूमावक्षिपुटाभ्यां तु पतिता जलबिन्दवः ॥ ४ ॥
(उत्तर-समाधि अवस्था में) सहस्र दिव्यवर्ष (देव वर्ष) व्यतीत हो जाने पर मैंने जिस समय नेत्र खोले, उसी समय (मेरे) नेत्रों से जल की बूँदें निकलीं और वे पृथकी पर गिरीं ॥ ४ ॥

तत्राश्रुबिन्दवो जाता महारुद्राक्षवृक्षकाः । स्थावरत्वमनुप्राप्य भक्तानुग्रहकारणात् ॥५॥

वहीं (पृथ्वी) पर वे बूँदें महारुद्राक्ष का पेड़ बन कर भक्तों पर कृपा करने के लिए स्थावर अर्थात् अचल हो गई ॥५॥

भक्तानां धारणात्पापं दिवारात्रिकृतं हरेत् । लक्षं तु दर्शनात्पुण्यं कोटिस्तद्वारणाद्वेत् ॥६॥

तस्य कोटिशतं पुण्यं लभते धारणान्नरः । लक्षकोटिसहस्राणि लक्षकोटिशतानि च ॥७॥

तज्जपालभते पुण्यं नरो रुद्राक्षधारणात् । धात्रीफलप्रमाणं यच्छ्रेष्ठमेतदुदाहतम् ॥८॥

जो भक्त इसको धारण करता है, यह उसके दिन एवं रात में किये हुए पापों का हरण कर लेता है। इसके दर्शन से लाखगुना तथा धारण करने से कोटिगुना फल प्राप्त होता है। उसे धारण करने से मनुष्य को (जप की अपेक्षा) उसका सौ कोटि (अरब) गुना पुण्य प्राप्त होता है, इतना ही नहीं श्रद्धा-भावपूर्वक धारण करने पर उसका भी लाख से सौ गुना एवं लाख करोड़ से हजार गुना फल प्राप्त होता है। मनुष्य रुद्राक्ष धारण करके उन (रुद्र) के जप करने का पुण्य प्राप्त कर लेता है। आँखें के बराबर का रुद्राक्ष श्रेष्ठ माना गया है ॥६-८॥

[यहां रुद्राक्ष के दर्शन तथा धारण करने के पुण्यफल का विवेचन है। साधारणतया उसकी असाधारण क्षमता का पता नहीं चलता; परन्तु साधकों एवं धारण करने वालों का अनुभव है कि 'रुद्राक्ष' में आध्यात्मिक गुणों की अधिकता के साथ उसमें 'हृदय' सम्बन्धी विकारों को दूर करने की अत्यधिक क्षमता है। यहीं उसकी महिमा का अतिशयित वर्णन किया गया प्रतीत होता है।]

बद्रीफलमात्रं तु मध्यमं प्रोच्यते बुधैः । अधमं चणमात्रं स्यात्प्रक्रियैषा मयोच्यते ॥९॥

जो रुद्राक्ष बेर के बराबर हो, उसे मध्यम तथा चने के समान वाले रुद्राक्ष को विद्वानों ने अधम कहा है। अब उसकी प्रक्रिया को कहते हैं ॥९॥

ब्राह्मणः क्षत्रिया वैश्या: शूद्राश्वेति शिवाज्ञया ।

वृक्षा जाताः पृथिव्यां तु तज्जातीयाः शुभाक्षकाः ॥१०॥

वह मंगलकारी रुद्राक्ष ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र जाति के वृक्ष के रूप में उन-उन जातियों के कल्याण के लिए भगवान् शिव की आज्ञा से पृथ्वी पर उत्पन्न हुआ ॥१०॥

श्वेतास्तु ब्राह्मण ज्ञेयाः क्षत्रिया रक्तवर्णकाः ।

पीतास्तु वैश्या विज्ञेयाः कृष्णाः शूद्रा उदाहताः ॥११॥

श्वेत को ब्राह्मणवर्ण, रक्त को क्षत्रियवर्ण, पीत को वैश्यवर्ण तथा काले को शूद्रवर्ण का रुद्राक्ष कहा जाता है ॥११॥

ब्राह्मणो बिभृयाच्छ्वेतात्रक्तात्राजा तु धारयेत् । पीतान्वैश्यस्तु बिभृयात्कृष्णाज्ज्वरस्तु धारयेत् ॥१२॥

श्वेत रुद्राक्ष को ब्राह्मण धारण करे, लाल रुद्राक्ष को क्षत्रिय, पीत रुद्राक्ष को वैश्य तथा काले रुद्राक्ष को शूद्र को धारण करना चाहिए ॥१२॥

समाः स्त्रिग्धा दृढाः स्थूलाः कण्टकैः संयुताः शुभाः ।

कृमिदृष्टं छिन्नभिन्नं कण्टकैर्हीनमेव च ॥१३॥

ब्रणयुक्तमयुक्तं च षड्रुद्राक्षाणि वर्जयेत् ।

स्वयमेव कृतद्वारं रुद्राक्षं स्यादिहोत्तमम् ॥१४॥

मजबूत, चिकने, समान रूप से गोलाई लिए हुए, मोटे काँटों से युक्त इस प्रकार के रुद्राक्ष को शुभ कहा जाता है; जिसमें कीड़ा लगा हुआ हो, जो टूटा-फूटा हुआ हो, जो काँटों से रहित हो, जिनमें (कीड़ों का खाया) छेद हो तथा जो ठीक न लगता हो, ये छः प्रकार के रुद्राक्ष त्याज्य हैं; जिसमें प्राकृतिक छेद हो, उसे उत्तम रुद्राक्ष कहा गया है ॥ १३-१४ ॥

यत्तु पौरुषयत्रेन कृतं तन्मध्यमं भवेत् । समान्त्रिग्रथान् दृढान् स्थूलान् क्षौमसूत्रेण धारयेत् ॥ १५ ॥

(माला में पिरोने के लिए) जिसमें छेद किया जाता है, उसे मध्यम कहा गया है। धारण करने के लिए समानरूप वाले, चिकने, दृढ़, मोटे रुद्राक्षों को रेशमी धागे में पिरोना चाहिए ॥ १५ ॥

सर्वगात्रेण सौम्येन सामान्यानि विचक्षणः । निकषे हेमरेखाभा यस्य रेखा प्रदृश्यते ॥ १६ ॥
तदक्षमुत्तमं विद्यात्तद्वार्यं शिवपूजकैः । शिखायामेकरुद्राक्षं त्रिंशतं शिरसा वहेत् ॥ १७ ॥

सभी का आकार सामान्य, सौम्य और एकरूप होना चाहिए। जिसमें स्वर्ण जैसी रेखा झलकती हो, शिव भक्तों को उसी प्रकार का रुद्राक्ष धारण करना चाहिए। एक रुद्राक्ष चोटी में एवं माला में पिरोकर सिर पर तीस रुद्राक्ष धारण करे ॥ १६-१७ ॥

षट्त्रिंशतं गले दध्याद्वाहोः षोडशषोडश । मणिबन्धे द्वादशैव स्कन्धे पञ्चदशं वहेत् ॥ १८ ॥

छत्तीस रुद्राक्ष कण्ठ में, सोलह-सोलह रुद्राक्ष दोनों भुजाओं में, बारह रुद्राक्ष मणिबन्ध अर्थात् हाथ की कलाई में तथा पंद्रह रुद्राक्ष कन्धे पर धारण करना चाहिए ॥ १८ ॥

अष्टोत्तरशतैर्मालामुपवीतं प्रकल्पयेत् । द्विसरं त्रिसरं वापि सराणां पञ्चकं तथा ॥ १९ ॥
सराणां सप्तकं वापि बिभृयात्कण्ठदेशतः । मुकुटे कुण्डले चैव कर्णिकाहारकेऽपि वा ॥ २० ॥

गले में एक सौ आठ दानों की माला उपवीत की तरह धारण करनी चाहिए। दो, तीन, पाँच अथवा सात लड़ियों की माला गले में धारण करनी चाहिए। कान की बाली, कुण्डल एवं मुकुट के रूप में भी रुद्राक्षों को धारण करना चाहिए ॥ १९-२० ॥

केयूरकटके सूत्रं कुक्षिबन्धे विशेषतः । सुसे पीते सदाकालं रुद्राक्षं धारयेन्नरः ॥ २१ ॥

विशेष सूत्र में पिरोई हुई माला को बाजूबन्द तथा कुक्षिबंद के रूप में सोते-जागते सर्वदा धारण किये रहना चाहिए ॥ २१ ॥

त्रिंशतं त्वधमं पञ्चशतं मध्यममुच्यते । सहस्रमुत्तमं प्रोक्तमेवं भेदेन धारयेत् ॥ २२ ॥

एक सहस्र रुद्राक्ष धारण करने को उत्तम, पाँच सौ को मध्यम तथा तीन सौ रुद्राक्ष को अधम कहा गया है। इसलिए इस प्रकार भेद समझकर धारण करना चाहिए ॥ २२ ॥

शिरसीशानमंत्रेण कण्ठे तत्पुरुषेण तु । अघोरेण गले धार्यं तेनैव हृदयेऽपि च ॥ २३ ॥

‘ईशानः सर्वविद्यानां’ (महा०ना० उप० १७/५) इस मंत्र से सिर में धारण करे, ‘तत्पुरुषाय विद्यहे महादेवाय’ (महा०ना०उप० २/२, १७/४) इस मंत्र से कण्ठ में तथा ‘अघोरेभ्यो’ (महा०ना० उप० १६/३) इस मंत्र से गले एवं हृदय में रुद्राक्ष धारण करना चाहिए ॥ २३ ॥

अघोरबीजमन्त्रेण करयोर्धरयेत्सुधीः । पञ्चाशदक्षग्रथितान्व्योमव्याप्यि चोदरे ॥ २४ ॥

पञ्च ब्रह्मभिरङ्गेश्च त्रिमाला पञ्च सप्त च । ग्रथित्वा मूलमन्त्रेण सर्वाण्यक्षाणि धारयेत् ॥ २५ ॥

विद्वानों को चाहिए कि अघोर बीज मंत्र से हाथों में रुद्राक्ष धारण करें। रुद्राक्ष के बीच वाले छेद में धागा पिरोते समय ‘अ’ से ‘क्ष’ तक के पचासों अक्षरों को प्रत्येक रुद्राक्ष के साथ भावना पूर्वक विन्यस्त-आरोपित

करे। तत्पश्चात् पंचब्रह्ममंत्र या पंचाक्षरी मंत्र (३० नमः शिवाय) से रुद्राक्ष को अभिमंत्रित करे, तत्पश्चात् (अक्षमालिकोपनिषद् के अनुसार) प्राण-प्रतिष्ठा करके मूल मंत्र से पिरोये तथा सात, पाँच अथवा तीन मालाओं की तरह धारण करे॥ २४-२५॥

अथ हैनं भगवन्तं कालाग्निरुद्रं भुसुण्डः पप्रच्छ रुद्राक्षाणां भेदेन यदक्षं यत्स्वरूपं यत्फलमिति । तत्स्वरूपं मुख्युक्तमरिष्टनिरसनं कामाभीष्टफलं ब्रूहीति होवाच ॥ २६ ॥

इसके पश्चात् भुसुण्ड ने भगवान् कालाग्निरुद्र से प्रश्न किया कि इन रुद्राक्षों के कितने भेद हैं, इनका क्या स्वरूप है तथा इनसे क्या फल मिलता है? मुखों के भेद से अरिष्टनिवारण व मनोवांछित फल प्राप्ति के बारे में बताने की कृपा करें॥ २६॥

तत्रैते श्रोका भवन्ति— एकवक्त्रं तु रुद्राक्षं परतत्त्वस्वरूपकम् ।

तद्वारणात्परे तत्त्वे लीयते विजितेन्द्रियः ॥ २७ ॥

इसके बारे में ये श्रोक हैं—एक मुँह का रुद्राक्ष साक्षात् परमतत्त्व का रूप है। इंद्रियों को वशीभूत करते हुए जो भी उसे धारण करता है, वह परात्परतत्त्व शिव में लीन हो जाता है॥ २७॥

द्विवक्त्रं तु मुनिश्रेष्ठं चार्धनारीश्वरात्मकम् । धारणादर्थनारीशः प्रीयते तस्य नित्यशः ॥ २८ ॥

हे मुनिश्रेष्ठ! दो मुँह वाले रुद्राक्ष को अर्धनारीश्वर रूप कहा गया है, जो सदैव उसे धारण किये रहते हैं, उन पर निरंतर अर्धनारीश्वर भगवान् शिव की कृपा बनी रहती है॥ २८॥

त्रिमुखं चैव रुद्राक्षमग्नित्रयस्वरूपकम् । तद्वारणाच्च हुतभुक्तस्य तुष्यति नित्यदा ॥ २९ ॥

तीन मुँह वाले रुद्राक्ष को अग्नित्रय स्वरूप कहा जाता है, उसको धारण किये रहने पर सदैव अग्नि भगवान् की कृपा बनी रहती है॥ २९॥

चतुर्मुखं तु रुद्राक्षं चतुर्वक्त्रस्वरूपकम् । तद्वारणाच्चतुर्वक्त्रः प्रीयते तस्य नित्यदा ॥ ३० ॥

चतुर्मुख भगवान् के रूप में चार मुखी रुद्राक्ष कहा गया है, उसको धारण करने वाले पर चतुर्मुख भगवान् की कृपा सदैव बनी रहती है॥ ३०॥

पञ्चवक्त्रं तु रुद्राक्षं पञ्चब्रह्मस्वरूपकम् । पञ्चवक्त्रः स्वयं ब्रह्म पुंहत्यां च व्यपोहति ॥ ३१ ॥

पंचमुखी रुद्राक्ष को पंचब्रह्म अर्थात् पाँच मुँह वाले शिव का रूप कहा जाता है, उसको धारण करने पर स्वयं ब्रह्मरूप भगवान् शिव पुरुष की हत्या के दोष को समाप्त कर देते हैं॥ ३१॥

षट्वक्त्रमपि रुद्राक्षं कार्तिकेयाधिदैवतम् । तद्वारणान्महाश्रीः स्यान्महदारोग्यमुत्तमम् ॥ ३२ ॥

षणमुखी रुद्राक्ष को कार्तिकेय का स्वरूप कहा जाता है। उसको धारण करने वाले पर महालक्ष्मी की कृपा होती है एवं उत्तम आरोग्यता प्राप्त होती है॥ ३२॥

मतिविज्ञानसंपत्तिशुद्धये धारयेत्सुधीः । विनायकाधिदैवं च प्रवदन्ति मनीषिणः ॥ ३३ ॥

ज्ञानवान् मनुष्य इसको गणेश का रूप भी मानते हैं, इसलिए बुद्धिमान् मनुष्य इसे विद्या, बुद्धि एवं लक्ष्मी की वृद्धि के लिए धारण करें, ऐसा मनीषियों का मत है॥ ३३॥

सप्तवक्त्रं तु रुद्राक्षं सप्तमात्रधिदैवतम् । तद्वारणान्महाश्रीः स्यान्महदारोग्यमुत्तमम् ॥ ३४ ॥

सप्तमुखी रुद्राक्ष सात लोक, सप्त मातृशक्ति (ब्राह्मी, वैष्णवी आदि) का स्वरूप होता है, इसके धारण करने मात्र से महान् सम्पत्ति एवं अत्युत्तम आरोग्य की प्राप्ति होती है॥ ३४॥

महती ज्ञानसंपत्तिः शुचिर्धारणतः सदा । अष्टवक्त्रं तु रुद्राक्षमष्टमात्रधिदैवतम् ॥ ३५ ॥

वस्वष्टकप्रियं चैव गङ्गाप्रीतिकरं तथा । तद्वारणादिमे प्रीता भवेयुः सत्यवादिनः ॥ ३६ ॥

इसे पवित्रतापूर्वक धारण करने से सर्वदा महान् ज्ञान एवं सम्पत्ति प्राप्त होती है । अष्टमुखी रुद्राक्ष को आठ माताओं का स्वरूप कहा जाता है एवं इसे अष्टवसु प्रिय भी कहा गया है, यह गंगा जी को भी प्रीतिकर है । सत्यवादी मनुष्य को इसे धारण करने पर तीनों की कृपा प्राप्त होती है ॥ ३५-३६ ॥

नववक्त्रं तु रुद्राक्षं नवशक्त्यधिदैवतम् । तस्य धारणमात्रेण प्रीयन्ते नव शक्तयः ॥ ३७ ॥

नौमुखी रुद्राक्ष को नौ शक्तियों वाला देवता कहा जाता है, इसके धारण करने वाले को नौ शक्तियों की प्रसन्नता-कृपा प्राप्त होती है ॥ ३७ ॥

दशवक्त्रं तु रुद्राक्षं यमदैवत्यमीरितम् । दर्शनाच्छान्तिजनकं धारणान्नात्र संशयः ॥ ३८ ॥

दसमुखी रुद्राक्ष को यम देवता का स्वरूप कहा जाता है, जिसका दर्शन ही शांति देने वाला एवं धारण करना परम शांति प्रदाता है, इसमें तनिक भी संशय नहीं ॥ ३८ ॥

एकादशमुखं त्वक्षं रुद्रैकादशदैवतम् । तदिदं दैवतं प्राहुः सदा सौभाग्यवर्धनम् ॥ ३९ ॥

ग्यारहमुखी रुद्राक्ष को एकादशरुद्र देवता का स्वरूप कहा जाता है । वे एकादश रुद्रदेव सदैव सौभाग्य संवर्धन करने वाले होते हैं ॥ ३९ ॥

रुद्राक्षं द्वादशमुखं महाविष्णुस्वरूपकम् । द्वादशादित्यरूपं च बिभत्येव हि तत्परः ॥ ४० ॥

द्वादशमुखी रुद्राक्ष को महाविष्णु का स्वरूप कहा जाता है, इसे द्वादश आदित्यों का रूप भी मानते हैं, इसको धारण करने पर व्यक्ति तत्पर अर्थात् महाविष्णु और द्वादश आदित्य परायण हो जाता है ॥ ४० ॥

त्रयोदशमुखं त्वक्षं कामदं सिद्धिदं शुभम् । तस्य धारणमात्रेण कामदेवः प्रसीदति ॥ ४१ ॥

तेरहमुखी रुद्राक्ष को मनोकामनाओं एवं सिद्धियों का प्रदाता कहा गया है । इसके धारण मात्र से कामदेव की कृपा प्राप्त होती है, इसे सब प्रकार से शुभ कहा गया है ॥ ४१ ॥

चतुर्दशमुखं चाक्षं रुद्रनेत्रसमुद्भवम् । सर्वव्याधिहरं चैव सर्वदारोग्यमाप्नुयात् ॥ ४२ ॥

चौदहमुखी रुद्राक्ष की उत्पत्ति साक्षात् रुद्र भगवान् के नेत्रों से हुई है । यह परम आरोग्यदायक सर्व रोग-हारी है ॥ ४२ ॥

मद्यं मांसं च लशुनं पलाण्डुं शिग्गुमेव च । श्रेष्ठातकं विड्वराहमभक्ष्यं वर्जयेन्नरः ॥ ४३ ॥

रुद्राक्ष धारण करने वाले (भक्त) को लहसुन, प्याज, शिग्गु (कुकुरमुत्ता जैसे पदार्थ), लिसोड़ा, विड्वराह (एक प्रकार का शाक), शराब एवं मांस आदि अभक्ष्य वस्तुओं का त्याग कर देना चाहिए ॥ ४३ ॥

ग्रहणे विषुवे चैवमयने संक्रमेऽपि च । दर्शेषु पूर्णमासे च पूर्णेषु दिवसेषु च ।
रुद्राक्षधारणात्सद्यः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ४४ ॥

अमावस्या, पौर्णमासी, अयन (उत्तरायण-दक्षिणायन) योग के समय, (तुला, मेष आदि की) संक्रान्ति के समय, जब दिन और रात बराबर होते हैं, जब दिन पूर्ण हो रहा हो एवं ग्रहण (सूर्य-चन्द्र) के समय रुद्राक्ष धारण किया जाए, तो मनुष्य अतिशीघ्र पापों से मुक्त हो जाता है ॥ ४४ ॥

रुद्राक्षमूलं तद्वालं विष्णुरेव च । तन्मुखं रुद्र इत्याहुस्तद्विन्दुः सर्वदेवताः ॥ ४५ ॥

रुद्राक्ष के मूल में ब्रह्मा, नाल अर्थात् छिद्र वाले भाग में विष्णु, मुख अर्थात् रुद्राक्ष में पड़ी रेखाओं में शिव तथा कण्टक रूप बिन्दुओं में समस्त देवताओं का निवास होता है ॥ ४५ ॥

अथ कालाग्निरुद्रं भगवन्तं सनत्कुमारः पप्रच्छाधीहि भगवन्तुद्राक्षधारणविधिम् । तस्मिन्समये निदाघजडभरतदत्तात्रेयकात्यायनभरद्वाजकपिलवसिष्ठपिप्पलादयश्च कालाग्निरुद्रं परिसमेत्योचुः । अथ कालाग्निरुद्रः किमर्थं भवतामागमनमिति होवाच । रुद्राक्षधारणविधिं वै सर्वे श्रोतुमिच्छामह इति ॥ ४६ ॥

इसके पश्चात् ऋषिवर्य सनत्कुमार ने भगवान् कालाग्निरुद्र से प्रश्न किया कि हे भगवन्! रुद्राक्ष के धारण करने का विधान बताने की कृपा करें । उसी समय निदाघ, जड़भरत, दत्तात्रेय, कात्यायन, भरद्वाज, कपिल, वसिष्ठ, पिप्पलाद आदि ऋषिगण भगवान् कालाग्निरुद्र के चारों ओर आसन लगाकर बैठ गये । तब भगवान् कालाग्नि रुद्र ने उनसे पूछा - आप लोगों का आगमन क्यों हुआ? यह सुनकर उन ऋषियों ने कहा कि हम लोग भी रुद्राक्ष के धारण करने की विधि जानना चाहते हैं ॥ ४६ ॥

अथ कालाग्निरुद्रः प्रोवाच । रुद्रस्य नयनादुत्पन्ना रुद्राक्षा इति लोके ख्यायन्ते । अथ सदाशिवः संहारकाले संहारं कृत्वा संहारक्षं मुकुलीकरोति । तन्नयनाज्ञाता रुद्राक्षा इति होवाच । तस्माद्वुद्राक्षत्वमिति कालाग्निरुद्रः प्रोवाच ॥ ४७ ॥

भगवान् कालाग्निरुद्र ने कहा-रुद्र भगवान् के चक्षुओं से पैदा होने से इसका नाम रुद्राक्ष हुआ । जब भगवान् शिव प्रलयकाल में प्रलय करके अपने संहारक चक्षुओं को बन्द कर लेते हैं, उन्हीं नेत्रों से उत्पन्न होने के कारण वह रुद्राक्ष कहलाया । इस प्रकार कालाग्निरुद्र ने रुद्राक्ष का रुद्राक्षत्व बताया ॥ ४७ ॥

तद्वुद्राक्षे वाग्विषये कृते दशगोप्रदानेन यत्फलमवाप्नोति तत्फलमश्रुते । स एष भस्मज्योती रुद्राक्ष इति । तद्वुद्राक्षं करेण स्पृष्ट्वा धारणमात्रेण त्रिसहस्रगोप्रदानफलं भवति । तद्वुद्राक्षे कर्णयोर्धार्यमाणे एकादशसहस्रगोप्रदानफलं भवति । एकादशरुद्रत्वं च गच्छति । तद्वुद्राक्षे शिरसि धार्यमाणे कोटिगोप्रदानफलं भवति । एतेषां स्थानानां कर्णयोः फलं वर्तुं न शक्यमिति होवाच ॥ ४८ ॥

दस गौओं को दान करने से जो फल प्राप्त होता है, वही फल 'रुद्राक्ष' नाम का उच्चारण करने से प्राप्त होता है । उसे ही भस्मज्योती रुद्राक्ष कहते हैं । रुद्राक्ष को हाथ से स्पर्श करके धारण करने से दो सहस्र गौओं के दान करने का फल प्राप्त होता है । दोनों कानों में उन रुद्राक्षों को धारण करने पर ग्यारह सहस्र गोदान का फल प्राप्त होता है । इसे धारण करने वाला एकादशरुद्रों के समीप पहुँच जाता है । सिर पर रुद्राक्ष धारण करने से कोटि गोदान का फल मिलता है । कान आदि स्थानों के धारण का फल वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ ४८ ॥

य इमां रुद्राक्षजाबालोपनिषदं नित्यमधीते बालो वा युवा वा वेद स महाभ्ववति । स गुरुः सर्वेषां मन्त्राणामुपदेष्टा भवति । एतैरेव होमं कुर्यात् । एतैरेवार्चनम् । तथा रक्षोद्यं मृत्युतारकं गुरुणा लब्धं कण्ठे बाहौ शिखायां वा बधीत । समद्वीपवती भूमिर्दक्षिणार्थं नावकल्पते । तस्माच्छ्रद्धया यां कांचिद्गां दद्यात्सा दक्षिणा भवति । य इमामुपनिषदं ब्रह्मणः प्रातरधीयानो रात्रिकृतं पापं नाशयति । सायमधीयानो दिवसकृतं पापं नाशयति । मध्याह्नेऽधीयानः षड्जन्मकृतं पापं नाशयति । सायं प्रातः प्रयुज्जानोऽनेकजन्मकृतं पापं नाशयति । षट्सहस्रलक्षगायत्रीजप-फलमवाप्नोति । ब्रह्महत्यासुरापानस्वर्णस्तेयगुरुदारगमनतत्संयोगपातकेभ्यः पूतो भवति ।

सर्वतीर्थफलमश्रुते । पतितसंभाषणात्पूतो भवति । पडिक्तशतसहस्रपावनो भवति ।
शिवसायुज्यमवाप्नोति । न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तत इत्यों सत्यमित्युपनिषत् ॥ ४९ ॥

इस रुद्राक्षजाबालोपनिषद् का जो नियमित रूप से पाठ करता है, वह युवक, बालक जो भी हो महान् ज्ञानी होता है । वही गुरु एवं मंत्र उपदेश होता है ? इसी (उपनिषद् मन्त्र) से हवन-पूजन करना चाहिए । राक्षसों एवं मृत्यु के विनाश के लिए गुरु के द्वारा प्राप्त करके रुद्राक्ष को गले, भुजा या चोटी में बाँधना चाहिए । यदि इसकी दक्षिणा के लिए गुरु को सातों द्वीपों की पृथ्वी दे दी जाये, तो भी कम है । इसलिए श्रद्धापूर्वक जो दे दी जाए, वही दक्षिणा है । इस उपनिषद् का जो ब्राह्मण प्रातःकाल पाठ करता है, उसके रात्रि में किये हुए पाप समाप्त हो जाते हैं तथा सायंकाल पाठ करने से यह दिन में किये गये पापों को नष्ट कर देता है । जो साधक दोपहर में पाठ करता है, उसके छः जन्मों में किये हुए पाप भी नष्ट हो जाते हैं । प्रत्येक दिन प्रातःकाल एवं सायंकाल पाठ करने से कई जन्मों के पापों से मुक्त हो जाता है एवं छः सहस्र लक्ष गायत्री मंत्र जप से प्राप्त होने वाले फल को प्राप्त करता है तथा स्वर्ण चोरी, शराब पीने, ब्रह्महत्या एवं गुरुपत्नीगमन आदि पापों से भी मुक्त होकर पवित्र हो जाता है । समस्त तीर्थों में जाने से होने वाला पुण्य फल भी प्राप्त कर लेता है । पतितों से संभाषण करने पर जो पुण्य क्षय होता तथा जो पाप लगता है, उससे पवित्र हो जाता है तथा वह (साधक) सैकड़ों-हजारों व्यक्तियों को पवित्र बना देता है एवं शिवजी का सायुज्य (निकट निवास) प्राप्त कर लेता है । पुनः उसका जन्म नहीं होता, पुनः उसका जन्म नहीं होता । ३० (ही) सत्य है । यही उपनिषद् है ॥ ४९ ॥

३० आप्यायन्तु इति शान्तिः ॥

॥ इति रुद्राक्षजाबालोपनिषत्समाप्ता ॥



॥ रुद्रोपनिषद् ॥

यह तीन मन्त्रों की लघुकाय उपनिषद् है। इसमें सर्वप्रथम श्रेष्ठ ब्राह्मण की स्थिति स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि जो 'शिव' (शिवत्व-लोककल्याण) की उपासना में रत रहता है, वही श्रेष्ठ ब्राह्मण है, शिव भक्ति से विहीन ब्राह्मण चाण्डाल की श्रेणी में परिगणित होगा। इसके बाद शिवभक्त चाण्डाल के हाथ की भस्म को यज्ञ भस्म से श्रेष्ठ प्रतिपादित किया गया है। पुनः अग्नि, वायु स्थल, जल एवं आकाश आदि सभी को भस्म रूप माना गया है। उसे शिरोधार्य करने की बात कही गई है। आगे चलकर 'शिव' को प्राणलिङ्गी (प्राणतत्त्व से पहचाना जाने वाला) कहा गया है, शिवभक्त चाण्डाल को भी श्रेष्ठ प्राणलिङ्गी माना गया है। तत्पश्चात् शिव और 'गुरु' को एक रूप बताते हुए कहा गया है कि जो भी व्यक्ति शिव और गुरु को एक रूप मानकर उनकी पूजा-उपासना करता है, वह जन्म-जन्मान्तरों के पापों से मुक्त होकर 'शिव' की प्रीति (प्रसन्नता) का अधिकारी बन जाता है। अन्त में भगवान् शिव और गुरु की शरण में जाने का निर्देश देते हुए उपनिषद् को पूर्णता प्रदान की गई है।

विश्वमयो ब्राह्मणः शिवं ब्रजति । ब्राह्मणः पञ्चाक्षरमनुभवति । ब्राह्मणः शिवपूजारतः । शिवभक्तिविहीनश्वेत् स चण्डाल उपचण्डालः । चतुर्वेदज्ञोऽपि शिवभक्त्यान्तर्भवतीति स एव ब्राह्मणः । अधमश्चाण्डालोऽपि शिवभक्तोऽपि ब्राह्मणाच्छ्रेष्ठतरः । ब्राह्मणस्त्रिपुण्ड्रधृतः । अत एव ब्राह्मणः । शिवभक्तेरेव ब्राह्मणः । शिवलिङ्गार्चनयुतश्चाण्डालोऽपि स एव ब्राह्मणाधिको भवति । अग्निहोत्रभसिताच्छिवभक्तचाण्डालहस्तविभूतिः शुद्धा । कपिशा वा श्वेतजापि धूमवर्णा वा । विरक्तानां तपस्विनां शुद्धा । गृहस्थानां निर्मलविभूतिः । तपस्विभिः सर्वभस्म धार्यम् । यद्वा शिवभक्तिसंपुष्टं सदापि तद्वसितं देवताधार्यम् ॥ १ ॥

विश्वमय (विश्वबन्धुत्व भावयुक्त) ब्राह्मण शिव (शिवत्व) के निकट जाता है। (वह) ब्राह्मण पञ्चाक्षर (नमः शिवाय) की अनुभूति करता है। (वही ब्राह्मण श्रेष्ठ है) जो निरन्तर शिव की पूजा में रत (लगा) रहता है। यदि वह शिवभक्ति विहीन होगा, तो चाण्डाल या उपचाण्डाल समझा जायेगा। चारों वेदों का ज्ञान होते हुए भी जो शिवभक्ति से अत्यन्त अन्तर्मुखी वृत्ति वाला है, वही ब्राह्मण है। अधम-नीच चाण्डाल भी यदि शिव की भक्ति से ओत-प्रोत है, तो (वह भी) ब्राह्मण से श्रेष्ठ होता है। जो ब्राह्मण त्रिपुण्ड्र धारण किये रहता है, वही श्रेष्ठ ब्राह्मण है। इसी में उसका ब्राह्मणत्व है। शिवभक्ति से युक्त ही वह ब्राह्मण कहलायेगा। शिवलिङ्ग का पूजन करने वाला चाण्डाल भी ब्राह्मण से अधिक उत्कृष्ट होता है। यज्ञ की भस्म से भी श्रेष्ठ शुद्ध भस्म शिवभक्त चाण्डाल के हाथ की होती है। यह भस्म कुछ ताप्र वर्ण, श्वेत, मटमैली धुएँ के सदृश तीन प्रकार की होती है। विरक्त तपस्वियों के लिए शुद्ध, गृहस्थियों के लिए स्वच्छ-साफ भस्म ही ठीक हुआ करती है। तपस्वियों को ज्ञान के रूप में भाव कर लिया जाये, उसे धारण कर लेना चाहिए। वही (भस्म) देवों के द्वारा भी ग्रहणीय है ॥१॥

ॐ अग्निरिति भस्म । वायुरिति भस्म । स्थलमिति भस्म । जलमिति भस्म । व्योमेति भस्म इत्याद्युपनिषत्कारणात् तत् कार्यम् । अन्यत्र 'विश्वतश्शक्तुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोहस्त उत विश्वतस्पात् । सं बाहुभ्यां नमति सं पतत्रैर्द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः ।' तस्मात्प्राणलिङ्गी शिवः । शिव एव प्राणलिङ्गी । जटाभस्मधारोऽपि प्राणलिङ्गी हि श्रेष्ठः । प्राणलिङ्गी शिवरूपः । शिवरूपः प्राणलिङ्गी । जड़मरूपः शिवः । शिव एव जड़मरूपः । प्राणलिङ्गिनां शुद्धसिद्धिने अलिङ्गी विशेष इत्याह । य एवं वेद स शिवः । शिव एव रुद्रः प्राणलिङ्गी नान्यो भवति ॥ २ ॥

अग्नि, वायु, स्थल, जल एवं आकाश आदि सभी तत्त्व भस्मरूप हैं, ऐसा जान कर इसे धारण करना चाहिए। अन्यत्र कहा गया है—वह ईश्वर सभी ओर आँख वाला, मुँह वाला, हाथ वाला और पैर वाला है। वह एकमात्र देव पृथिवी-आकाश को हाथों द्वारा प्रकट करता है। वह सभी के द्वारा प्रणाम करने योग्य है। समस्त (जल, थल एवं आकाश में गमन करने वाले) लोग उसे प्रणाम करते हैं। इसलिए प्राणलिङ्गी (प्राण तत्त्व से पहचाना जाने वाला) ही शिव है। शिव प्राणलिङ्गी हैं। जटा एवं भस्म को धारण करने वाला ही प्राणलिङ्गी सर्वत्रेष्ठ है। प्राणलिङ्गी शिवस्वरूप एवं शिवस्वरूप प्राणलिङ्गी है। जङ्गमरूप शिव हैं एवं शिव ही जङ्गम रूप हैं। प्राणलिङ्गियों को विशुद्ध सिद्धि नहीं हुआ करती। प्राणलिङ्गियों में जङ्गम त्रेष्ठ-पूज्य है, तपस्त्रियों में शिवभक्त चाण्डाल भी त्रेष्ठ प्राणलिङ्गी है। इस कारण प्राणलिंगी सर्वत्रेष्ठ कहा जाता है। जो भी मनुष्य इस तथ्य को जान लेता है, वह शिव ही है। जो रुद्र है, वही प्राणलिंगी है, दूसरा अन्य कोई नहीं होता है ॥ २ ॥

ॐ आत्मा परशिवद्वयो गुरुः शिवः। गुरुणां सर्वविश्वमिदं विश्वमन्त्रेण धार्यम्। दैवाधीनं जगदिदम्। तदैवं तन्मन्त्रात् तनुते। तन्मे दैवं गुरुरिति। गुरुणां सर्वज्ञानिनां गुरुणा दत्तमेतदन्नं परब्रह्म। ब्रह्म स्वानुभूतिः। गुरुः शिवो देवः। गुरुः शिव एव लिङ्गम्। उभयोर्मिश्रप्रकाशत्वात्। प्राणवत्त्वात् महेश्वरत्वाच्च शिवस्तदैव गुरुः। यत्र गुरुस्तत्र शिवः। शिवगुरुस्वरूपो महेश्वरः। भ्रमरकीटकार्येण दीक्षिताः शिवयोगिनः शिवपूजापथे गुरुपूजाविधौ च महेश्वरपूजनान्मुक्ताः। लिङ्गाभिषेकं निर्माल्यं गुरोरभिषेकतीर्थं महेश्वरपादोदकं जन्ममालिन्यं क्षालयन्ति। तेषां प्रीतिः शिवप्रीतिः। तेषां तृसिः शिवतृसिः। तैश्च पावनो वासः। तेषां निरसनं शिवनिरसनम्। आनन्दपारायणः। तस्माच्छ्वं व्रजन्तु। गुरुं व्रजन्तु। इत्येवं पावनम् ॥ ३ ॥

यह आत्मा ब्रह्म एवं शिवमय है, (यह) गुरुरूप एवं शिवस्वरूप है। गुरुओं को यह सम्पूर्ण विश्वविश्वमन्त्र के द्वारा धारण करना चाहिए अर्थात् वैदिक मंत्रों के प्रचार-प्रसार से विश्व की स्थिति को व्यवस्थित रखना चाहिए। यह जगत् देवों के अधीन है और वह देव उन मन्त्रों से विस्तार पाते हैं। वह देव ही हम सभी का गुरु है। समस्त गुरुओं एवं सर्वज्ञों के गुरु द्वारा प्रदत्त यह अन्न परब्रह्ममय है। ब्रह्म को स्वयं के अनुभव द्वारा ज्ञात किया जाता है। देव शिव ही गुरु हैं और गुरु शिव ही लिंगस्वरूप हैं। (वेदों में निराकार ब्रह्म के संकेत चिह्न हैं) दोनों के प्रकाशित होने के कारण, प्राणस्वरूप एवं महेश्वर होने के कारण शिव ही परमगुरु हैं। जहाँ गुरु हैं, वहाँ शिव हैं। शिव एवं गुरु रूप ही वे महेश्वर हैं। भ्रमर-कीट सिद्धान्त के द्वारा (यह प्रसिद्धि है कि भृंगी नामक कीट अन्य कीटों को पकड़ कर अपने घर में बन्द कर देता है, और उसके चारों ओर गुनगुनाता है, तब वह कीड़ा उस भृंगी का ही चिन्तन करता रहता है और उस भृंगी के अनुरूप ही बन जाता है, ठीक ऐसे ही) सदैव शिव का ध्यान-चिन्तन करने वाले शिवयोगी शिवपूजा के मार्ग में एवं गुरुपूजा में लगातार एक चित्त होने के कारण (शिवरूप हो जाने से) महेश्वर के पूजन से मुक्त हो जाते हैं। शिवलिङ्ग का अभिषेक करने से सम्पूर्ण पाप विनष्ट हो जाते हैं। गुरु के अभिषेक से तथा महेश्वर के चरणामृत से जन्म-जन्मान्तरों के पाप धुल जाया करते हैं। इन सभी से प्रेम करना ही शिव से प्रेम करना है। इसकी तृसि ही शिवतृसि है। इनके पास में रहना ही परम पवित्र कार्य है। उनका निरसन (निराकरण) शिवनिरसन ही है। इस तरह का ज्ञान रखने वाला पुरुष सर्वदा आनन्द से ओत-प्रोत रहता है। इसलिए भगवान् शिव की शरण प्राप्त करनी चाहिए। गुरु की शरण प्राप्त करनी चाहिए। यही त्रेष्ठ-पवित्र है ॥ ३ ॥

॥ इति रुद्रोपनिषत् समाप्ता ॥



॥ लाङ्गूलोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् परवर्तीकालीन प्रतीत होती है। इसमें 'हनुमत् साधना' के तान्त्रिक प्रक्रियात्मक स्वरूप का उल्लेख है।

विशिष्ट साधना के अन्तर्गत ऋषि, देवता, छन्द, बीज, शक्ति, कीलक आदि का उल्लेख पाया जाता है। यहाँ हनुमत् साधना के ऋषि, देवता आदि के उल्लेख के साथ उपनिषद् का शुभारम्भ किया गया है। तत्पश्चात् हृदयादि न्यास, ध्यान, मन्त्र जप और आहुति आदि का विधान है। यह उपनिषद् मुख्य रूप से साधनात्मक है। इसमें प्रयुक्त मन्त्रों का उपयोग केवल जप-ध्यान आदि में ही है, न कि तत्त्वबोधपरक अर्थज्ञान में। इसीलिए इनका केवल प्रयोगात्मक संकेत ही किया है। अन्त में इस साधना की परम्परा का उल्लेख है। श्रीरामचन्द्र जी एवं श्री शिवजी ने यह मन्त्र वीरभद्र (शिवजी के प्रमुख गण) को बताया और वीरभद्र द्वारा लोक में प्रचलित हुआ। इस उपनिषद् का प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल सन्ध्या (उपासना) के समय पाठ करने से समस्त मनोकामनाएँ पूर्ण होती हैं- इस फलश्रुति के साथ उपनिषद् को पूर्णता प्रदान की गई है।

ॐ अस्य श्रीअनन्तघोरप्रलयज्वालाग्निरौद्रस्य वीरहनुमत्साध्यसाधनाघोरमूलमन्त्रस्य ईश्वर
ऋषिः । अनुष्टुप् छन्दः । श्रीरामलक्ष्मणौ देवता । सौं बीजम् । अञ्जनासूनुरिति शक्तिः । वायुपुत्र
इति कीलकम् । श्रीहनुमत्प्रसादसिद्ध्यर्थं भूर्भुवस्स्वर्लोकसमासीनतत्त्वं पदशोधनार्थं जपे
विनियोगः ॥ १ ॥

इस श्री अनन्त घोर प्रलय ज्वालाग्नि रुद्र, वीर, हनुमत्साधना, घोर मूल मन्त्र के ऋषि ईश्वर हैं, छन्द अनुष्टुप् है, देवता श्री राम-लक्ष्मण हैं, बीज सौं है, शक्ति अञ्जनासुत है, इसका कीलक वायुपुत्र है, श्री हनुमत् कृपा प्राप्ति हेतु तीनों लोकों में व्याप्त 'तत्त्वं' (वह तुम हो) पद शोधन के लिए विनियोग किया जाता है ॥ १ ॥

इस प्रकार मन्त्र 'ॐ अस्य श्री जपे विनियोगः' को पढ़कर पृथ्वी पर जल छोड़ना चाहिए। इसके पश्चात् निम्न क्रमानुसार मन्त्रोचार के साथ अंगन्यास अर्थात् अंगों का स्पर्श करे-

ॐ भूः नमो भगवते दावानलकालाग्निहनुमते अङ्गुष्ठाभ्यां नमः । हृदयाय नमः । ॐ
भुवः नमो भगवते चण्डप्रतापहनुमते तर्जनीभ्यां नमः । शिरसे स्वाहा । ॐ स्वः नमो भगवते
चिन्तामणिहनुमते मध्यमाभ्यां नमः । शिखायै वषट् । ॐ महः नमो भगवते पातालगरुडहनुमते
अनामिकाभ्यां नमः । कवचाय हुम् । ॐ जनः नमो भगवते कालाग्निरौद्रहनुमते कनिष्ठिकाभ्यां
नमः । नेत्रत्रयाय वौषट् । ॐ तपः सत्यं नमो भगवते भद्रजातिविकटरुद्रवीरहनुमते
करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः । अस्त्राय फट् । पाशुपतेन दिग्बन्धः ॥ २ ॥

ॐ भूः नमो अङ्गुष्ठाभ्याम् नमः । हृदयाय नमः ।

ॐ भुवः नमो तर्जनीभ्याम् नमः । शिरसे स्वाहा ।

ॐ स्वः नमो मध्यमाभ्यां नमः । शिखायै वषट् ।

ॐ महः नमो अनामिकाभ्यां नमः । कवचाय हुम् ।

ॐ जनः नमो कनिष्ठिकाभ्यां नमः । नेत्रत्रयाय वौषट् ।

ॐ तपः सत्यं नमो करतलकरपृष्ठाभ्यां नमः । अस्त्राय फट् ।
इसके पश्चात् पाशुपत मन्त्र से दिग्बन्ध करना चाहिए ॥ २ ॥

अथ ध्यानम्-

पुनः निष्पलिखित श्रोक का उच्चारण करके ध्यान करें । ॐ वज्राङ्गं पिङ्गनेत्रं सत्त्वसारं प्रसन्नम्—
वज्राङ्गं पिङ्गनेत्रं कनकमयलसत्कुण्डलाक्रान्तगण्डं
दध्मोलिस्तम्भसारप्रहरणविवशीभूतरक्षोऽधिनाथम् ।
उद्याल्लाङ्गूलघर्षप्रचलजलनिधिं भीमरूपं कपीन्द्रं
ध्यायन्तं रामचन्द्रं प्लवगपरिवृढं सत्त्वसारं प्रसन्नम् ॥ ३ ॥

वज्र सदृश सुदृढं अंग एवं पिंगलनेत्र वाले, स्वर्ण कुण्डलों से सुशोभित कपोल वाले, वज्र के समान कठोर प्रहार से राक्षसराज (रावण) को विवश करने वाले, समुद्र लंघन के समय अपनी पूँछ से समुद्र को कम्पायमान कर देने वाले, विकराल स्वरूपधारी, वानरों के स्वामी, पराक्रमशील, वानरों में श्रेष्ठ, भगवान् श्री रामचन्द्र जी के ध्यान में निरत, प्रसन्न मुद्रा वाले श्री हनुमान् जी का ध्यान करना चाहिए ॥ ३ ॥

इस प्रकार ध्यान करके, फिर मानसोपचार (पदार्थों के बिना) से पूजन करना चाहिए । पुनः निष्प मन्त्रों से जप एवं हवन करना चाहिए—

इति मानसोपचारैः संपूज्य, ॐ नमो भगवते दावानलकालाग्निहनुमते(जयश्रियो जयजीविताय)धवलीकृतजगत्रय वज्रदेह वज्रपुच्छ वज्रकाय वज्रतुण्ड वज्रमुख वज्रनख वज्रबाहो वज्ररोम वज्रनेत्र वज्रदन्त वज्रशरीर सकलात्मकाय भीमकर पिङ्गलाक्ष उग्र प्रलयकाल-रौद्र वीरभद्रावतार शारभसालुवभैरवदोर्दण्ड लङ्घापुरीदाहन उदधिलङ्घन दशग्रीवकृतान्त सीताविश्वास ईश्वरपुत्र अञ्जनागर्भसंभूत उदयभास्करविम्बानलग्रासक देवदानवत्रश्चिमुनिवन्द्य पाशुपतास्त्रब्रह्मास्त्रबैलवास्त्रनारायणास्त्रकालशक्तिकास्त्रदण्डकास्त्रपाशाद्योरास्त्रनिवारण पाशुपतास्त्रब्रह्मास्त्रबैलवास्त्रनारायणास्त्रमृड सर्वशक्तिग्रसन ममात्मरक्षाकर परविद्यानिवारण आत्मविद्यासंरक्षक अग्निदीप अर्थवर्णवेदसिद्धस्थिरकालाग्निनिराहारक वायुवेग मनोवेग श्रीरामतारकपरब्रह्मविश्वरूपदर्शन लक्ष्मणप्राणप्रतिष्ठानन्दकर स्थलजलाग्निमर्मभेदिन् सर्वशत्रून् छिथि छिन्थि मम वैरिणः खादय खादय मम संजीवनपर्वतोत्पाटन डाकिनीविधंसन सुग्रीवसख्यकरण निष्कलङ्घं कुमारब्रह्मचारिन् दिग्म्बर सर्वपाप सर्वग्रह कुमारग्रह सर्व छेदय छेदय भेदय भेदय भिन्थि भिन्थि खादय खादय टङ्ग टङ्ग ताडय ताडय मारय मारय शोषय शोषय ज्वालय ज्वालय हारय हारय देवदत्तं नाशय नाशय अतिशोषय अतिशोषय मम सर्व च हनुमन् रक्ष रक्ष ॐ हां हीं हूं हुं फट् घे घे स्वाहा ॥ ४ ॥

ॐ नमो भगवते दावानल कालाग्नि हनुमते हनुमन् रक्ष रक्ष ॐ हां हीं हूं हुं फट् घे घे स्वाहा ॥ ४ ॥
ॐ नमो भगवते चण्डप्रतापहनुमते महावीराय सर्वदुःखविनाशनाय ग्रहमण्डलभूत-मण्डलप्रेतपिशाचमण्डलसर्वोच्चाटनाय अतिभयङ्गरज्वर माहेश्वरज्वर-विष्णुज्वर-ब्रह्मज्वर-वेताल ब्रह्मराक्षस ज्वर-पित्तज्वर-श्रेष्ठसात्रिपातिकज्वर-विषमज्वर-शीतज्वर-एकाहिकज्वर-

द्वयाहिकज्वर-त्रैहिकज्वर-चातुर्थिकज्वर-अर्धमासिकज्वर-मासिकज्वर-घाणमासिकज्वर-सांवत्सरिकज्वर-अस्थ्यन्तर्गतज्वर-महापस्मार-श्रमिकापस्मारांश्च भेदय खादय खादय
ॐ हाँ हीं हूँ हुं फट् घे घे स्वाहा ॥ ५ ॥

ॐ नमो भगवते चण्डप्रताप हनुमते खादय खादय ॐ हाँ हीं हूँ हुं फट् घे घे स्वाहा ॥ ५ ॥

ॐ नमो भगवते चिन्तामणिहनुमते अङ्गशूल-अक्षिशूल-शिरशशूलगुल्मशूल-उदरशूल-कर्णशूल-नेत्रशूल गुदशूल-कटिशूल-जानुशूल-जड़ाशूल-हस्तशूल-पादशूल-गुल्फशूल-वातशूल-पित्तशूल-पायुशूल-स्तनशूल-परिणामशूल-परिधामशूल-परिबाणशूल-दन्तशूल-कुक्षिशूल सुमनशशूल-सर्वशूलानि निर्मूलय निर्मूलय दैत्यदानवकामिनीवेतालब्रह्मराक्षस-कोलाहलनागपाशानन्तवासुकि-तक्षककार्णोटकलिङ्गपद्मककुमुदज्वलरोगपाशमहामारीन् कालपाशविषं निर्विषं कुरु कुरु ॐ हाँ हीं हूँ हुं फट् घे घे स्वाहा ॥ ६ ॥

ॐ नमो भगवते चिन्तामणि हनुमते निर्विषं कुरु कुरु घे घे स्वाहा ॥ ६ ॥

ॐ हीं श्रीं क्लीं ग्लां ग्लीं ग्लूं ॐ नमो भगवते पातालगरुडहनुमते भैरववनगतगज-सिंहेन्द्राक्षीपाशबन्धं छेदय छेदय प्रलयमारुत कालाग्निहनुमन् शृङ्खलाबन्धं विमोक्षय विमोक्षय सर्वग्रहं छेदय छेदय मम सर्वकार्याणि साधय साधय मम प्रसादं कुरु कुरु मम प्रसन्न श्रीरामसेवकसिंह भैरवस्वरूप मां रक्ष रक्ष ॐ हाँ हीं हूँ हाँ हीं क्षमौ भैं श्रां श्रीं क्लां क्लीं क्रां क्रीं हाँ हीं हूँ हैं हौं हः हाँ हीं हुं ख ख जय जय मारण मोहन घूर्ण घूर्ण दम दम मारय मारय वारय वारय खे खे हाँ हीं हूँ हुं फट् घे घे स्वाहा ॥ ७ ॥

ॐ हीं श्रीं क्लीं ग्लां ग्लीं ग्लूं ॐ नमो भगवते पातालगरुडहनुमते वारय वारय घे घे स्वाहा ॥ ७ ॥

ॐ नमो भगवते कालाग्निरौद्रहनुमते भ्रामय भ्रामय लव लव कुरु कुरु जय जय हस हस मादय मादय प्रज्वलय प्रज्वलय मृडय मृडय त्रासय त्रासय साहय साहय वशय वशय शामय शामय अस्त्रत्रिशूलडमरुखइगकालमृत्युकपालखट्वाङ्गधर अभयशाश्वत हुं हुं अवतारय अवतारय हुं हुं अनन्तभूषण परमन्त्र-परयन्त्र-परतंत्र-शतसहस्र-कोटितेजः पुञ्च भेदय भेदय अग्निं बन्धय बन्धय वायुं बन्धय बन्धय सर्वग्रहं बन्धय बन्धय अनन्तादिदुष्टनागानां द्वादशकुलवृश्चिकानामेकादशलूतानां विषं हन हन सर्वविषं बन्धय बन्धय वज्रतुण्ड उच्चाटय उच्चाटय मारणमोहनवशीकरणस्तम्भनजृभणाकर्षणोच्चाटनमिलनविद्वेषणयुद्धतर्कमर्माणि बन्धय बन्धय ॐ कुमारीपदत्रिहारबाणोग्रमूर्तये ग्रामवासिने अतिपूर्वशक्ताय सर्वायुधधराय स्वाहा अक्षयाय घे घे घे ॐ लं लं लं लं घौं स्वाहा ॐ हाँ हीं हूँ हुं फट् घे घे स्वाहा ॥ ८ ॥

ॐ नमो भगवते कालाग्निरौद्र हनुमते घे घे स्वाहा ॥ ८ ॥

ॐ श्रां श्रीं श्रूं श्रैं श्रौं श्रः ॐ नमो भगवते भद्रजानिकटरुद्रवीरहनुमते टं टं टं लं लं लं लं देवदत्तदिगम्बराष्टमहाशक्त्यष्टाङ्गधर अष्टमहाभैरववनवब्रह्मस्वरूप दशविष्णुरूप एकादशरुद्रावतार द्वादशार्क्तेजः त्रयोदशसोममुख वीरहनुमन् स्तंभिनीमोहिनीवशीक-

रिणीतन्त्रैकसावयव नगरराजमुखबन्धन बलमुखमकरमुखसिंहमुखजिह्वामुखानि बन्धय बन्धय
स्तम्भय स्तम्भय व्याघ्रमुखसर्ववृश्चिकाग्निज्वालाविषं निर्गमय निर्गमय सर्वजनवैरिमुखं बन्धय
बन्धय पापहर वीर हनुमन् ईश्वरावतार वायुनन्दन अञ्जनासुत बन्धय बन्धय श्रीरामचन्द्रसेवक
ॐ हाँ हाँ हाँ आसय आसय ह्रीं ह्रीं क्रीं यं भें म्रं म्रः हट् हट् खट् खट् सर्वजन-विश्वजन-
शत्रुजन-वश्यजन-सर्वजनस्य दृशं लं लां श्रीं हाँ ह्रीं मनः स्तम्भय स्तम्भय भञ्जय भञ्जय
अद्रि ह्रीं वं ह्रीं ह्रीं मे सर्व ह्रीं ह्रीं सागर ह्रीं ह्रीं वं वं सर्वमन्त्रार्थार्थवर्णवेदसिद्धिं कुरु कुरु
स्वाहा ॥ ९ ॥

ॐ श्रां श्रीं श्रूं श्रैं श्रौं श्रः ॐ नमो भगवते भद्रजानिकटरुद्रवीर हनुमते सर्वमन्त्रार्थार्थवर्णवेदसिद्धिं
कुरु कुरु स्वाहा ॥ ९ ॥

श्रीरामचन्द्र उवाच । श्रीमहादेव उवाच । श्रीवीरभद्रस्तौ उवाच । त्रिसन्ध्यं यः पठेन्नरः ॥

इस मन्त्र को श्री रामचन्द्र जी एवं शिवजी ने वीरभद्र को बताया तथा वीरभद्र ने उन दोनों से पूछा, समस्त विधि विधान की जानकारी प्राप्त की । इसको जो साधक तीनों संध्याओं अर्थात् प्रातः, मध्याह्न एवं सायं सन्ध्या के समय पाठ करता है, वह उन समस्त मनोकामनाओं को प्राप्त कर लेता है, जो इन मन्त्रों में वर्णित हैं ॥ १० ॥

॥ इति लाङ्गूलोपनिषत् समाप्ता ॥



॥ शरभोपनिषद् ॥

यह अथर्ववेदीय परम्परा से सम्बद्ध उपनिषद् है। इसमें 'शिव' की सर्वश्रेष्ठता वर्णित है। महर्षि पैप्लाद और ब्रह्माजी के मध्य हुए प्रश्न-प्रतिप्रश्न के रूप में यह उपनिषद् प्रकट हुई है।

ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के मध्य कौन अधिक श्रेष्ठ है? पैप्लाद ऋषि के इस प्रश्न के साथ उपनिषद् का शुभारम्भ हुआ है; जिसका उत्तर ब्रह्माजी ने 'रुद्र' के रूप में दिया है। 'रुद्र' ने एक बार शरभ का रूप धारण करके 'नृसिंह' का वंध कर डाला था। उसी आधार पर शरभ (शिव) से सम्बद्ध होने से यह उपनिषद् 'शरभोपनिषद्' कहलाई। देवों ने शरभरूप रुद्र की स्तुति करके 'शरभ' की उत्कृष्टता प्रमाणित की है। 'रुद्र' के अनुग्रह का भी इस उपनिषद् में उल्लेख है। 'रुद्र' का यथार्थ रूप जानने का फल वर्णित है। 'रुद्र' की महनीय महिमा, विष्णु और शिव की अभेदता 'शिव की एकमात्र ध्येयता' (श्रेष्ठता) तथा इस शास्त्र को प्रदान करने के विषय में विशेष नियम इत्यादि बातों का प्रतिपादन है। अन्त में उपनिषद् की महिमा-अध्ययन की फलश्रुति की विवेचना करते हुए उपनिषद् को पूर्णता प्रदान की गई है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-कृच्छोपनिषद्)

अथ हैनं पैप्लादो ब्रह्माणमुवाच भो भगवन् ब्रह्मविष्णुरुद्राणां मध्ये को वाऽधिकतरो
ध्येयः स्यात्तत्त्वमेव नो ब्रूहीति ॥ १ ॥

एक बार प्रजापति ब्रह्माजी से पैप्लाद ऋषि ने पूछा-हे भगवन्! यह बताने की कृपा करें कि ब्रह्मा, विष्णु और शिव में सर्वश्रेष्ठ ध्येय (पूज्य) कौन हैं? ॥ १ ॥

तस्मै स होवाच पितामहश्च हे पैप्लाद शृणु वाक्यमेतत् ॥ २ ॥

प्रजापति ब्रह्माजी ने कहा-हे पैप्लाद! जो मैं कह रहा हूँ, उसे (ध्यान से) सुनो ॥ २ ॥

बहूनि पुण्यानि कृतानि येन तेनैव लभ्यः परमेश्वरोऽसौ ।

यस्याङ्गं जोऽहं हरिरिन्द्रमुख्या मोहवन्न जानन्ति सुरेन्द्रमुख्याः ॥ ३ ॥

उन परमेश्वर को बहुत बड़ा पुण्य करके ही प्राप्त किया जा सकता है, जिनके अंग से मैं पैदा हुआ, उन्हें मोहवश मुख्य (देवता) विष्णु, इन्द्र एवं सुरेन्द्र भी नहीं जान पाते ॥ ३ ॥

प्रभुं वरेण्यं पितरं महेशं यो ब्रह्माणं विदधाति तस्मै ।

वेदांश्च सर्वान्प्रहिणोति चाग्रयं तं वै प्रभुं पितरं देवतानाम् ॥ ४ ॥

वही प्रभु सर्वप्रथम ब्रह्माजी को धारण करते हैं, वही वरण करने योग्य हैं, वही प्रभु हैं, पिता हैं, श्रेष्ठ हैं और वे ही वेदों के प्रथम प्रेरक परमेश्वर हैं। वे ही सबके प्रभु एवं देवताओं के भी पिता हैं ॥ ४ ॥

ममापि विष्णोर्जनकं देवमीडयं योऽन्तकाले सर्वलोकान्संजहार ।

स एकः श्रेष्ठश्च सर्वशास्ता स एव वरिष्ठश्च ॥ ५ ॥

वे प्रभु मेरे और विष्णु के भी पिता हैं, वे ही अंतिम समय (महाप्रलय) में सम्पूर्ण विश्व का विनाश करते हैं, उन देव को नमस्कार है। वे अकेले ही नियमक, श्रेष्ठ और वरिष्ठ हैं ॥ ५ ॥

यो घोरं वेषमास्थाय शरभाख्यं महेश्वरः । नृसिंहं लोकहन्तारं संजघान महाबलः ॥ ६ ॥

उन महाबलवान् महेश्वर ने शरभ का घोर रूप धारण करके नृसिंह को मारा ॥ ६ ॥

[यह उक्ति आलंकारिक है। पूर्वतापिन्युपनिषद् में सृष्टि सुजन पराक्रम के लिए अवतरित परमेश्वर के प्रवाह को नृसिंह विशेषण दिया गया है। इसी उपनिषद् में मंत्र क्र० ३० में जीव को 'शर' कहते हुए 'शरभ' को मुक्तिदाता कहा गया है। मुक्तिकर्ता का पुरुषार्थ जीवनपुरुषार्थ को विदीर्ण कर देता है। जीव के मुक्तिकाल तथा सृष्टि के प्रलयकाल में यह उपमा घटित होती है।]

हरिं हरन्तं पादाभ्यामनुयान्ति सुरेश्वराः । मा वधीः पुरुषं विष्णुं विक्रमस्व महानसि ॥ ७ ॥

सर्वेश्वर भगवान् रुद्र ने जब विष्णु का पैर पकड़कर हरण किया, उस समय समस्त देवों ने उनसे प्रार्थना की कि हे पुरुषोत्तम! विष्णु पर दया करें, इनका वध न करें, आपकी जय हो ॥ ७ ॥

कृपया भगवान्विष्णुं विदार नखैः खरैः । चर्माम्बरो महावीरो वीरभद्रो बभूव ह ॥ ८ ॥

तब अपने तेज नखों के द्वारा विष्णु को उन भगवान् रुद्र ने विदीर्ण कर दिया, उस समय चर्माम्बर (चर्मवस्त्र) धारण करने वाले उन महावीर रुद्र को वीरभद्र कहा गया ॥ ८ ॥

स एको रुद्रो ध्येयः सर्वेषां सर्वसिद्धये । यो ब्रह्मणः पञ्चमवक्त्रहन्ता तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥ ९ ॥

इस प्रकार एक रुद्र भगवान् ही समस्त सिद्धियों के देने वाले एवं सबके पूज्य हैं। जिनने ब्रह्मा के पाँचवें मुँह को समाप्त कर दिया, उनको नमस्कार है ॥ ९ ॥

यो विस्फुलिङ्गेन ललाटजेन सर्वं जगद्भस्मसात्संकरोति । पुनश्च सृष्टा पुनरप्यरक्षदेवं स्वतन्त्रं प्रकटीकरोति । तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥ १० ॥

जो अपने ललाट की अग्नि से सम्पूर्ण संसार को जला देते हैं एवं पुनः सृष्टि करके उसकी रक्षा भी करते हैं, उन रुद्र भगवान् को नमस्कार है ॥ १० ॥

यो वामपादेन जघान कालं धोरं पपेऽथो हालाहलं दहन्तम् । तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥ ११ ॥

जिन्होंने बायें पैर से काल को मार दिया तथा दहकते हुए हलाहल विष का पान कर लिया, उन रुद्र को नमस्कार है ॥ ११ ॥

यो वामपादार्चितविष्णुनेत्रस्तस्मै ददौ चक्रमतीव हृष्टः । तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥ १२ ॥

जिनके वाम पाद पर विष्णु ने अपने नेत्र समर्पित कर दिये, उससे प्रसन्न होकर जिन्होंने उन्हें (विष्णु को) चक्र प्रदान किया, उन रुद्र को नमस्कार है ॥ १२ ॥

यो दक्षयज्ञे सुरसङ्घान्विजित्य विष्णुं बबन्धोरगपाशेन वीरः । तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥ १३ ॥

समस्त देवताओं को दक्ष के यज्ञ में जिनने हराया एवं नागपाश में विष्णु को भी बाँध दिया, उन महाबलशाली रुद्र को नमस्कार है ॥ १३ ॥

यो लीलयैव त्रिपुरं ददाह विष्णुं कविं सोमसूर्याग्निनेत्रः । सर्वे देवाः पशुतामवापुः स्वयं तस्मात्पशुपतिर्बभूव । तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥ १४ ॥

जिनके सूर्य, चन्द्र और अग्नि तीन नेत्र हैं, जिन्होंने त्रिपुरासुर को कौतुक मात्र से समाप्त कर दिया, समस्त देवता जिनके सामने पशु बन गये अर्थात् जिनके अधीन हो गये तथा जिन्हें पशुपति की उपाधि मिली, उन रुद्र को नमस्कार है ॥ १४ ॥

यो मत्स्यकूर्मादिवराहसिंहान्विष्णुं क्रमन्तं वामनमादिविष्णुम् । विविक्लवं पीड्यमानं सुरेण भस्मीचकार मन्मथं यमं च । तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥ १५ ॥

जो विष्णु के मत्स्य, कूर्म, वराह, नृसिंह, वामन आदि अवतारों के प्रवर्तक हैं एवं जिन्होंने इन्द्र को श्रमित

करके (थका करके) पीड़ित किया तथा जिनने कामदेव एवं यम को भस्म अर्थात् तेजोविहीन कर दिया, उन भगवान् रुद्र को नमस्कार है ॥ १५ ॥

एवंप्रकारेण बहुथा प्रतुष्टा क्षमापयामासुर्नीलकण्ठं महेश्वरम् ॥ १६ ॥

इस तरह से देवताओं ने अनेक प्रकार से प्रार्थना करके नीलकण्ठ महेश्वर से क्षमा याचना की ॥ १६ ॥

तापत्रयसमुद्भूतजन्ममृत्युजरादिभिः । नानाविधानि दुःखानि जहार परमेश्वरः ॥ १७ ॥

तब उन परमेश्वर ने तीनों तरह के ताप एवं जन्म, मृत्यु, जरा आदि अनेक प्रकार के कष्टों का विनाश किया ॥ १७ ॥

एवमङ्गीकरोच्छिवः प्रार्थनं सर्वदेवानाम् । शङ्करो भगवानाद्यो रक्ष सकलाः प्रजाः ॥ १८ ॥

इस तरह देवताओं की अनेक प्रकार की स्तुतियों को सुनकर, उसे स्वीकार कर आदिदेव भगवान् शंकर प्रसन्न हो गये तथा समस्त प्रजाओं की रक्षा की ॥ १८ ॥

यत्पादाम्भोरुहृद्धन्दं मृग्यते विष्णुना सह । स्तुत्वा स्तुत्यं महेशानमवाइः मनसगोचरम् । भक्तया नम्रतनोर्विष्णोः प्रसादमकरोद्दिभुः ॥ १९ ॥

(जो) समस्त प्रकार की प्रार्थना के योग्य एवं मन, वाणी से भी परे हैं, जिनके चरणारविन्दों को पाने की कामना विष्णु भी रखते हैं । वे भगवान् महेश्वर, विष्णु के भक्तिपूर्वक नमस्कार करने पर प्रसन्न हुए ॥ १९ ॥

यतो वाचो निर्वर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कदाचनेति ॥ २० ॥

जहाँ से (जिस ब्रह्म की अनुभूति में) मन के साथ वाणी भी उसे न पाकर वापस लौट आती है, उस आनन्दस्वरूप ब्रह्म का बोध (आनुभविक ज्ञान) करने वाला विद्वान् कभी भयग्रस्त नहीं होता ॥ २० ॥

अणोरणीयान्महतो महीयानात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम् ।

तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥ २१ ॥

परमात्म-चेतना इस जीवात्मा की हृदय रूपी गुहा (गुफा) में अणु से भी अतिसूक्ष्म और महान् से भी अति महान् रूप में विराजमान है । निष्काम कर्म करने वाले तथा शोकरहित कोई विरले साधक ही, परमात्मा की अनुकम्पा से उन्हें देख पाते हैं ॥ २१ ॥

वसिष्ठवैयासकिवामदेवविरिज्वमुख्यैर्हृदि भाव्यमानः ।

सनत्सुजातादिसनातनाद्यैरीड्यो महेशो भगवानादिदेवः ॥ २२ ॥

जिनका ध्यान निरंतर वसिष्ठ, वामदेव, विरज्व (ब्रह्म) एवं शुकदेव जैसे ऋषि किया करते हैं और सनत्सुजात आदि, सनातन आदि ऋषि जिनकी स्तुति किया करते हैं, वे ही भगवान् महेश्वर आदिदेव हैं ॥ २२ ॥

सत्यो नित्यः सर्वसाक्षी महेशो नित्यानन्दो निर्विकल्पो निराख्यः ।

अचिन्त्यशक्तिर्भगवान्गिरीशः स्वाविद्यया कल्पितमानभूमिः ॥ २३ ॥

उन भगवान् गिरीश की शक्ति के बारे में कोई नहीं जान सकता । वे प्रभु नित्य, सत्य, सबके साक्षीभूत, निरन्तर आनन्द रूप, निर्विकल्प रूप हैं । जो अकथनीय हैं, उनके स्थान आदि के बारे में हम अपनी अविद्या के कारण कल्पना भर करते हैं (यथार्थ में नहीं जानते) ॥ २३ ॥

अतिमोहकरी माया मम विष्णोश्च सुव्रत । तस्य पादाम्बुजध्यानादुस्तरा सुतरा भवेत् ॥ २४ ॥

हे सुव्रत ! उनकी माया मुझे तथा विष्णु को भी अत्यन्त मोहित करने वाली है, उससे निकल पाना अति दुस्तर है; परन्तु उनके चरण कमलों का ध्यान करने से, वह (माया) आसानी से पार करने योग्य हो जाती है ॥ २४ ॥

विष्णुर्विश्वजगद्योनि: स्वांशभूतैः स्वकैः सह । ममांशसंभवो भूत्वा पालयत्यखिलं जगत् ॥२५ ॥

सम्पूर्ण विश्व-सृष्टि को प्रकट करने वाले भगवान् विष्णु ही हैं। अपने ही अंश-भूत प्राणियों के साथ, मेरे ही अंश से समुद्रभूत होकर सम्पूर्ण जगत् का पालन करते हैं ॥ २५ ॥

**विनाशं कालतो याति ततोऽन्यत्सकलं मृषा । ॐ तस्मै महाग्रासाय महादेवाय शूलिने ।
महेश्वराय मृडाय तस्मै रुद्राय नमो अस्तु ॥ २६ ॥**

काल के क्रमानुसार सभी कुछ विनष्ट हो जाता है, इसी कारण यह सभी कुछ मिथ्या है। उन सभी को महाग्रास के रूप में परिणत करने वाले उन शूलधारी महादेव को एवं कृपा करने वाले महेश्वर-रुद्र को नमस्कार है ॥ २६ ॥

एको विष्णुर्महद्वृतं पृथग्भूतान्यनेकशः । त्रींलोकान्व्याप्य भूतात्मा भुद्वक्ते विश्वभुगव्ययः ॥२७ ॥

एकमात्र भगवान् विष्णु ही इस समस्त प्रकार की सृष्टि में सबसे पृथक्, महान् एवं अद्भुत हैं। यद्यपि वे समस्त भूत-प्राणियों में संव्याप्त होकर सभी तरह के भोगों का उपभोग करते हैं, फिर भी अव्यय हैं ॥ २७ ॥

चतुर्भिंश्च चतुर्भिंश्च द्वाभ्यां पञ्चभिरेव च । हूयते च पुनर्द्वाभ्यां स मे विष्णुः प्रसीदतु ॥ २८ ॥

(जिन भगवान् विष्णु को) चार-चार, दो और पाँच तथा पुनः दो आहुतियाँ समर्पित की जाती हैं, वे भगवान् विष्णु मुश पर प्रसन्न हों ॥ २८ ॥

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् । ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥ २९ ॥

ब्रह्म को अर्पण की हुई हवि ही ब्रह्म है, उस (हवि) को ब्रह्मरूप कर्ता के द्वारा ब्रह्मरूप अग्नि में हवन किया जाता है, यह (आहुति देना) भी ब्रह्म ही है। इस कारण समाधिस्थ योगी के लिए एकमात्र ब्रह्म ही प्राप्त करने योग्य है ॥ २९ ॥

शरा जीवास्तदङ्गेषु भाति नित्यं हरिः स्वयेम् । ब्रह्मैव शरभः साक्षान्मोक्षदोऽयं महामुने ॥ ३० ॥

स्वयं भगवान् हरि जिसके अंगों में नियमित प्रकाशमान हैं, वह जीव ही 'शर' है। इस कारण मुक्ति प्रदाता ब्रह्म ही 'शरभ' है ॥ ३० ॥

मायावशादेव देवा मोहिता ममतादिभिः । तस्य माहात्म्यलेशांशं वक्तुं केनाप्यशक्यते ॥ ३१ ॥

देवता भी जिनकी माया - ममता आदि से विमोहित हो जाते हैं, उनकी महिमा के बारे में थोड़ा भी कह सकने में कौन समर्थ हो सकता है ? ॥ ३१ ॥

परात्परतरं ब्रह्म यत्परात्परतो हरिः । परात्परतरो हीशस्तस्मात्तुल्योऽधिको न हि ॥ ३२ ॥

जो परात्पर ब्रह्म है, हरि उससे भी परे हैं तथा हरि से भी परे ईश है। (इसलिए) उनके समान तथा उनसे बड़ा कोई नहीं है ॥ ३२ ॥

[यहाँ सृष्टि और उसके नियामक घटकों को पाँच क्रम में व्यक्त किया गया है। पाँच पूर्णता का प्रतीक है। सृष्टि के पाँचों घटकों के मिलने से पूर्णता आती है- विकास का क्रम पूर्ण होता है। पंचतत्त्वों से विनिर्मित जगत्रपंच 'क्षर' (नश्वर) कहा जाता है, इससे पर (श्रेष्ठ) ईश्वर (अनश्वर) है, इस 'पर' से भी पर 'ब्रह्म' (सर्वाधिक विस्तारयुक्त) है, उससे पर 'हरि' (पापों-दोषों को दूर करने वाला) है, उससे भी पर 'ईश' (सब पर शासन करने वाला) को कहा गया है। इस प्रकार सृष्टि और उसके नियामकों का यह क्रमिक विकास वाला पाँच उपक्रम यहाँ प्रस्तुत है।]

एक एव शिवो नित्यस्ततोऽन्यत्सकलं मृषा । तस्मै महाग्रासाय महेश्वराय नमः ॥३४ ॥

शिव ही एकमात्र नित्य हैं, अन्य सभी मिथ्या हैं। इसलिए विष्णु आदि सभी देवताओं को छोड़कर एक-

मात्र संसाररूपी बन्धन से मुक्त करने वाले भगवान् शिव का ध्यान करना चाहिए। संसार बन्धन से मुक्त करने वाले तथा सबको ग्रास बनाने वाले (प्रलय की स्थिति में सबको आत्मसात् कर लेने वाले) उन भगवान् महेश्वर को नमस्कार है ॥ ३३-३४ ॥

पैप्पलादं महाशास्त्रं न देयं यस्य कस्यचित् । नास्तिकाय कृतघ्नाय दुर्वृत्ताय दुरात्मने ॥ ३५ ॥
दाम्भिकाय नृशंसाय शठायानृतभाषिणे । सुव्रताय सुभक्ताय सुवृत्ताय सुशीलिने ॥ ३६ ॥
गुरुभक्ताय दान्ताय शान्ताय ऋजुचेतसे । शिवभक्ताय दातव्यं ब्रह्मकर्मोक्तधीमते ॥ ३७ ॥
स्वभक्तायैव दातव्यमकृतघ्नाय सुव्रत । न दातव्यं सदा गोप्यं यत्नेनैव द्विजोत्तम ॥ ३८ ॥

पैप्पलादं ऋषि द्वारा प्राप्त किये हुए इस महाशास्त्र को सबको नहीं देना चाहिए। कृतघ्न, नास्तिक, दुष्ट वृत्ति वाले, दुरात्मा, दम्भी, झूठ बोलने वाले, शठ और नृशंस को इस शास्त्र को कभी नहीं देना चाहिए। जो सच्चा भक्त हो, जिसकी वृत्ति शुद्ध हो, सुशील, गुरुभक्त, अच्छे संकल्पों वाला, संयमित जीवन वाला, धर्म बुद्धि, शिव-भक्ति एवं ब्रह्मकर्म में मन लगाने वाला तथा स्वयं में भक्ति रखने वाला हो, कृतघ्न न हो, ऐसे साधकों को इसका उपदेश करना चाहिए। ऐसा न मिलने पर हे द्विजोत्तम! इस पैप्पलाद शास्त्र की रक्षा करे, किसी को न दे ॥ ३५-३८ ॥

एतत्यैप्पलादं महाशास्त्रं योऽधीते श्रावयेद्द्विजः । स जन्ममरणेभ्यो मुक्तो भवति । यो जानीते सोऽमृतत्वं च गच्छति । गर्भवासाद्विमुक्तो भवति । सुरापानात्पूतो भवति । स्वर्णस्तेयात्पूतो भवति । ब्रह्महत्यात्पूतो भवति । गुरुतल्पगमनात्पूतो भवति । स सर्वान्वेदानधीतो भवति । स सर्वान्देवान्ध्यातो भवति । स समस्तमहापातकोपपातकात्पूतो भवति । तस्मादविमुक्तमाश्रितो भवति । स सततं शिवप्रियो भवति । स शिवसायुज्यमेति । न स पुनरावर्तते न स पुनरावर्तते । ब्रह्मैव भवति । इत्याह भगवान्ब्रह्मेत्युपनिषत् ॥ ३९ ॥

इस पैप्पलाद महाशास्त्र को जो स्वयं पढ़ता एवं द्विजों को श्रवण कराता है, वह जन्म-मरणरूपी बन्धन से छूट जाता है। इसको जानने वाला अमृतत्व को प्राप्त करके गर्भवास से मुक्ति प्राप्त कर लेता है। इसका पाठ करने वाला स्वर्ण चोरी के पाप, सुरापान, ब्रह्महत्या एवं गुरुपत्रीगमन जैसे महापातकों से मुक्त होकर सभी वेदों के पाठ का फल प्राप्त कर लेता है। सभी महापातक एवं उपपातकों से मुक्त होकर निर्मल हो जाता है। उनसे छूट कर (शिव के) आश्रित हो जाता है और शिव के लिए सतत प्रिय रहता है, शिवसायुज्य प्राप्त कर लेता है। वह पुनः जन्म धारण नहीं करता। वह ब्रह्मरूप हो जाता है। इस तरह यह ब्रह्माजी द्वारा कही हुई उपनिषद् है ॥ ३९ ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः इति शान्तिः ॥

॥ इति शरभोपनिषत्समाप्ता ॥



॥ सरस्वतीरहस्योपनिषद् ॥

यह उपनिषद् कृष्णायजुर्वेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। ऋषिगणों एवं महर्षि आश्वलायन के मध्य हुए प्रश्नोत्तर के रूप में यह उपनिषद् प्रकट हुई है। इसमें 'महासरस्वती' का तात्त्विक स्वरूप विवेचित हुआ है।

सर्वप्रथम तत्त्वज्ञान के साधनभूत दशश्रोकी सरस्वतीविद्या का उल्लेख है। तत्पश्चात् दशश्रोकी विद्या के ऋषि, देवता, छन्द आदि का प्रतिपादन है। पुनः दसों श्रोकों के अलग-अलग ऋषि, देवता एवं छन्द का क्रमशः वर्णन किया गया है। इसके बाद क्रमशः माँ सरस्वती की प्रार्थना, भगवती सरस्वती का ब्रह्मत्व, प्रकृतित्व एवं पुरुषत्व-निरूपण, माया को वशीभूत करने वाली भगवती का ईश्वरत्व विवेचन, माया की आवरण एवं विक्षेप दो शक्तियों की उद्भावना, जीव का स्वरूप, आवृत्ति (आवरण) के नाश से भेद का नाश, दृश्य जगत् में ब्रह्म एवं प्रकृति के अंश का विवेचन, ब्रह्मांश में समाधि का विधान, छः प्रकार की समाधियाँ तथा अन्त में निर्विकल्प साक्षात्कार की स्थिति वर्णित है। इस उपनिषद् विद्या के ज्ञान से 'मुक्ति' की प्राप्ति निःसन्देह बताई गई है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ वाऽमे मनसि इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-अक्षमालिकोपनिषद्)

ऋषयो ह वै भगवन्तमाश्वलायनं संपूज्य पप्रच्छुः—केनोपायेन तज्जानं तत्पदार्थावभा-सकम्। यदुपासनया तत्त्वं जानासि भगवन्वद् ॥ १ ॥ सरस्वतीदशश्रोक्या सत्रहचा बीजमिश्रया। स्तुत्वा जप्त्वा परं सिद्धिमलभं मुनिपुङ्गवाः ॥ २ ॥

एक बार समस्त ऋषिगणों ने भगवान् आश्वलायन के समीप पहुँचकर विधि-विधान से उनकी पूजा की। (तत्पश्चात् नप्रतापूर्वक हाथ जोड़कर) प्रश्न किया— “हे भगवन्! जिस ज्ञान के द्वारा ‘तत्’ पद के अर्थ स्वरूप परमात्मतत्त्व का सम्यक् रूप से साक्षात्कार होता है, उस ज्ञान को किस उपाय के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है? आपको जिन दैवी शक्ति की उपासना के द्वारा तत्त्वज्ञान की प्राप्ति हुई है, कृपा करके उसे बतलाने का अनुग्रह करें।” समस्त ऋषियों का समाधान करते हुए भगवान् आश्वलायन ने कहा—हे मुनिगणो! ऋग्वेद की दस ऋचाओं के साथ बीजमंत्र मिश्रित माँ सरस्वती के दस श्रोकों के द्वारा निरन्तर स्तुति एवं जप करते हुए हमने परासिद्धि प्राप्त की है ॥ १-२ ॥

ऋषय ऊचुः—कथं सारस्वतप्राप्तिः केन ध्यानेन सुव्रतः। महासरस्वती येन तुष्टा भगवती वद ॥३ ॥

तदनन्तर ऋषियों ने पुनः प्रश्न पूछा— “श्रेष्ठब्रत का अनुष्ठान सम्पन्न करने वाले हैं मुनीश्वर! आपको किस प्रकार और किस ध्यान के माध्यम से यह सारस्वत-मंत्र प्राप्त हुआ, जिसके माध्यम से माता महासरस्वती प्रसन्न हुई? कृपा करके वह उपाय बताने का अनुग्रह करें” ॥ ३ ॥

स होवाचाश्वलायनः—अस्य श्रीसरस्वती दशश्रोकीमहामन्त्रस्य अहमाश्वलायन ऋषिः। अनुष्टुप् छन्दः। श्रीवागीश्वरी देवता। यद्वागिति बीजम्। देवीं वाचमिति शक्तिः। प्रणो देवीति कीलकम्। विनियोगस्तत्प्रीत्यर्थे। श्रद्धा मेधा प्रज्ञा धारणा वाग्देवता महासरस्वतीत्यैरङ्गन्यासः ॥ ४ ॥

प्रसिद्ध मुनि आश्वलायन ने कहा—हे ऋषिगणो! इस श्रीसरस्वती दशश्रोकी महामंत्र का ऋषि-मैं आश्वलायन ही हूँ। छन्द-अनुष्टुप् तथा देवता श्रीवागीश्वरी हैं। बीज मंत्र—‘यद्वाग्’ है। ‘देवीं वाचं’ ही इसकी शक्ति है। ‘प्रणो देवी’ कीलक है। इसका विनियोग श्रीवागीश्वरी देवता के प्रीत्यर्थ किया गया है। इनका अंगन्यास इन निम्न नाम मंत्रों—श्रद्धा, प्रज्ञा, मेधा, धारणा, वाग्देवता एवं महासरस्वती आदि के द्वारा सम्पन्न किया जाता है ॥ ४ ॥

नीहारहारघनसारसुधाकराभां कल्याणदां कनकचम्पकदामभूषाम् । उत्तुङ्गपीनकुचकुच-
मनोहराङ्गीं वाणीं नमामि मनसा वचसा विभूत्यै ॥ ५ ॥

इसके पश्चात् अब ध्यान का वर्णन करते हैं । ध्यान का वर्णन इस प्रकार है - हिम, मुक्ताहार, कर्पूर एवं
चन्द्रमा के सौन्दर्य की भाँति शुभ्र कान्तियुक्त, कल्याणप्रदायिनी, सुवर्ण के सदृश पीले चम्पक पुष्पमाला से
सुशोभित, उत्तर-सुपुष्ट वक्ष से युक्त मनोहर अंगों वाली वाणी (सरस्वती देवी) को विभूति की सिद्धि हेतु मैं मन
एवं वाक्शक्ति के द्वारा नमन-वन्दन करता हूँ ॥ ५ ॥

ॐ प्रणो देवीत्यस्य मन्त्रस्य भरद्वाज ऋषिः । गायत्री छन्दः । श्रीसरस्वती देवता । प्रणवेन
बीजशक्तिः कीलकम् । इष्टार्थे विनियोगः । मन्त्रेण न्यासः ॥ ६ ॥

'ॐ प्रणोदेवी ।' नामक मंत्र के ऋषि भरद्वाज हैं, छन्द गायत्री है और देवता श्रीसरस्वती हैं ।
'ॐ नमः' (प्रणव) ही इस मंत्र के बीज, शक्ति तथा कीलक तीनों ही हैं । इष्ट अर्थ की सिद्धि हेतु इसका
विनियोग किया गया है । इस मंत्र से ही अंगन्यास भी किया जाता है ॥ ६ ॥

या वेदान्तार्थतत्त्वैकस्वरूपा परमार्थेतः । नामरूपात्मना व्यक्ता सा मां पातु सरस्वती ॥ ७ ॥

जिन भगवती सरस्वती देवी का स्वरूप वेदान्त शास्त्र का अर्थभूत एकमात्र ब्रह्मतत्त्व ही है और जो
भिन्न-भिन्न नाम एवं रूपों से जानी जा रही हैं, वे माता सरस्वती मुझे पूर्ण संरक्षण प्रदान करें ॥ ७ ॥

ॐ प्रणो देवी सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती । धीनामविव्रित्यवतु ॥ ८ ॥

दान से शोभायमान, अन्न से पूर्ण सम्पन्न एवं स्तोताओं, उपासना करने वालों को संरक्षण देने वाली माता
सरस्वती देवी हम उपासकों को अन्नादि से संरक्षित करें ॥ ८ ॥

आ नो दिव इति मन्त्रस्य अत्रिऋषिः । त्रिष्टुप् छन्दः । सरस्वती देवता । ह्रीमिति बीजशक्तिः
कीलकम् । इष्टार्थे विनियोगः । मन्त्रेण न्यासः ॥ ९ ॥

'आ नो दिवः ।' इस मंत्र के द्रष्टा ऋषि-अत्रि हैं । छन्द-त्रिष्टुप् है । देवता-सरस्वती हैं । इस मंत्र
का बीज, शक्ति एवं कीलक-तीनों ही 'ह्रीं' है । अभीष्ट कार्य की पूर्ति हेतु इसका विनियोग किया जाता है । इस
मंत्र द्वारा ही न्यास की क्रिया भी सम्पन्न की जाती है ॥ ९ ॥

या साङ्गोपाङ्गः वेदेषु चतुर्ष्वैकैव गीयते । अद्वैता ब्रह्मणः शक्तिः सा मां पातु सरस्वती ॥ १० ॥

चारों वेद एवं उनके अङ्ग-उपाङ्गों में जिन एक ही देवता की स्तुति होती है और जो परब्रह्म परमेश्वर की
एकमात्र अद्वैत शक्तिरूपा हैं, ऐसी वे माता सरस्वती देवी हम सभी को संरक्षण प्रदान करें ॥ १० ॥

ह्रीं आ नो दिवो बृहतः पर्वतादा सरस्वती यजतागंतु यज्ञम् । हवं देवी जुजुषाणा घृताची
शग्मां नो वाचमुशती शृणोतु ॥ ११ ॥

हम सभी के द्वारा यजनयोरय माता सरस्वतीदेवी प्रकाशरूप द्युलोक से नीचे आकर विशाल पर्वत के
आकार-सदृश मेघों के मध्य होती हुई हमारे यज्ञस्थल में पधारें । हमारे स्तुति-गान से आनन्दित होकर वे देवी
(सरस्वती) इच्छानुसार हमारे समस्त आनन्द-प्रद स्तोत्रों का श्रवण करें ॥ ११ ॥

पावका न इति मन्त्रस्य मधुच्छन्द ऋषिः । गायत्री छन्दः । सरस्वती देवता । श्रीमिति
बीजशक्तिः कीलकम् । इष्टार्थे विनियोगः । मन्त्रेण न्यासः ॥ १२ ॥

'पावका नः ।' इस मंत्र के द्रष्टा ऋषि मधुच्छन्द हैं । छन्द गायत्री है और देवता सरस्वती हैं । इस
मंत्र का बीज, शक्ति एवं कीलक तीनों ही 'श्री' है । कामना सिद्धि के लिए इस मंत्र का विनियोग किया जाता
है । इस मंत्र के द्वारा ही अङ्गन्यास भी किया जाता है ॥ १२ ॥

या वर्णपदवाक्यार्थस्वरूपेणैव वर्तते । अनादिनिधनानन्ता सा मां पातु सरस्वती ॥ १३ ॥

जो अर्थ के रूप में वर्ण, पद एवं वाक्य आदि में सर्वत्र विद्यमान हैं; जो आदि और अन्त से परे हैं तथा जो अनन्त रूप, गुण आदि से सम्पन्न हैं, ऐसी वे माता सरस्वतीदेवी हमें संरक्षण प्रदान करें ॥ १३ ॥

श्रीं पावका नः सरस्वती वाजेभिर्वाजिनीवती । यज्ञं वष्टु धिया वसुः ॥ १४ ॥

जो समस्त साधकों को पवित्र एवं परिष्कृत बनाने वाली हैं, जो अनादि से समर्थ एवं कर्मादि के द्वारा मिलने वाले धन की प्राप्ति में कारणस्वरूप हैं, वे माता सरस्वती देवी हमारे यज्ञ में उपस्थित रहकर यज्ञकार्य को पूर्णता तक पहुँचाने में सहयोगी बनें ॥ १४ ॥

चोदयित्रीति मन्त्रस्य मधुच्छन्द ऋषिः । गायत्री छन्दः । सरस्वती देवता । ब्लूमिति बीजशक्तिः कीलकम् । मन्त्रेण न्यासः ॥ १५ ॥

'चोदयित्री' इस मंत्र के ऋषि-मधुच्छन्द हैं। छन्द-गायत्री है और देवता सरस्वती हैं। इस मंत्र के बीज, शक्ति एवं कीलक-ये तीनों ही 'ब्लूं' हैं। इच्छित अर्थ-प्राप्ति के लिए इसका विनियोग किया जाता है। इसी मंत्र से अङ्गन्यास की क्रिया भी सम्पन्न करे ॥ १५ ॥

अध्यात्मधिदैवं च देवानां सम्यगीश्वरी । प्रत्यगास्ते वदन्ती या सा मां पातु सरस्वती ॥ १६ ॥

जो देवी समस्त देवों की सम्यक् अधीश्वरी अर्थात् प्रेरणात्मिका शक्तिस्वरूपा हैं और जो अध्यात्म एवं अधिदैव स्वरूपिणी हैं, जो हम सभी साधकों के अन्तःकरण में 'मध्यमा' वाणी के रूप में विद्यमान हैं, वे माता सरस्वती देवी हम सभी को संरक्षण प्रदान करें ॥ १६ ॥

ब्लूं चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम् । यज्ञं दधे सरस्वती ॥ १७ ॥

जो (देवी) सत्य एवं प्रिय वचन बोलने की प्रेरणा प्रदान करती हैं और उत्तम बुद्धि सम्पन्न क्रियाशील पुरुषों को उनका कर्तव्य बोध कराती हुई सचेष्ट करती हैं; ऐसी उन माता सरस्वतीदेवी ने हम साधकों के इस यज्ञ को धारण किया है ॥ १७ ॥

महो अर्ण इति मन्त्रस्य मधुच्छन्द ऋषिः । गायत्री छन्दः । सरस्वती देवता । सौरिति बीजशक्तिः कीलकम् । मन्त्रेण न्यासः ॥ १८ ॥

'महो अर्ण:' इस मंत्र के द्रष्टा ऋषि-मधुच्छन्द हैं। छन्द-गायत्री है। देवता सरस्वती हैं। इस मंत्र के बीज, शक्ति एवं कीलक ये तीनों ही 'सौः' है। इस मंत्र के द्वारा ही न्यास की क्रिया भी सम्पन्न करे ॥ १८ ॥

अन्तर्याम्यात्मना विश्वं त्रैलोक्यं या नियच्छति । रुद्रादित्यादिस्तुपस्था यस्यामावेश्य तां पुनः । ध्यायन्ति सर्वरूपैका सा मां पातु सरस्वती ॥ १९ ॥

जो देवी सरस्वती अन्तर्यामी रूप से तीनों लोकों को नियंत्रित करती हैं। जो रुद्र एवं आदित्य आदि देवों के रूप में प्रतिष्ठित हैं, वे माता सरस्वती देवी हम साधकों को संरक्षण प्रदान करें ॥ १९ ॥

सौः महो अर्णः सरस्वती प्रचेतयति केतुना । धियो विश्वा विराजति ॥ २० ॥

नदी के रूप में प्रादुर्भूत हुई माता सरस्वती अपने प्रवाह रूपी कार्य के द्वारा अपने में समाहित अपार जल-राशि का परिचय कराती हैं, वे ही माता सरस्वती अपने देवस्वरूप से सभी तरह की कर्तव्य-परक प्रज्ञा-बुद्धि को जाग्रत् करती हैं ॥ २० ॥

चत्वारि वागिति मन्त्रस्य उच्यथपुत्र ऋषिः । त्रिष्टुप् छन्दः । सरस्वती देवता । ऐमिति बीजशक्तिः कीलकम् । मन्त्रेण न्यासः ॥ २१ ॥

'चत्वारि वाक्।' इस के द्रष्टा ऋषि उच्चथ्यपुत्र दीर्घतमा हैं। छन्द-त्रिष्टुप् है और देवता-सरस्वती हैं। बीज, शक्ति एवं कीलक, ये तीनों ही 'ऐ' है। इष्ट की प्राप्ति हेतु इस मंत्र का विनियोग किया जाता है। इस मंत्र के द्वारा ही न्यास की क्रिया भी सम्पन्न करे॥ २१॥

या प्रत्यगदृष्टिभिर्जीवैर्व्यञ्जमानानुभूयते। व्यापिनी ज्ञसिरूपैका सा मां पातु सरस्वती ॥२२॥

जो अन्तःदृष्टि सम्पन्न समस्त प्राणिवर्ग के लिए भिन्न-भिन्न रूपों में व्यक्त होकर अनुभवगम्य हो रही हैं। जो (देवी) एकमात्र ज्ञसिरूप (जानने योग्य) से सभी जगह प्रतिष्ठित हैं; वे माता सरस्वती हमें संरक्षण प्रदान करें॥ २२॥

ऐं चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्ग्यन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥ २३॥

सम्पूर्ण वाणी को परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी के रूप में चार पदों में बाँटा गया है। इन वाणियों को समस्त विद्वान् ब्राह्मण एवं मनीषीगण जानते हैं। इन वाणियों में से तीन-परा, पश्यन्ती और मध्यमा हृदयरूपी गुफा में प्रतिष्ठित हैं। इसलिए वे बाहर प्रकट नहीं होतीं; किन्तु चौथी (वैखरी) वाणी को ही मनुष्य बोलने में प्रयुक्त करते हैं॥ २३॥

यद्वाग्वदन्तीति मन्त्रस्य भार्गव ऋषिः। त्रिष्टुप् छन्दः। सरस्वती देवता। क्लीमिति बीजशक्तिः कीलकम्। मन्त्रेण न्यासः ॥ २४॥

'यद्वाग्वदन्ति।' इस मंत्र के द्रष्टा ऋषि-भार्गव हैं। छन्द-त्रिष्टुप् और देवता-सरस्वती हैं। बीज, शक्ति एवं कीलक-ये तीनों ही 'क्ली' है। इस मंत्र द्वारा न्यास की क्रिया भी सम्पन्न की जाती है॥ २४॥ नामजात्यादिभिर्भेदैरष्ट्था या विकल्पिता। निर्विकल्पात्मना व्यक्ता सा मां पातु सरस्वती ॥२५॥

जो देवी सरस्वती नाम-जाति आदि भेदों के द्वारा अष्टधा (आठ रूपों वाली) बनी हुई हैं, साथ ही निर्विकल्प रूप से भी परिलक्षित हो रही हैं, वे माता सरस्वती हम सभी को संरक्षण प्रदान करें॥ २५॥

क्लीं यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्त्रा। चतत्स्त्र ऊर्ज दुदुहे पर्यांसि क्ल स्विदस्याः परमं जगाम ॥ २६॥

राष्ट्री अर्थात् दिव्य भावनाओं को प्रादुर्भूत करने वाली और समस्त देवों को आनन्दित कर देने वाली (देवी) वाक्-शक्ति जिस समय अज्ञानियों को ज्ञान प्रदान करती हुई यज्ञ में उपस्थित होती हैं, उस समय माता सरस्वती चतुर्दिक् के निमित्त अत्र एवं जल का दोहन करती हैं। इन मध्यमा वाणी में जो श्रेष्ठतम् (तत्त्व) है, वह कहाँ गमन करता है?॥ २६॥

देवीं वाचमिति मन्त्रस्य भार्गव ऋषिः। त्रिष्टुप् छन्दः। सरस्वती देवता। सौरिति बीजशक्तिः कीलकम्। मन्त्रेण न्यासः ॥ २७॥

'देवीं वाचं।' इस मंत्र के द्रष्टा ऋषि भार्गव हैं। छन्द-त्रिष्टुप् एवं देवता-सरस्वती हैं। बीज, शक्ति एवं कीलक-ये तीनों ही 'सौः' है। इस मंत्र के द्वारा ही न्यास की क्रिया सम्पन्न कर लेनी चाहिए॥ २७॥ व्यक्ताव्यक्तगिरः सर्वे वेदाद्या व्याहरन्ति याम्। सर्वकामदुद्य धेनुः सा मां पातु सरस्वती ॥२८॥

जिन वाक्-स्वरूपा माता सरस्वती की व्यक्त एवं अव्यक्त वाणी का देवादि सहित सभी जीव समुदाय वाचन करते हैं। जो (देवी) समस्त वांछित पदार्थों को दुर्धवत् प्रदान करने में कामधेनु सदृश सक्षम हैं, वे माता सरस्वती देवी हम सभी को संरक्षण देने की कृपा करें॥ २८॥

सौः देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति । सा नो मन्द्रेषमूर्जुं दुहाना
धेनुर्वागस्मानुपसुष्टौतैतु ॥ २९ ॥

जिस कान्तिमय वैखरी वाणी को प्राणस्वरूप देवगणों द्वारा प्रकट किया गया है। जिसका समस्त प्राणी उच्चारण करते हैं। वे कामधेनु के समान आनन्द-प्रदायक एवं अन्न, बल प्रदान करनेवाली वाक्-रूपिणी देवी उत्तम स्तुतियों से संतुष्ट होती हुई हम सभी साधकों के समीप उपस्थित हों ॥ २९ ॥

उत त्व इति मन्त्रस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । त्रिष्टुप् छन्दः । सरस्वती देवता । समिति बीजशक्तिः
कीलकम् । मन्त्रेण न्यासः ॥ ३० ॥

'उत त्वः ।' इस मंत्र के द्रष्टा ऋषि-बृहस्पति हैं। छन्द-त्रिष्टुप् है और देवता-सरस्वती हैं। 'सं'-यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है। इसी मंत्र द्वारा न्यास सम्पन्न करे ॥ ३० ॥

यां विदित्वाखिलं बन्धं निर्मथ्याखिलवर्त्मना । योगी याति परं स्थानं सा मां पातु सरस्वती ॥ ३१ ॥

जिन देवी सरस्वती को योगीजन ब्रह्म विद्यारूप में जानकर समस्त बन्धनों से मुक्त हो जाते हैं तथा जिस सन्मार्ग के द्वारा पूर्णता की-परम अविनाशी पद की प्राप्ति होती है, वे देवी-सरस्वती हम सभी को संरक्षण प्रदान करें ॥ ३१ ॥

सं उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् । उतो त्वस्मै तत्वं विसर्जे
जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥ ३२ ॥

कुछ लोग वाक्-शक्ति को दृश्य रूप में देखते हुए भी देख नहीं पाते हैं, कुछ लोग श्रवण करते हुए भी श्रवण नहीं कर पाते हैं; लेकिन किन्हीं-किन्हीं के लिए ये वाक्-देवी अपने स्वरूप को ठीक उसी तरह प्रकट कर देती हैं, जिस तरह पति की इच्छा करने वाली, वस्त्राभूषणों से अलंकृत, स्त्री अपने को पति के समक्ष अनावृत करके समर्पित कर देती है ॥ ३२ ॥

अम्बितम इति मन्त्रस्य गृत्समद ऋषिः । अनुष्टुप् छन्दः । सरस्वती देवता । ऐमिति
बीजशक्तिः कीलकम् । मन्त्रेण न्यासः ॥ ३३ ॥

'अम्बितमे ।' इस मंत्र के द्रष्टा ऋषि-गृत्समद हैं। छन्द-अनुष्टुप् है और देवता सरस्वती हैं। 'ऐं' यह बीज, शक्ति एवं कीलक तीनों ही है। मंत्र के द्वारा ही न्यास की क्रिया सम्पन्न करे ॥ ३३ ॥

नामरूपात्मकं सर्वं यस्यामावेश्य तां पुनः । ध्यायन्ति ब्रह्मरूपैका सा मां पातु सरस्वती ॥ ३४ ॥

जिन माता सरस्वतीदेवी में ब्रह्मज्ञानीजन इस नाम-रूपात्मक सम्पूर्ण मायाजाल को आविष्ट करते हुए सतत उन्हीं का चिन्तन करते हैं। ब्रह्मरूप से सम्पन्न वे माता सरस्वतीदेवी हम सभी को संरक्षण प्रदान करें ॥ ३४ ॥ ऐं अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति । अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृथि ॥ ३५ ॥

हे माता सरस्वती! आप समस्त मातृशक्तियों में, नदियों में तथा देवियों में भी सर्वश्रेष्ठ हैं। हम धन के अभाव से अप्रशस्त अर्थात् अभावग्रस्त की भाँति हो रहे हैं। हे माँ! आप हम सभी को प्रशस्त अर्थात् हर प्रकार सम्पन्न बनाने की कृपा करें ॥ ३५ ॥

चतुर्मुखमुखाभ्योजवनहंसवधूर्मम् । मानसे रमतां नित्यं सर्वशुक्ला सरस्वती ॥ ३६ ॥
नमस्ते शारदे देवि काश्मीरपुरवासिनि । त्वामहं प्रार्थये नित्यं विद्यादानं च देहि मे ॥ ३७ ॥
अक्षसूत्राङ्कुशधरा पाशपुस्तकधारिणी । मुक्ताहारसमायुक्ता वाचि तिष्ठतु मे सदा ॥ ३८ ॥

कम्बुकण्ठी सुताम्रोष्टी सर्वाभरणभूषिता । महासरस्वती देवी जिह्वाग्रे संनिविश्यताम् ॥३९ ॥
 या श्रद्धा धारणा मेधा वारदेवी विधिवल्लभा । भक्तजिह्वाग्रसदना शमादिगुणदायिनी ॥४० ॥
 नमामि यामिनीनाथलेखालंकृतकुन्तलाम् । भवानीं भवसंतापनिर्वापणसुधानदीम् ॥४१ ॥
 यः कवित्वं निरातङ्कं भुक्तिमुक्ती च वाञ्छति । सोऽभ्यच्छ्येनां दशशलोक्या नित्यं स्तौति
 सरस्वतीम् ॥४२ ॥

जो माता सरस्वती प्रजापति ब्रह्माजी के मुखरूपी कमल के वन में राजहंसी सदृश विचरण करती हैं, वे चतुर्दिक् शुभ्र कान्तिमयी देवी सरस्वती मनरूपी मानस में प्रतिदिन रमण करें। हे काश्मीर देश में रहने वाली शारदे देवि! आपको नमन-वन्दन है। मैं नित्य-प्रति आपकी प्रार्थना करता हूँ। कृपापूर्वक (आप) मुझे विद्या (सदज्ञान) प्रदान करने की कृपा करें। आप सदैव अपने चारों हाथों में अक्षसूत्र, अंकुश, पाश एवं पुस्तक धारण करने वाली हैं। आपके हृदय-प्रदेश में मुक्ताहार सतत शोभायमान है। हे देवि सरस्वति! आप मेरी वाणी में सदैव वास करें। शंखवत् सुन्दर कण्ठ एवं श्रेष्ठ ताप्र के समान ओष्ठों से युक्त, समस्त आभूषणों से अलंकृता देवी महासरस्वती मेरे जिह्वाग्र में सुखपूर्वक प्रतिष्ठित हैं। जो माता सरस्वती देवी श्रद्धा, धारणा, मेधारूपा एवं विधि-वल्लभा हैं, वे माता हम भक्तजनों को शम, दम आदि षट्सम्पत्तियाँ प्रदान करते हुए सदैव हमारे जिह्वाग्र में निवास करें। जो चन्द्रकला के द्वारा अलंकृत केश-पाश से युक्त हैं और जो भव-संताप को विनष्ट करने वाली अमृत तुल्य जलरूप नदी के समान हैं, उन भवानी माता सरस्वती को मैं नमन-वन्दन करता हूँ। जिस पुरुष को कवित्व, भोग, निर्भयता एवं मुक्ति की आकांक्षा हो, वह इन दस मन्त्रों से युक्त माता सरस्वती की भक्ति-भाव से नित्य स्तुति करे॥ ३६-४२ ॥

तस्यैवं स्तुवतो नित्यं समभ्यर्च्य सरस्वतीम् । भक्तिश्रद्धाभियुक्तस्य षण्मासात्प्रत्ययो भवेत् ॥४३ ॥
 ततः प्रवर्तते वाणी स्वेच्छया ललिताक्षरा । गद्यपद्यात्पकैः शब्देरप्रमेयैर्विवक्षितैः ॥ ४४ ॥
 अश्रुतो बुध्यते ग्रन्थः प्रायः सारस्वतः कविः ॥४५ ॥ इत्येवं निश्चयं विप्राः सा होवाच सरस्वती ।
 आत्मविद्या मया लब्धा ब्रह्मणैव सनातनी । ब्रह्मत्वं मे सदा नित्यं सच्चिदानन्दरूपतः ॥४६ ॥
 प्रकृतित्वं ततः सृष्टं सत्त्वादिगुणसाम्यतः । सत्यमाभाति चिच्छाया दर्पणे प्रतिबिम्बवत् ॥४७ ॥
 तेन चित्प्रतिबिम्बेन त्रिविद्या भाति सा पुनः । प्रकृत्यवच्छिन्नतया पुरुषत्वं पुनश्च ते ॥ ४८ ॥

जो मनुष्य श्रद्धा-भक्तिपूर्वक माता सरस्वती देवी का विधिवत् पूजन करके नित्य स्तवन करता है। उसे छः मास के अन्तर्गत ही उनकी कृपा की प्राप्ति हो जाती है। इसके अनन्तर उस मनुष्य के मुख द्वारा अद्वितीय, प्रमेय-रहित, गद्य-पद्य से युक्त शब्दों के रूप में लालित्यपूर्ण अक्षरों से युक्त वाणी स्वतः निःसृत होने लगती है। माता सरस्वती की कृपाप्राप्त भक्त कवि प्रायः दूसरों के द्वारा बिना श्रवण किये ही आर्ष-ग्रन्थों के अभिप्राय को जानने में समर्थ हो जाता है। हे ब्राह्मणो! ऐसा दृढ़ विचार माता सरस्वती देवी ने स्वतः ही अपने श्रीमुख से कहा था। प्रजापति ब्रह्माजी के द्वारा ही हमने उनकी सत्य-सनातन युक्त आत्मविद्या को प्राप्त किया और मैं सत्-चित्-था। प्रजापति ब्रह्माजी के द्वारा ही हमने उनकी सत्य-सनातन युक्त आत्मविद्या को सम्प्राप्त हूँ। इसके अनन्तर सत्-रज एवं तम गुणों की समानता आनन्द स्वरूप वाले नित्य अविनाशी ब्रह्मत्व को सम्प्राप्त हूँ। इसके अनन्तर सत्-रज एवं तम गुणों की समानता आनन्द प्रकृति की रचना सम्पन्न हुई। जिस प्रकार से दर्पण में प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार प्रकृति से इस प्रकृति की रचना सम्पन्न हुई। उस चैतन्य तत्त्व के प्रतिबिम्ब द्वारा ही प्रकृति तीन तरह में चैतन्य तत्त्व का प्रतिबिम्ब सत्यवत् प्रतीत होता है। उस चैतन्य तत्त्व के प्रतिबिम्ब द्वारा ही प्रकृति तीन तरह की प्रतीत होती है। प्रकृति-योग के द्वारा ही तुम्हें यह जीवत्व (शरीर) प्राप्त हुआ है॥ ४३-४८ ॥

सौः देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति । सा नो मन्त्रेषमूर्ज दुहाना धेनुर्वागस्मानुपसुष्टुतैतु ॥ २९ ॥

जिस कान्तिमय वैखरी वाणी को प्राणस्वरूप देवगणों द्वारा प्रकट किया गया है। जिसका समस्त प्राणी उच्चारण करते हैं। वे कामधेनु के समान आनन्द-प्रदायक एवं अन्न, बल प्रदान करनेवाली वाक्-रूपिणी देवी उत्तम स्तुतियों से संतुष्ट होती हुई हम सभी साधकों के समीप उपस्थित हों। २९ ॥

उत त्व इति मन्त्रस्य बृहस्पतिर्ऋषिः । त्रिष्टुप् छन्दः । सरस्वती देवता । समिति बीजशक्तिः कीलकम् । मन्त्रेण न्यासः ॥ ३० ॥

'उत त्वः ।' इस मंत्र के द्रष्टा ऋषि-बृहस्पति हैं। छन्द-त्रिष्टुप् है और देवता-सरस्वती हैं। 'सं' -यह बीज, शक्ति और कीलक तीनों है। इसी मंत्र द्वारा न्यास सम्पन्न करे। ३० ॥

यां विदित्वाखिलं बन्धं निर्मथ्याखिलवर्त्मना । योगी याति परं स्थानं सा मां पातु सरस्वती ॥३१ ॥

जिन देवी सरस्वती को योगीजन ब्रह्म विद्यारूप में जानकर समस्त बन्धों से मुक्त हो जाते हैं तथा जिस सन्मार्ग के द्वारा पूर्णता की-परम अविनाशी पद की प्राप्ति होती है, वे देवी-सरस्वती हम सभी को संरक्षण प्रदान करें। ३१ ॥

सं उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृणवन्न शृणोत्येनाम् । उतो त्वस्मै तन्वं विसस्ते जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥ ३२ ॥

कुछ लोग वाक्शक्ति को दृश्य रूप में देखते हुए भी देख नहीं पाते हैं, कुछ लोग श्रवण करते हुए भी श्रवण नहीं कर पाते हैं; लेकिन किन्हीं-किन्हीं के लिए ये वाक्-देवी अपने स्वरूप को ठीक उसी तरह प्रकट कर देती हैं, जिस तरह पति की इच्छा करने वाली, वस्त्राभूषणों से अलंकृत, स्त्री अपने को पति के समक्ष अनावृत करके समर्पित कर देती है। ३२ ॥

अम्बितम इति मन्त्रस्य गृत्समद ऋषिः । अनुष्टुप् छन्दः । सरस्वती देवता । ऐमिति बीजशक्तिः कीलकम् । मन्त्रेण न्यासः ॥ ३३ ॥

'अम्बितमे ।' इस मंत्र के द्रष्टा ऋषि-गृत्समद हैं। छन्द-अनुष्टुप् है और देवता सरस्वती हैं। 'ऐं' यह बीज, शक्ति एवं कीलक तीनों ही है। मंत्र के द्वारा ही न्यास की क्रिया सम्पन्न करे। ३३ ॥

नामरूपात्मकं सर्वं यस्यामावेश्य तां पुनः । ध्यायन्ति ब्रह्मरूपैका सा मां पातु सरस्वती ॥ ३४ ॥

जिन माता सरस्वतीदेवी में ब्रह्मज्ञानीजन इस नाम-रूपात्मक सम्पूर्ण मायाजाल को आविष्ट करते हुए सतत उन्हीं का चिन्तन करते हैं। ब्रह्मरूप से सम्पन्न वे माता सरस्वतीदेवी हम सभी को संरक्षण प्रदान करें। ३४ ॥ ऐं अम्बितमे नदीतमे देवितमे सरस्वति। अप्रशस्ता इव स्मसि प्रशस्तिमम्ब नस्कृथि ॥ ३५ ॥

हे माता सरस्वती! आप समस्त मातृशक्तियों में, नदियों में तथा देवियों में भी सर्वश्रेष्ठ हैं। हम धन के अभाव से अप्रशस्त अर्थात् अभावग्रस्त की भाँति हो रहे हैं। हे माँ! आप हम सभी को प्रशस्त अर्थात् हर प्रकार सम्पन्न बनाने की कृपा करें। ३५ ॥

चतुर्मुखमुखाभ्योजवनहंसवधूर्मभ । मानसे रमतां नित्यं सर्वशुक्ला सरस्वती ॥ ३६ ॥
नमस्ते शारदे देवि काश्मीरपुरवासिनि । त्वामहं प्रार्थये नित्यं विद्यादानं च देहि मे ॥ ३७ ॥
अक्षसूत्राङ्कुशधरा पाशपुस्तकधारिणी । मुक्ताहारसमायुक्ता वाचि तिष्ठतु मे सदा ॥ ३८ ॥

कम्बुकण्ठी सुताप्रोष्टी सर्वाभरणभूषिता । महासरस्वती देवी जिह्वाग्रे संनिविश्यताम् ॥३९ ॥
 या श्रद्धा धारणा मेथा वाग्देवी विधिवल्लभा । भक्तजिह्वाग्रसदना शमादिगुणदायिनी ॥४० ॥
 नमामि यामिनीनाथलेखालंकृतकुन्तलाम् । भवानीं भवसंतापनिर्वापणसुधानदीम् ॥४१ ॥
 यः कवित्वं निरातङ्कं भुक्तिमुक्ती च वाञ्छति । सोऽभ्यच्छ्येनां दशश्लोक्या नित्यं स्तौति
 सरस्वतीम् ॥४२ ॥

जो माता सरस्वती प्रजापति ब्रह्माजी के मुखरूपी कमल के बन में राजहंसी सदृश विचरण करती हैं, वे चतुर्दिक् शुभ्र कान्तिमयी देवी सरस्वती मनरूपी मानस में प्रतिदिन रमण करें। हे काश्मीर देश में रहने वाली शारदे देवि! आपको नमन-बन्दन है। मैं नित्य-प्रति आपकी प्रार्थना करता हूँ। कृपापूर्वक (आप) मुझे विद्या (सद्ज्ञान) प्रदान करने की कृपा करें। आप सदैव अपने चारों हाथों में अक्षसूत्र, अंकुश, पाश एवं पुस्तक धारण करने वाली हैं। आपके हृदय-प्रदेश में मुक्ताहर सतत शोभायमान है। हे देवि सरस्वति! आप मेरी वाणी में सदैव वास करें। शंखवत् सुन्दर कण्ठ एवं श्रेष्ठ ताम्र के समान ओष्ठों से युक्त, समस्त आभूषणों से अलंकृता देवी महासरस्वती मेरे जिह्वाग्र में सुखपूर्वक प्रतिष्ठित हों। जो माता सरस्वती देवी श्रद्धा, धारणा, मेधारूपा एवं विधि-वल्लभा हैं, वे माता हम भक्तजनों को शम, दम आदि षट्सम्पत्यां प्रदान करते हुए सदैव हमारे जिह्वाग्र में निवास करें। जो चन्द्रकला के द्वारा अलंकृत केश-पाश से युक्त हैं और जो भव-संताप को विनष्ट करने वाली अमृत तुल्य जलरूप नदी के समान हैं, उन भवानी माता सरस्वती को मैं नमन-बन्दन करता हूँ। जिस पुरुष को कवित्व, भोग, निर्भयता एवं मुक्ति की आकांक्षा हो, वह इन दस मन्त्रों से युक्त माता सरस्वती की भक्ति-भाव से नित्य स्तुति करे॥ ३६-४२ ॥

तस्यैवं स्तुवतो नित्यं समभ्यच्छ्यं सरस्वतीम् । भक्तिश्रद्धाभियुक्तस्य षण्मासात्प्रत्ययो भवेत् ॥४३ ॥
 ततः प्रवर्तते वाणी स्वेच्छया ललिताक्षरा । गद्यपद्यात्मकैः शब्दैरप्रमेयैर्विवक्षितैः ॥ ४४ ॥
 अश्रुतो बुध्यते ग्रन्थः प्रायः सारस्वतः कविः ॥४५ ॥ इत्येवं निश्चयं विप्राः सा होवाच सरस्वती ।
 आत्मविद्या मया लब्धा ब्रह्मणैव सनातनी । ब्रह्मत्वं मे सदा नित्यं सच्चिदानन्दरूपतः ॥४६ ॥
 प्रकृतित्वं ततः सृष्टं सत्त्वादिगुणसाम्यतः । सत्यमाभाति चिच्छाया दर्पणे प्रतिबिम्बवत् ॥४७ ॥
 तेन चित्प्रतिबिम्बेन त्रिविदा भाति सा पुनः । प्रकृत्यवच्छिन्नतया पुरुषत्वं पुनश्च ते ॥ ४८ ॥

जो मनुष्य श्रद्धा-भक्तिपूर्वक माता सरस्वती देवी का विधिवत् पूजन करके नित्य स्तवन करता है। उसे छः मास के अन्तर्गत ही उनकी कृपा की प्राप्ति हो जाती है। इसके अनन्तर उस मनुष्य के मुख द्वारा अद्वितीय, प्रमेय-रहित, गद्य-पद्य से युक्त शब्दों के रूप में लालित्यपूर्ण अक्षरों से युक्त वाणी स्वतः निःसृत होने लगती है। प्रकृतित्वं ततः सृष्टं सत्त्वादिगुणसाम्यतः । सत्यमाभाति चिच्छाया दर्पणे प्रतिबिम्बवत् ॥४३-४८ ॥
 जो माता सरस्वती की कृपाप्राप्त भक्त कवि प्रायः दूसरों के द्वारा बिना श्रवण किये ही आर्ष-ग्रन्थों के अभिप्राय को जानने में समर्थ हो जाता है। हे ब्राह्मणो! ऐसा दृढ़ विचार माता सरस्वती देवी ने स्वतः ही अपने श्रीमुख से कहा था। प्रजापति ब्रह्माजी के द्वारा ही हमने उनकी सत्य-सनातन युक्त आत्मविद्या को प्राप्त किया और मैं सत्-चित्-था। प्रजापति ब्रह्माजी के द्वारा ही हमने उनकी सत्य-सनातन युक्त आत्मविद्या को सम्प्राप्त हूँ। इसके अनन्तर सत्-रज एवं तम गुणों की समानता आनन्द स्वरूप वाले नित्य अविनाशी ब्रह्मत्व को सम्प्राप्त हूँ। इसके अनन्तर सत्-रज एवं तम गुणों की समानता आनन्द स्वरूप वाले नित्य अविनाशी ब्रह्मत्व को सम्प्राप्त हुई। जिस प्रकार से दर्पण में प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार प्रकृति से इस प्रकृति की रचना सम्पन्न हुई। उसी प्रकार से दर्पण में प्रतिबिम्ब दृष्टिगोचर होता है। उस चैतन्य तत्त्व के प्रतिबिम्ब द्वारा ही प्रकृति तीन तरह में चैतन्य तत्त्व का प्रतिबिम्ब सत्यवत् प्रतीत होता है। उस चैतन्य तत्त्व के प्रतिबिम्ब द्वारा ही प्रकृति तीन तरह की प्रतीत होती है। प्रकृति-योग के द्वारा ही तुम्हें यह जीवत्व (शरीर) प्राप्त हुआ है॥ ४३-४८ ॥

शुद्धसत्त्वप्रधानायां मायायां बिभितो ह्रजः । सत्त्वप्रधाना प्रकृतिर्मयेति प्रतिपाद्यते ॥ ४९ ॥
 सा माया स्ववशोपाधिः सर्वज्ञस्येश्वरस्य हि । वश्यमायत्वमेकत्वं सर्वज्ञत्वं च तस्य तु ॥ ५० ॥
 सात्त्विकत्वात्समष्टित्वात्साक्षित्वाजगतामपि । जगत्कर्तुमकर्तुं वा चान्यथा कर्तुमीशते । यः स
 ईश्वर इत्युक्तः सर्वज्ञत्वादिभिर्गुणैः ॥ ५१ ॥

शुद्ध सत्त्वगुण की प्रधानता से युक्त प्रकृति माया कहलाती है । उस सतोगुणी माया में प्रतिबिम्बित चैतन्य तत्त्व को ही ब्रह्म के नाम से जाना जाता है । वह माया सबके जाने वाले ब्रह्म की अपने आश्रित रहने वाली उपाधि है । माया को अपने नियन्त्रण में रखना, अद्वितीय एवं सर्वज्ञत्व होना-यही उन विहार ब्रह्म के प्रमुख लक्षण हैं । समस्त लोकों के साक्षीरूप होने तथा समष्टि रूप एवं सात्त्विक गुण से युक्त होने के कारण वे ब्रह्म जगत् की संरचना करने, न करने और उससे भी भिन्न कार्य करने में पूर्ण समर्थ हैं । इस कारण सर्वज्ञत्व आदि गुणों से सम्पन्न वह चैतन्यतत्त्व ईश्वररूप कहा जाता है ॥ ४९-५१ ॥

शक्तिद्वयं हि मायाया विक्षेपावृतिरूपकम् । विक्षेपशक्तिर्लिङ्गादि ब्रह्माण्डान्तं जगत्सृजेत् ॥ ५२ ॥
 अन्तर्दृग्दृश्ययोर्भेदं बहिश्च ब्रह्मसर्गयोः । आवृणोत्यपरा शक्तिः सा संसारस्य कारणम् ॥ ५३ ॥

विक्षेप और आवरण माया की ये दो शक्तियाँ हैं । प्रथम विक्षेपरूपी शक्ति लिङ्ग-देह से लेकर ब्रह्माण्ड पर्यन्त जगत् की संरचना करती है । द्वितीय आवरणरूपी अपरा शक्ति है, जो अन्तर्जगत् में ब्रह्म एवं सृष्टि के कारण भेद को आवृत करती है । वह ही सांसारिक बन्धनों की मुख्य कारण है ॥ ५२-५३ ॥

साक्षिणः पुरतो भातं लिङ्गदेहेन संयुतम् । चितिच्छायासमावेशाज्जीवः स्यादव्यावहारिकः ॥ ५४ ॥

साक्षी को वह अपने समक्ष लिङ्ग-देह से युक्त प्रतीत होती है । चैतन्यतत्त्व का प्रतिबिम्ब जब कारण रूपा प्रकृति में समाहित होता है, तब दृश्य जगत् में कार्य करने वाला जीव प्रादुर्भूत होता है ॥ ५४ ॥

अस्य जीवत्वमारोपात्साक्षिण्यप्यवभासते । आवृतौ तु विनष्टायां भेदे भातेऽपयाति तत् ॥ ५५ ॥

तथा सर्गब्रह्मणोश्च भेदमावृत्य तिष्ठति । या शक्तिस्तद्वशाद्ब्रह्म विकृतत्वेन भासते ॥ ५६ ॥

अत्राप्यावृतिनाशेन विभाति ब्रह्मसर्गयोः । भेदस्तयोर्विकारः स्यात्सर्गे न ब्रह्मणि क्वचित् ॥ ५७ ॥

अस्ति भाति प्रियं रूपं नाम चेत्यंशपञ्चकम् । आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततो द्वयम् ॥ ५८ ॥

अपेक्ष्य नामरूपे द्वे सच्चिदानन्दतत्परः । समाधिं सर्वदा कुर्याद्बृद्धये वाथ वा बहिः ॥ ५९ ॥

आवरणशक्ति के विनष्ट होते ही भेद की प्रतीति स्पष्टतया होने लगती है अर्थात् इस आवरण शक्ति से चैतन्यतत्त्व का अचेतन में आत्मभाव नहीं होता । इसलिए जीवत्व की स्थिति समाप्त हो जाती है और जो शक्ति ब्रह्म के भेद को आवृत करके प्रतिष्ठित होती है, उसी शक्ति के वश में हुआ ब्रह्म विकारग्रस्त हुआ-सा प्रतीत होता है । वहाँ पर भी आवरण के विनष्ट होते ही ब्रह्म एवं सृष्टि का भेद स्पष्टतया आभासित होने लगता है । उन दोनों (ब्रह्म और सृष्टि) में से सृष्टि ही विकारग्रस्त स्थिति को प्राप्त होती है, ब्रह्म तो निर्विकार है । अस्ति (है), भाति (आभास होता है), प्रिय (आनन्द स्वरूप), रूप और नाम-यही पाँच अंश कहे गये हैं और नाम तथा रूप को जगत् का स्वरूप बतलाया गया है । नाम एवं रूप के सम्बन्ध से ही सत्-चित्-आनन्दमय परमात्मतत्त्व जगत् के रूप में प्रतिष्ठित होता है । साधक पुरुष को अपने अन्तः-बाह्य में सदैव समाधि-साधन में तत्पर रहना चाहिए ॥ ५५-५९ ॥

सविकल्पो निर्विकल्पः समाधिर्द्विविधो हृदि । दृश्यशब्दानुभेदेन स विकल्पः पुनर्द्विधा ॥ ६० ॥

कामाद्याश्चित्तगा दृश्यास्तत्साक्षित्वेन चेतनम् । ध्यायेददृश्यानुविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः ॥६१ ॥ असङ्गः सच्चिदानन्दः स्वप्रभो द्वैतवर्जितः । अस्मीतिशब्दविद्धोऽयं समाधिः सविकल्पकः ॥ ६२ ॥ स्वानुभूतिरसावेशाददृश्यशब्दाद्यपेक्षितुः । निर्विकल्पः समाधिः स्यात्रिवातस्थितदीपवत् ॥ ६३ ॥ हृदीव बाह्यदेशोऽपि यस्मिन्कस्मिन्श्व वस्तुनि । समाधिराद्यसन्मात्रानामरूपपृथक्कृतिः ॥ ६४ ॥ स्तब्धीभावोरसास्वादात्तृतीयः पूर्ववन्मतः । एतैः समाधिभिः षड्भिर्नयेत्कालं निरन्तरम् ॥ ६५ ॥

हृदय में दो प्रकार की समाधि होती है, जिसमें प्रथम सविकल्प और द्वितीय निर्विकल्प । सविकल्प समाधि के भी दो रूप हैं, जिनमें प्रथम दृश्यानुविद्ध एवं द्वितीय शब्दानुविद्ध । चित्त में प्रकट होने वाले कामादि विकार दृश्य हैं एवं चेतन आत्मा ही उनका साक्षी है, ऐसा ही चिन्तन करना चाहिए । यह दृश्यानुविद्ध सविकल्प समाधि है । मैं सङ्गरहित, सत्-चित्-आनन्द स्वरूप, प्रकाश स्वरूप, द्वैतरहित हूँ । ऐसी सविकल्प समाधि शब्दानुविद्ध कही जाती है । आत्मानुभव किये जाने वाले रस के आवेश वश दृश्य एवं शब्द की उपेक्षा करने वाले साधक के हृदय में निर्विकल्प समाधि की स्थिति बन जाती है । उस समय साधक (योगी) की स्थिति वायु-रहित दीपक के सदृश अविचल बनी रहती है । यह निर्विकल्प एवं सविकल्प समाधि हृदय में प्रतिष्ठित है । इसी प्रकार शरीर से बाहर अन्य किसी वस्तु विशेष के प्रति लक्ष्य करके चित्त में एकाग्रता होने पर समाधि लग जाती है । प्रथम समाधि द्रष्टा एवं दृश्य के विवेक द्वारा होती है । द्वितीय तरह की समाधि वह है, जिसमें प्रत्येक वस्तु के द्वारा उसके नाम एवं रूप का पृथक्करण तथा उसके अधिष्ठानभूत चैतन्य तत्त्व का ध्यान किया जाता है । तीसरी समाधि पूर्व की भाँति ही कही गयी है । इस समाधि में सर्वत्र व्यापक चैतन्य रस की अनुभूति से प्रकट हुए आवेश द्वारा स्तब्धता की स्थिति हो जाती है । इन छः तरह की समाधियों के साधन में ही सतत अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए ॥ ६०-६५ ॥

देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि । यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र परामृतम् ॥ ६६ ॥ भिद्यते हृदयग्रन्थश्चिद्द्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे ॥ ६७ ॥ मयि जीवत्वमीशत्वं कल्पितं वस्तुतो न हि । इति यस्तु विजानाति स मुक्तो नात्र संशयः ॥ इत्युपनिषत् ॥ ६८ ॥

देहाभिमान के समाप्त हो जाने के बाद ही परमात्म-ज्ञान प्रकट होता है । इस श्रेष्ठ ज्ञान के प्रादुर्भूत होने के पश्चात् मन जहाँ-जहाँ गमन करता है, वहाँ-वहाँ ही वह(मन) श्रेष्ठ अमृतत्व के अनुभव से आनन्दित होता है । उस समय सभी तरह के संशय समाप्त हो जाते हैं और हृदय की ग्रन्थियाँ स्वयमेव खुल जाती हैं । उस कला-विहीन एवं कला युक्त ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाने के पश्चात् मनुष्य के समस्त कर्मों का क्षय हो जाता है । जो भी मुझमें जीवत्व एवं ईश्वरत्व के भेद कल्पित हैं, वे यथार्थ नहीं हैं । ऐसा जो भी जान लेता है, वास्तव में वही पुरुष मुक्त है । इसमें तनिक भी संशय नहीं करना चाहिए । ऐसा ही श्रेष्ठ यह उपनिषद् (रहस्य) ज्ञान है ॥६६-६८ ॥

ॐ वाऽमे मनसि इति शान्तिः ॥

॥ इति सरस्वतीरहस्योपनिषत्समाप्ता ॥



॥ सावित्र्युपनिषद् ॥

यह उपनिषद् सामवेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। अतिलघुकाय इस उपनिषद् में सविता-सावित्री के विविध रूपों की परिकल्पना करके उनमें एकत्र प्रतिपादित किया गया है।

सर्वप्रथम सविता-सावित्री के युग्म एवं उनका कार्य-कारणत्व का प्रतिपादन है। तदुपरान्त सावित्री के तीन पादों, सावित्री (विद्या) के ज्ञान का प्रतिफल तथा उससे मृत्यु पर विजय, बला-अतिबला मन्त्रों का निरूपण और अन्त में उपनिषद् विद्या की महिमा बताते हुए उपनिषद् को पूर्णता प्रदान की गई है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ आप्यायन्तु इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-महोपनिषद्)

कः सविता का सावित्री अग्निरेव सविता पृथिवी सावित्री स यत्राग्निस्तत्पृथिवी यत्र वै पृथिवी तत्राग्निस्ते द्वे योनिः तदेकं मिथुनम् ॥ १ ॥ कः सविता का सावित्री वरुण एव सविता ॥ २ ॥ कः सविता का सावित्री वायुरेव सविताकाशः सावित्री स यत्र वायुस्तदाकाशो यत्र वा आकाशस्तद्वायुस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥ ३ ॥ कः सविता का सावित्री यज्ञ एव सविता छन्दांसि सावित्री स यत्र यज्ञस्तत्र छन्दांसि यत्र वा छन्दांसि स यज्ञस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥ ४ ॥ कः सविता का सावित्री स्तनयित्युरेव सविता विद्युत्सावित्री स यत्र स्तनयित्युस्तद्विद्युत् यत्र वा विद्युत्तत्र स्तनयित्युस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥ ५ ॥ कः सविता का सावित्री आदित्य एव सविता द्यौः सावित्री स यत्रादित्यस्तद्द्यौर्यत्र वा द्यौस्तदादित्यस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥ ६ ॥ कः सविता का सावित्री चन्द्र एव सविता नक्षत्राणि सावित्री स यत्र चन्द्रस्तन्नक्षत्राणि यत्र वा नक्षत्राणि स चन्द्रमास्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥ ७ ॥ कः सविता का सावित्री मन एव सविता वाक् सावित्री स यत्र वा मनस्तद्वाक् यत्र वा वाक् तन्मनस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥ ८ ॥ कः सविता का सावित्री पुरुष एव सविता स्त्री सावित्री स यत्र पुरुषस्तस्त्री यत्र वा स्त्री स पुरुषस्ते द्वे योनिस्तदेकं मिथुनम् ॥ ९ ॥

सविता कौन है तथा सावित्री कौन है ? अग्नि ही सविता है, पृथिवी ही सावित्री है। वे अग्निदेव जहाँ पर स्थित हैं, वहाँ पर पृथिवी भी प्रतिष्ठित है। जहाँ पृथिवी है, वहाँ अग्निदेव हैं। वे दोनों योनि अर्थात् विश्व को उत्पन्न करने वाले हैं। उन दोनों का एक ही युग्म है। सविता कौन है और सावित्री कौन है ? वरुणदेव ही सविता हैं, आपः (जल) ही सावित्री है। जहाँ पर वरुणदेव हैं, वहाँ पर ही आपः देवता हैं और जहाँ आपः (जलदेवता) हैं, वहाँ ही वरुण हैं। वे दोनों एक ही युग्म हैं। सविता कौन है तथा सावित्री कौन है ? वायु देवता

सविता है और आकाश ही सावित्री है। जहाँ वायु है, वहीं पर आकाश है, जहाँ आकाश है, वहाँ पर ही वायु है। वे दोनों योनि स्वरूप हैं, उन दोनों का एक ही युग्म है। सविता कौन है और सावित्री कौन है? यज्ञदेव सविता हैं और छन्द ही सावित्री हैं। जहाँ पर यज्ञ देवता हैं, वहीं पर छन्द है और जहाँ छन्द है वहीं पर यज्ञदेव हैं। वे दोनों योनिस्वरूप हैं, उन दोनों का एक ही युग्म है। सविता किन्हें कहते हैं और सावित्री किन्हें कहते हैं? गर्जन करने वाले मेघ को सविता कहते हैं और विद्युत् को ही सावित्री कहते हैं। जहाँ गर्जन करने वाले मेघ हैं, वहीं पर ही विद्युत् है और जहाँ विद्युत् है, वहीं गर्जन करने वाले मेघ स्थित रहते हैं। वे दोनों योनिस्वरूप हैं, उन दोनों का एक युग्म है। सविता किसे कहते हैं और सावित्री किसे कहते हैं? आदित्य सविता और द्युलोक ही सावित्री हैं। जहाँ पर आदित्य हैं, वहाँ ही द्युलोक और जहाँ द्युलोक है, वहीं पर आदित्य स्थित हैं। वे दोनों योनि स्वरूप हैं, उन दोनों का एक ही युग्म है। सविता कौन है और सावित्री कौन है? चन्द्रमा ही सविता और नक्षत्र सावित्री हैं। जहाँ पर चन्द्रमा देवता हैं, वहीं नक्षत्र हैं और जहाँ पर नक्षत्र हैं, वहाँ पर ही चन्द्रमा देवता हैं। वे दोनों योनिस्वरूप हैं, वे दोनों एक युग्म हैं। सविता कौन है और सावित्री कौन है? मन ही सविता और वागिन्द्रिय सावित्री है। जहाँ पर मन है, वहीं पर वाक्शक्ति है और जहाँ वाक्शक्ति है, वहीं पर मन है। वे दोनों योनिस्वरूप हैं, उन दोनों का एक युग्म है। सविता कौन है और सावित्री कौन है? पुरुष ही सविता और स्त्री को ही सावित्री कहा गया है। जहाँ पर पुरुष है, वहीं पर स्त्री और जहाँ पर स्त्री है, वहाँ पर ही पुरुष है। वे दोनों एक योनि हैं और उनका एक ही युग्म है ॥ ९ ॥

तस्या एव प्रथमः पादो भूस्तसवितुर्वैण्यमित्यग्निर्वै वरेण्यमापो वरेण्यं चन्द्रमा वरेण्यम् ॥ १० ॥
तस्या एव द्वितीयः पादो भर्गमयोऽपो भुवो भर्गो देवस्य धीमहीत्यग्निर्वै भर्ग आदित्यो वै भर्गश्चन्द्रमा वै भर्गः ॥ ११ ॥
तस्या एष तृतीयः पादः स्वर्धियो यो नः प्रचोदयादिति । स्त्री चैव पुरुषश्च प्रजनयतः ॥ १२ ॥ यो वा एतां सावित्रीमेवं वेद स पुनर्मृत्युं जयति ॥ १३ ॥

उस सावित्री महाशक्ति का प्रथम पाद 'भूः -तत्सवितुर्वैण्यं' है। अग्नि वरण करने योग्य है। आप: (जल) वरणीय है। चन्द्रमा भी वरण करने योग्य है। उस सावित्री महाशक्ति का द्वितीय पाद प्रकाशस्वरूप आप: (जल) 'भुवः-भर्गो देवस्य धीमहि' है। अग्नि ही वह भर्ग (तेजः स्वरूप है), आदित्य ही भर्ग (प्रकाशस्वरूप) है। उस सावित्री महाशक्ति का यह तृतीय पाद 'स्वः-धियो यो नः प्रचोदयात्' है। इस सावित्री देवी को जो स्त्री और पुरुष दोनों प्रजोत्पादन (गृहस्थ-धर्म का पालन) करते हुए जानते हैं, वे पुनः मृत्यु को नहीं प्राप्त करते अर्थात् वे मृत्यु को अपने वश में कर लेते हैं तथा उन्हें अमृतत्व की प्राप्ति हो जाती है ॥ १०-१३ ॥

बलातिबलयोर्विराट् पुरुष ऋषिः । गायत्री छन्दः । गायत्री देवता । अकारोकारमकारा बीजाद्याः । क्षुधादिनिरसने विनियोगः । क्लीमित्यादिषडङ्गन्यासः । ध्यानम् । अमृतकरतलाद्रौं सर्वसंजीवनाद्यावधहरणसुदक्षौ वेदसारे मयूखे । प्रणवमयविकारौ भास्कराकारदेहौ सततमनुभवेऽहं तौ बलातिबलान्तौ । ॐ ह्रीं बले महादेवि ह्रीं महाबले क्लीं चतुर्विधपुरुषार्थसिद्धिप्रदे तत्सवितुर्वरदात्मिके ह्रीं वरेण्यं भर्गो देवस्य वरदात्मिके अतिबले सर्वदयामूर्ते बले सर्वक्षुदध्मोपनाशिनि धीमहि धियो यो नो जाते प्रचुर्यः या प्रचोदयादात्मिके प्रणवशिरस्कात्मिके हुं फट् स्वाहा ॥ १४ ॥ एवं विद्वान् कृतकृत्यो भवति सावित्र्या एव सलोकतां जयतीत्युपनिषत् ॥ १५ ॥

बला और अतिबला नामक दोनों विद्याओं के ऋषि विराट् पुरुष हैं। छन्द गायत्री है। देवता भी गायत्री ही है। अकार बीज, उकार शक्ति और मकार कीलक है। क्षुधा आदि की निवृत्ति के निमित्त इसका विनियोग

किया जाता है। कर्लीं बीज मंत्र के द्वारा इनका षड़ज्ञन्यास करे। (षट्डज्ञन्यास की प्रक्रिया इस प्रकार है— 'ॐ कर्लीं हृदयाय नमः, ॐ कर्लीं शिरसे स्वाहा, ॐ कर्लीं शिखायै वषट्, ॐ कर्लीं अस्त्राय फट्) अब इसके पश्चात् ध्यान का उल्लेख करते हैं—जिनके हाथ अमृत के द्वारा आद्रित (गीले) हो रहे हैं। सभी तरह की सञ्जीवनी शक्तियों से जो ओत-प्रोत हैं, पापों को विनष्ट करने में जो पूर्णरूपेण सक्षम हैं और जो वेदों के सारस्वरूप रश्मिमयात्मक, ॐकाररूप विकार से युक्त तथा भगवान् सूर्यनारायण के समान दीसिमय शरीर वाले हैं। उन बला और अतिबला विद्याओं के अधिष्ठातास्वरूप देवों की मैं सदैव अनुभूति करता हूँ। (बला-अतिबला विद्याओं के अधिष्ठाता देव का मन्त्र ऊपर संस्कृत में अंकित है, जिसका संकेत निम्नवत् है—) 'ॐ ह्रीं बले महादेवि हुं फट् स्वाहा' ॥ १४ ॥

इस प्रकार से इस सावित्री महाविद्या को समझने वाला मनुष्य पूर्णरूपेण कृतकृत्य हो जाता है। वह सावित्री देवी के लोक को प्राप्त कर लेता है। ऐसी ही यह (रहस्यमयी) उपनिषद् है ॥ १५ ॥

ॐ आप्यायन्तु इति शान्तिः ॥

॥ इति सावित्र्युपनिषत्समाप्ता ॥



॥ सीतोपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अथर्ववेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। देवगणों एवं प्रजापति के मध्य हुए प्रश्नोत्तर के रूप में यह उपनिषद् प्रकट हुई है। जिसमें 'सीता' का शाश्वत शक्ति वाला स्वरूप उपनिषद्ध हुआ है। सर्वप्रथम 'सीता' को मूल प्रकृतिरूप कहा गया है, तत्पश्चात् क्रमशः: 'सीता' शब्द का अक्षरार्थ, सीता का व्यक्त-अव्यक्त स्वरूप, सीता का ब्रह्मत्व, सीता का इच्छा-ज्ञान और शक्तिरूप त्रयात्मकस्वरूप, सांगोपांग वेद और उसकी शाखा का वर्णन, नाद की ब्रह्मरूपता, साक्षात् शक्ति का स्वरूप, योगशक्तिरूप इच्छाशक्ति, भोगशक्तिरूप इच्छाशक्ति, वीरशक्तिरूप इच्छाशक्ति आदि विविध रूपों में विद्यमान 'सीता' का तात्त्विक विवेचन किया गया है। यह परम कल्याणकारी ज्ञान है, इससे जनमानस में संब्यास अनेक भ्रान्तियों का निरसन सम्भव है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-कृष्णोपनिषद्)

देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्का सीता किं रूपमिति ॥ १ ॥ स होवाच प्रजापतिः सा सीतेति ।
मूलप्रकृतिरूपत्वात्सा सीता प्रकृतिः स्मृता । प्रणवप्रकृतिरूपत्वात्सा सीता प्रकृतिरूच्यते ॥ २ ॥
सीता इति त्रिवर्णात्मा साक्षात्मायामयी भवेत् । विष्णुः प्रपञ्चबीजं च माया ईकार उच्यते ॥ ३ ॥
सकारः सत्यममृतं प्राप्तिः सोमश्च कीर्त्यते । तकारस्तारलक्ष्म्या च वैराजः प्रस्तरः स्मृतः ॥ ४ ॥
ईकाररूपिणी सोमाऽमृतावयवदिव्यालंकारस्त्र॒इ॑मौक्तिकाद्याभरणालंकृता महामाया॒अव्यक्त-
रूपिणी व्यक्ता भवति ॥ ५ ॥ प्रथमा शब्दब्रह्ममयी स्वाध्यायकाले प्रसन्ना । उद्घावनकरी
सात्मिका द्वितीया भूतले हलाग्रे समुत्पन्ना । तृतीया ईकाररूपिणी अव्यक्तरूपा भवतीति
सीतेत्युदाहरन्ति शौनकीये ॥ ६ ॥

देवताओं ने एक बार प्रजापति से प्रश्न किया कि हे देव ! श्री सीताजी का क्या स्वरूप है ? सीताजी कौन हैं ? यह हम सबकी जानने की इच्छा है। प्रश्न सुनकर उन प्रजापति ब्रह्माजी ने कहा—वे सीता जी साक्षात् शक्तिस्वरूपिणी हैं। प्रकृति का मूल कारण होने से सीता जी मूलप्रकृति कही जाती हैं। प्रणव, प्रकृतिरूपिणी होने के कारण भी सीता जी को प्रकृति कहते हैं। सीताजी साक्षात् मायामयी (योगमाया) हैं। त्रयवर्णात्मक यह 'सीता' नाम साक्षात् योगमायास्वरूप है। भगवान् विष्णु सम्पूर्ण जगत् प्रपञ्च के बीज हैं। भगवान् विष्णु की योगमाया ईकार स्वरूपा है। सत्य, अमृत, प्राप्ति तथा चन्द्र का वाचक 'स' कार है। दीर्घ आकार मात्रायुक्त 'त' कार होने के कारण प्रकाशमय विस्तार करने वाला महालक्ष्मी रूप कहा गया है। 'ई' कार रूपिणी वे सीताजी अव्यक्त महामाया होते हुए भी अपने अमृततुल्य अवयवों तथा दिव्यालंकारों आदि से अलंकृत हुई व्यक्त होती हैं। महामाया भगवती सीता के तीनरूप हैं। अपने प्रथम 'शब्द ब्रह्म' रूप में प्रकट होकर बुद्धिरूपा स्वाध्याय के हैं। इस पृथ्वी पर महाराजा जनक जी के यहाँ हल के अग्रभाग से द्वितीय रूप में प्रकट हुई। तीसरे 'ई' कार रूप में वे अव्यक्त रहती हैं। यही तीन रूप शौनकीय तंत्र में सीता के कहे गये हैं ॥ १-६ ॥

श्रीरामसान्निध्यवशाजगदानन्दकारिणी । उत्पत्तिस्थितिसंहारकारिणी सर्वदेहिनाम् ॥ ७ ॥
सीता भगवती ज्ञेया मूलप्रकृतिसंज्ञिता । प्रणवत्वात्प्रकृतिरिति वदन्ति ब्रह्मवादिन इति ॥ ८ ॥
अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति च ॥ ९ ॥

सीता जी को भगवान् श्रीराम का नित्य सान्निध्य प्राप्त है, जिसके कारण वे विश्व कल्याणकारी हैं। वे सब जीवधारियों की उत्पत्ति, स्थिति एवं संहारस्वरूप हैं। मूल प्रकृतिरूपिणी घडैश्वर्य सम्पत्रा भगवती सीता को जानना चाहिए। उनके प्रणव स्वरूप होने के कारण ब्रह्मवादी उन्हें प्रकृति कहते हैं। 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' के इस ब्रह्मसूत्र में उन्हीं के व्यक्ताव्यक्त स्वरूप का प्रतिपादन है ॥ ७-९ ॥

सा सर्ववेदमयी सर्वदेवमयी सर्वलोकमयी सर्वकीर्तिमयी सर्वधर्ममयी सर्वाधारकार्य-
कारणमयी महालक्ष्मीर्देवेशस्य भिन्नाभिन्नरूपा चेतनाचेतनात्मिका ब्रह्मस्थावरात्मा तदगुणकर्म-
विभागभेदाच्छरीररूपा देवर्षिमनुष्यगन्धर्वरूपा असुरराक्षसभूतप्रेतपिशाचभूतादिभूतशरीररूपा
भूतेन्द्रियमनःप्राणरूपेति च विज्ञायते ॥ १० ॥

वे भगवती सीताजी सर्व वेदस्वरूपिणी, सर्वदेवरूपा, सभी लोकों में समान रूप से संव्यास, यशस्विनी, समस्त धर्मस्वरूपा, समस्त जीवधारियों एवं समस्त पदार्थों की आत्मा हैं। सभी भूतप्राणियों के कर्म एवं गुण के भेद से सर्वशरीरस्वरूपिणी, मानव, देव-ऋषि, गन्धर्वों की स्वरूपभूता, समस्त विश्वरूपा महालक्ष्मी महानारायण भगवान् से भिन्न होते हुए भी अभिन्न हैं ॥ १० ॥

सा देवी त्रिविधा भवति शक्त्यासना इच्छाशक्तिः क्रियाशक्तिः साक्षाच्छक्तिरिति ॥ ११ ॥
इच्छाशक्तिस्त्रिविधा भवति। श्रीभूमिनीलात्मिका भद्ररूपिणी प्रभावरूपिणी सोमसूर्याग्निरूपा
भवति ॥ १२ ॥ सोमात्मिका ओषधीनां प्रभवति कल्पवृक्षपुष्पफललतागुल्मात्मिका औषधभे-
षजात्मिका अमृतरूपा देवानां महस्तोमफलप्रदा अमृतेन तृप्तिं जनयन्ती देवानामन्नेन पश्चूनां
तृणेन तत्तज्जीवानाम् ॥ १३ ॥

शक्तिस्वरूपिणी वे सीताजी त्रिविध स्वरूप वाली, साक्षात् शक्तिस्वरूपा हैं। क्रियाशक्ति, इच्छाशक्ति और ज्ञानशक्ति, तीनों रूपों में प्रकट होती हैं। उनका स्वरूप इच्छाशक्तिमय तीन प्रकार का होता है। श्रीदेवी, भूदेवी, नीलादेवी का रूप धारण किये हुए, अपने प्रभाव से सबका कल्याण करने वाली, चन्द्र, सूर्य एवं अग्नि के रूप में दीसिमती रहती हैं। ओषधियों का पोषण करने के लिए वे ही चन्द्रस्वरूपा हैं। कल्पवृक्ष, फल, फूल, लता पौधरूपी ओषधियों एवं दिव्य ओषधियों के रूप में वे ही स्वयं प्रकट हुई हैं। देवताओं को उसी चन्द्र के रूप में 'महास्तोम' यज्ञ का फल प्रदान करने वाली हैं। अमृत, अन्न एवं तृण के द्वारा देवता, मानव एवं समस्त प्राणियों को वे तृप्ति करती हैं ॥ ११-१३ ॥

सूर्यादिसकलभुवनप्रकाशिनी दिवा च रात्रिः कालकलानिमेषमारभ्य घटिकाष्ट्याम-
दिवसवारारात्रिभेदेन पक्षमासत्व्यनसंवत्सरभेदेन मनुष्याणां शतायुः कल्पनया प्रकाशमाना
चिरक्षिप्रव्यपदेशेन निमेषमारभ्य परार्थपर्यन्तं कालचक्रं जगच्चक्रमित्यादिप्रकारेण चक्रवत्परि-
वर्तमानाः सर्वस्यैतस्यैव कालस्य विभागविशेषाः प्रकाशरूपाः कालरूपा भवन्ति ॥ १४ ॥

वे सीताजी ही सूर्यादि समस्त भुवनों को प्रकाशित करती हैं। काल की कलाएँ यथा-निमेष, घड़ी, आठ प्रहर वाले दिन, रात्रि, मास, पक्ष, ऋतु, अयन एवं संवत्सर आदि के भेद से मनुष्यों की शतायु की कल्पना को पूर्ण करती हुई प्रकाशित होती हैं। शीघ्र एवं विलम्ब के भेद से निमिष से लेकर परार्थ तक काल चक्र ही संसार चक्र है, जिसके सभी अंग-प्रत्यंग सीताजी के ही रूप होने के कारण उन्हें विशेष रूप से प्रकाशरूप एवं कालरूप कहा गया है ॥ १४ ॥

अग्निरूपा अन्नपानादिप्राणिनां क्षुत्तष्णात्मिका देवानां मुखरूपा वनौषधीनां शीतोष्णरूपा
काष्टेष्वन्तर्बहिश्च नित्यानित्यरूपा भवति ॥ १५ ॥

प्राणियों के भीतर वे अग्निरूप में अवस्थित होकर जल एवं अन्न का पान और सेवन करने के लिए प्यास व भूख के रूप में, देवों के लिए मुखस्वरूप, वनौषधियों के लिए शीतोष्णरूपा और काष्ठों में नित्यानित्य रूप से बाहर तथा भीतर विद्यमान हैं ॥ १५ ॥

श्रीदेवी त्रिविधं रूपं कृत्वा भगवत्संकल्पानुगुणयेन लोकरक्षणार्थं रूपं धारयति । श्रीरिति लक्ष्मीरिति लक्ष्यमाणा भवतीति विज्ञायते ॥ १६ ॥

सीताजी 'श्री' देवी के त्रिविध रूप में भगवत् संकल्प के अनुसार सर्वलोकरक्षा हेतु महालक्ष्मी के रूप में प्रकट होती हैं और श्री, लक्ष्मी तथा लक्ष्यमाण रूप में प्रतीत होती हैं ॥ १६ ॥

भूदेवी सप्तागराम्भः सप्तद्वीपा वसुन्धरा भूरादिच्छतुर्दशभुवनानामाधारधेया प्रणवात्मिका भवति ॥

सप्तद्वीपा, जल सहित समस्त समुद्रों से युक्त पृथ्वी भूः आदि चौदह भुवनों को आश्रय देने वाली जो देवी प्रणव के रूप में प्रकट होती है, माता सीता के उस रूप को भूदेवी कहा गया है ॥ १७ ॥

नीला च मुखविद्युन्मालिनी सर्वोषधीनां सर्वप्राणिनां पोषणार्थं सर्वरूपा भवति ॥ १८ ॥

नीलादेवी के रूप में विद्युन्माया के समान मुख वाली भगवती सीता जी सब ओषधियों एवं प्राणियों के पोषण के लिए समस्त रूपों में व्यक्त होती हैं ॥ १८ ॥

समस्तभुवनस्याधोभागे जलाकारात्मिका मण्डूकमयेति भुवनाधारेति विज्ञायते ॥ १९ ॥

जो देवी समस्त भुवनों के अधोभाग अर्थात् नीचे होकर जलरूपमण्डूकमयी तथा सब भुवनों को आश्रय देने वाली हैं, उन सीताजी को आद्याशक्ति कहा गया है ॥ १९ ॥

क्रियाशक्तिस्वरूपं हरेर्मुखान्नादः । तन्नादाद्विन्दुः । बिन्दोरोक्तारः । ओंकारात्परतो रामवै-खानसपर्वतः । तत्पर्वते कर्मज्ञानमयीभिर्बहुशाखा भवन्ति ॥ २० ॥

परमात्मा की क्रियाशक्तिरूपा श्रीसीताजी का रूप भगवान् श्रीहरि के मुख से नाद के रूप में प्रकट हुआ। उस नाद से बिन्दु और बिन्दु से ओंकार प्रकट हुआ। ॐ कार से परे रामरूपी वैखानस पर्वत है। उस पर्वत की ज्ञान और कर्मरूपी अनेक शाखाएँ कही गई हैं ॥ २० ॥

तत्र त्रयीमयं शास्त्रमाद्यं सर्वार्थदर्शनम् । ऋग्यजुः सामस्तपत्वात्रयीति परिकीर्तिता ॥ २१ ॥

[हेतुना] कार्यसिद्धेन चतुर्धा परिकीर्तिता । ऋचो यजूषि सामानि अथर्वाङ्गिरसस्तथा ॥ २२ ॥

चातुर्होत्रप्रथानत्वालिङ्गादित्रितयं त्रयी । अथर्वाङ्गिरसं रूपं सामस्तग्यजुरात्मकम् ॥ २३ ॥

उसी पर्वत पर सर्वार्थ को प्रकट करने वाला, तीन वेदों वाला आदि शास्त्र है। ऋग् (पद्य), यजु (गद्य), साम (गीति) रूप होने से उसे वेदत्रयी कहा जाता है। उसी वेदत्रयी को कार्य की सिद्धि के लिए चार नामों से कहा जाता है, (उनके नाम हैं-) ऋग्, यजु, साम और अथर्व। चारों यज्ञ प्रधान (होने पर भी) अपने स्वरूप के आधार पर उन वेदों की गणना तीन ही होती है; किन्तु चौथा अथर्वाङ्गिरस वेद साम, यजुष् एवं ऋक् का ही स्वरूप है ॥ २१-२३ ॥

तथा दिशन्त्याभिचारसामान्येन पृथक्पृथक् । एकविंशतिशाखायामृग्वेदः परिकीर्तिः ॥ २४ ॥

शतं च नवशाखासु यजुषामेव जन्मनाम् । सामः सहस्रशाखाः स्युः पञ्चशाखा अथर्वणः ॥ २५ ॥

वैखानसमतस्तस्मिन्नादौ प्रत्यक्षदर्शनम् । स्मर्यते मुनिभिर्नित्यं वैखानसमतः परम् ॥ २६ ॥

कल्पो व्याकरणं शिक्षा निरुक्तं ज्योतिषं छन्दं एतानि षडङ्गानि ॥ २७ ॥

उपाङ्गमयनं चैव मीमांसान्यायविस्तरः । धर्मज्ञसेवितार्थं च वेदवेदोऽधिकं तथा ॥ २८ ॥

निबन्धः सर्वशाखा च समयाचारसङ्गतिः । धर्मशास्त्रं महर्षीणामन्तःकरणसम्भूतम् ।
इतिहासपुराणाख्यमुपाङ्गं च प्रकीर्तिम् ॥ २९ ॥ वास्तुवेदो धनुर्वेदो गाथर्वश्च तथा मुने ।
आयुर्वेदश्च पञ्चैते उपवेदाः प्रकीर्तिः ॥ ३० ॥ दण्डो नीतिश्च वार्ता च विद्या वायुजयः परः ।
एकविंशतिभेदोऽयं स्वप्रकाशः प्रकीर्तिः ॥ ३१ ॥

आधिकारिक क्रियाओं (विशिष्ट क्रियाओं) के आधार पर (चारों का) पृथक्-पृथक् निर्देश किया जाता है। इकीस शाखाएँ ऋग्वेद की, एक सौ नौ शाखाएँ यजुर्वेद की, एक हजार शाखाएँ सामवेद की एवं अथर्ववेद की पाँच शाखाएँ कही गई हैं। वेदों में प्रथम वैखानस मत को प्रत्यक्ष दर्शन माना गया है। ऋषिगण इसलिए परम वैखानस (श्रीराम) का स्मरण करते हैं। ऋषियों ने वेदों को कल्प, व्याकरण, शिक्षा, निरुक्त, ज्योतिष एवं छन्द इन छः अंगों वाला एवं अयन (वेदान्त), मीमांसा और न्याय का विस्तार इन तीनों उपांगों वाला कहा है। धर्मज्ञ पुरुष वेदों के साथ उसके अंग एवं उपांगों का अध्ययन श्रेष्ठ मानते हैं। समस्त वैदिक शाखाओं के अन्तर्गत समय-समय पर मानवी आचरण को शास्त्र सम्मत बनाने के लिए निबन्ध रचे गये हैं। ऋषियों ने धर्मशास्त्रों (स्मृतियों) को अपने दिव्य ज्ञान से परिपूर्ण किया है। ऋषियों के द्वारा इतिहास-पुराण, वास्तुवेद, धनुर्वेद, गांधर्ववेद एवं आयुर्वेद, इन पाँच उपवेदों को प्रकट किया गया है। इसके साथ ही व्यापार, दण्ड, नीति, विद्या एवं प्राणजय, (योगसिद्धि) करके परमतत्त्व में स्थिति आदि इकीस भेद यह स्वयं प्रकाशित शास्त्र हैं ॥ २४-३१ ॥

वैखानसऋषेः पूर्वविष्णोवाणी समुद्भवेत् । त्रयीरूपेण संकल्प्य इत्थं देही विजृम्भते ॥ ३२
संख्यारूपेण संकल्प्य वैखानसऋषेः पुरा । उदितो यादृशः पूर्वं तादृशं शृणु मेऽखिलम् ।
शश्वद्व्यामयं रूपं क्रियाशक्तिरुदाहता ॥ ३३ ॥ साक्षाच्छक्तिर्भगवतः स्मरणमात्ररूपाविर्भा-
वप्रादुर्भावात्मिका निग्रहानुग्रहरूपा शान्तितेजोरूपा व्यक्ताव्यक्तकारणचरणसमग्रावयवमुख-
वर्णभेदाभेदरूपा भगवत्सहचारिणी अनपायिनी अनवरतसहाश्रयिणी उदितानुदिताकारा
निमेषोन्मेषसृष्टिस्थितिसंहारतिरोधानानुग्रहादिसर्वशक्तिसामर्थ्यात्साक्षाच्छक्तिरिति गीयते ॥ ३४ ॥

प्राचीन काल में भगवान् विष्णु की वाणी वेदत्रयी रूप में वैखानस ऋषि के हृदय में प्रकट हुई। भगवान् की उस वाणी को वैखानस ऋषि ने संकल्प करके संख्या रूप में जिस प्रकार व्यक्त किया वह सब मुझसे सुनो-वह सनातन ब्रह्ममय रूपधारिणी क्रियाशक्ति ही भगवान् की साक्षात् शक्ति है। वे आद्याशक्ति भगवती सीता भगवान् के संकल्प मात्र से संसार के विभिन्न रूपों को व्यक्त करती हैं और समस्त दृश्य जगत् के रूप में स्वयं व्यक्त होती हैं। वे कृपास्वरूपा एवं अनुशासनमयी, शान्ति तथा तेजोरूपा, व्यक्त-अव्यक्त कारण, चरण, समस्त अवयव, मुख, वर्ण भेद-अभेद रूप; भगवान् के संकल्प का अनुगमन करने वाली श्री सीताजी भगवान् से अभिन्न, अविनाशिनी, उनके आश्रित रहने वाली, कथनीय और रूप धारण करने वाली अकथनीय, निमेष-उन्मेष सहित उत्पत्ति-पालन एवं संहार, तिरोधान करने वाली, अपनी कृपा बरसाने वाली और समस्त सामर्थ्यधारण करने वाली होने के कारण साक्षात् शक्ति स्वरूपा कही गई हैं ॥ ३२-३४ ॥

इच्छाशक्तिस्त्रिविधा प्रलयावस्थायां विश्रमणार्थं भगवतो दक्षिणवक्षःस्थले
श्रीवत्साकृतिर्भूत्वा विश्राम्यतीति सा योगशक्तिः ॥ ३५ ॥

श्रीसीताजी त्रिविध इच्छाशक्तिरूप हैं। वे ही योगमाया के रूप में प्रलय काल होने पर विश्राम हेतु श्री भगवान् के दक्षिण वक्ष पर स्थित श्रीवत्स का रूप धारण करके विश्राम करती हैं ॥ ३५ ॥

भोगशक्तिर्भोगरूपा कल्पवृक्षकामधेनुचिन्तामणिशङ्कपद्मनिध्यादिनवनिधिसमाश्रिता

भगवदुपासकानां कामनयाऽकामनया वा भक्तियुक्ता नरं नित्यनैमित्तिककर्मभिरग्निहोत्रादि-
भिर्वा यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधिभिर्वालमनणवपि गोपुष्ट्राकारादिभि-
र्विमानादिभिः सह भगवद्विद्विग्रहार्चापूजोपकरणैर्चर्चनैः स्नानादिभिर्वा पितृपूजादिभिरत्रपाना-
दिभिर्वा भगवत्प्रीत्यर्थमुक्त्वा सर्वं क्रियते ॥ ३६ ॥

वे ही भोग करने की शक्ति धारण किये हुए साक्षात् भोगरूपा हैं। श्री सीताजी ही कल्पवृक्ष, कामधेनु
चिन्तामणि, शंख, पद्म (महापद्म, मकर, कच्छप) आदि नौ निधि स्वरूपा हैं। जो भगवद् भक्त भगवान् की
नित्य-नैमित्तिक कर्म के द्वारा यज्ञ आदि यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारण, ध्यान, समाधि आदि
के द्वारा उपासना करते हैं; उनकी इच्छा अथवा अनिच्छा पर भी उनके उपभोग के लिए वे विभिन्न प्रकार के
भोज्यपदार्थ प्रदान करती हैं। भगवती सीताजी ही भगवान् के श्रीविग्रह की पूजा-अर्चादि की सामग्रियों के रूप
में, पितृपूजा आदि के रूप में, तीर्थ स्नानादि के रूप में, अब्र एवं रस आदि के रूप में भगवान् को प्रसन्न करने
के लिए सबका सम्पादन करती हैं ॥ ३६ ॥

अथातो वीरशक्तिश्चतुर्भुजाऽभयवरदपद्मधरा किरीटाभरणयुता सर्वदेवैः परिवृता
कल्पतरुमूले चतुर्भुर्गजैरत्नघटैरमृतजलैरभिष्ठ्यमाना सर्वदैवतैर्ब्रह्मादिभिर्वन्द्यमाना अणिमा-
द्यष्टैश्वर्ययुता संमुखे कामधेनुना स्तूयमाना वेदशास्त्रादिभिः स्तूयमाना जयाद्यप्सरस्त्रीभिः
परिचर्यमाणा आदित्यसोमाभ्यां दीपाभ्यां प्रकाशयमाना तुम्बुरुनारदादिभिर्गीयमाना राकासि-
नीवालीभ्यां छत्रेण ह्वादिनीमायाभ्यां चामरेण स्वाहास्वधाभ्यां व्यजनेन भृगुपुण्यादिभिरभ्य-
र्च्यमाना देवी दिव्यसिंहासने पद्मासनारूढा सकलकारणकार्यकरी लक्ष्मीर्देवस्य पृथग्भवनक-
ल्पना। अलंचकार स्थिरा प्रसन्नलोचना सर्वदेवतैः पूज्यमाना वीरलक्ष्मीरिति विज्ञायत
इत्युपनिषद् ॥ ३७ ॥

वीरशक्तिरूपा श्री सीताजी की चार भुजाओं में अभय, वर एवं कमल शोभायमान हैं। वे किरीटादि
समस्त अलंकारों से सुशोभित हैं। कल्पवृक्ष के मूल में चार हाथियों के द्वारा स्वर्ण कलशों द्वारा वे अभिषिंचित
हो रही हैं। सभी देवता उन्हें घेर कर खड़े हैं एवं ब्रह्मादि देवता उनका गुणगान कर रहे हैं। अणिमादि अष्ट
सिद्धियों से युक्त कामधेनु द्वारा वंदित श्री सीता जी की अप्सराएँ और देवांगनाएँ सेवा कर रही हैं। देवतुल्य वेद-
शास्त्र उनकी स्तुति करते हैं। दीपक के रूप में सूर्य-चन्द्रमा वहाँ अपना प्रकाश फैला रहे हैं। नारद और तुम्बुरु
आदि ऋषि उनका गुणगान कर रहे हैं। राका और सिनीवाली देवियाँ छत्र लिए खड़ी हैं। स्वाहा और स्वधा के
द्वारा पंखे से हवा की जा रही है। ह्वादिनी और मायाशक्तियाँ चंचर डुला रही हैं। महर्षि भृगु और पुण्य आदि
ऋषि उनका अर्चन-वन्दन कर रहे हैं। समस्त कारणों एवं कार्यों को करने वाली महालक्ष्मीरूपा भगवती सीता
जी अष्टदलकमल पर स्थित दिव्य सिंहासन पर विद्यमान हैं। वे दिव्य अलंकारों से अलंकृत हैं। प्रसन्न नेत्रों वाली
देवताओं के द्वारा पूजित हुई उन वीरलक्ष्मीरूपा महादेवी (सीता देवी) को विशेष रूप से (तत्त्वज्ञानपूर्वक)
जानना चाहिए। यही उपनिषद् (रहस्य विद्या) है ॥ ३७ ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः इति शान्तिः ॥

॥ इति सीतोपनिषत्समाप्ता ॥



॥ सूर्योपनिषद् ॥

यह उपनिषद् अर्थवेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इस लघुकाय उपनिषद् में सूर्य और ब्रह्म की अभिन्नता वर्णित है। सर्वप्रथम इस उपनिषद् के ऋषि, देवता, छन्द आदि का उल्लेख किया गया है। तदुपरान्त सूर्य और आत्मा की अभिन्नता प्रतिपादित है। इसके अनन्तर सूर्य के भर्ग (तेज) से जगत् की उत्पत्ति का वर्णन, आदित्य की सुति, आदित्य का सर्वात्मक ब्रह्मत्व, सूर्य की प्रार्थना सूर्याष्टकशी मन्त्र तथा अन्त में मन्त्रजप के फल का वर्णन है। इस सन्दर्भ में ध्यातव्य यह है कि इस उपनिषद् के जप के लिए हस्त नक्षत्र स्थित सूर्य का समय (आश्विन मास) सर्वोत्तम माना गया है, जिससे व्यक्ति महामृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है। इस महनीय महिमा के साथ यह उपनिषद् पूर्ण हुई है।

॥ शान्तिपाठः ॥

ॐ भद्रं कर्णेभिः इति शान्तिः ॥ (द्रष्टव्य-कृष्णोपनिषद्)

अथ सूर्यार्थवाङ्गिरसं व्याख्यास्यामः । ब्रह्मा ऋषिः । गायत्री छन्दः । आदित्यो देवता । हंसः सोऽहमग्निनारायणयुक्तं बीजम् । हळेखा शक्तिः । वियदादिसर्गसंयुक्तं कीलकम् । चतुर्विधपुरुषार्थसिद्ध्यर्थं विनियोगः । षट्स्वरारूढेन बीजेन षड्ङ्गं रक्ताम्बुजसंस्थितम् । सप्तश्वरथिनं हिरण्यवर्णं चतुर्भुजं पद्मद्वयाभयवरदहस्तं कालचक्रप्रणेतारं श्रीसूर्यनारायणं य एवं वेद स वै ब्राह्मणः ॥ १ ॥

अब सूर्यदेव से सम्बन्धित अर्थवाङ्गिरस मन्त्रों की व्याख्या करेंगे। इस अर्थवाङ्गिरस मन्त्र के ऋषि ब्रह्मा, छन्द गायत्री और आदित्य देवता हैं। 'हंसः' 'सोऽहम्' अग्निनारायण से युक्त बीज तथा हळेखा (उत्सुकता) शक्ति है। वियत् (आकाश) आदि सृष्टि से सम्बद्ध कीलक है। इस मन्त्र का विनियोग चारों पुरुषार्थों की सिद्धि हेतु किया जाता है। षट् स्वरों पर बीज के साथ प्रतिष्ठित, षड्ङ्गयुक्त, लालकमल पर अवस्थित, सात अश्व वाले रथ पर आरूढ़, हिरण्यवर्ण, चतुर्भुजधारी, चारों हाथों में से दो में कमल तथा दो में वरमुद्रा और अभयमुद्रा धारण करने वाले, कालचक्र के प्रेरक भगवान् सूर्यदेव को जो इस रूप में जानता है, वही ब्राह्मण (ब्रह्मवेत्ता) है ॥ १ ॥

ॐ भूर्भुवः सुवः । ॐ तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि । धियो यो नः प्रचोदयात् ॥ २ ॥

जो प्रणवरूप में सच्चिदानन्द परमात्मा भूः, भुवः, स्वः रूप त्रिलोक में संव्यास है। समस्त सृष्टि के उत्पादनकर्ता उन सवितादेव के सर्वोत्तम तेज का हम ध्यान करते हैं, जो (वे सविता देवता) हमारी बुद्धियों को (श्रेष्ठता की दिशा में) प्रेरणा प्रदान करें (ऐसा ध्यान करने वाला ब्राह्मण ब्रह्मनिष्ठ विदेहमुक्त हो जाता है) ॥ २ ॥

सूर्याद्वै खल्विमानि भूतानि जायन्ते । सूर्याद्यज्ञः पर्जन्योऽन्नमात्मा ॥३

सूर्यदेव समस्त जड़ और चेतन जगत् की आत्मा हैं। सूर्य से सभी प्राणियों की उत्पत्ति होती है। सूर्य से ही यज्ञ, पर्जन्य, अन्न और आत्मा (चेतना) का प्रादुर्भाव होता है ॥ ३ ॥

नमस्त आदित्य । त्वमेव प्रत्यक्षं कर्मकर्तासि । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वमेव प्रत्यक्षं विष्णुरसि । त्वमेव प्रत्यक्षं रुद्रोऽसि । त्वमेव प्रत्यक्षमृगसि । त्वमेव प्रत्यक्षं यजुरसि । त्वमेव प्रत्यक्षं सामासि । त्वमेव प्रत्यक्षमथर्वासि । त्वमेव सर्वं छन्दोऽसि ॥ ४ ॥

हे आदित्यदेव ! हम आपके प्रति नमस्कार करते हैं । आप ही प्रत्यक्ष कर्मों के कर्ता हैं । आप ही प्रत्यक्ष ब्रह्मा, विष्णु और रुद्ररूप हैं । आप ही ऋक्, यजुष्, साम और अर्थव (चतुर्वेद) स्वरूप हैं । आप ही समस्त छन्दों के प्रत्यक्ष रूप हैं ॥ ४ ॥

आदित्याद्वायुर्जायते । आदित्याद्वूमिर्जायते । आदित्याज्योतिर्जायते । आदित्याद्व्योम दिशो जायन्ते । आदित्यादेवा जायन्ते । आदित्याद्वेदा जायन्ते । आदित्यो वा एष एतन्मण्डलं तपति । असावादित्यो ब्रह्म । आदित्योऽन्तःकरणमनोबुद्धिचित्ताहंकाराः । आदित्यो वै व्यानः समानोदानोऽपानः प्राणः । आदित्यो वै शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाणाः । आदित्यो वै वाक्पाणिपादपायूपस्थाः । आदित्यो वै शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः । आदित्यो वै वचनादानागमनविसर्गानन्दाः । आनन्दमयो ज्ञानमयो विज्ञानमय आदित्यः ॥ ५ ॥

आदित्य से ही वायु, भूमि, जल और ज्योति पैदा होती है । उन्हीं से आकाश और दिशाओं की उत्पत्ति होती है । उन्हीं से देवताओं और वेदों का प्राकट्य होता है । आदित्यदेव ही इस ब्रह्मण्ड को तपाते हैं । यह आदित्य ही ब्रह्म हैं । यही अन्तःकरण (चतुष्टय), मन, बुद्धि, चित्त और अहंकाररूप हैं । यह आदित्यदेव ही प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान-इन पंच प्राणों के रूप में प्रतिष्ठित हैं । यही श्रवणेन्द्रिय, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और ग्राण-इन पाँच इन्द्रियरूप में क्रियाशील हैं । वाक्, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ-इन पाँच कर्मेन्द्रियों के रूप में भी यही हैं । आदित्य ही शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध-पाँच ज्ञानेन्द्रियों की तन्मात्रा तथा वचन, आदान, गमन, मलविसर्जन और आनन्द-पाँच कर्मेन्द्रियों की तन्मात्रारूप हैं । यही आनन्दमय, ज्ञानमय तथा विज्ञानमय हैं ॥ ५ ॥

नमो मित्राय भानवे मृत्योर्मा पाहि । भ्राजिष्णवे विश्वहेतवे नमः । सूर्याद्ववन्ति भूतानि सूर्येण पालितानि तु । सूर्ये लयं प्राप्तुवन्ति यः सूर्यः सोऽहमेव च । चक्षुर्नो देवः सविता चक्षुर्न उत पर्वतः । चक्षुर्धाता दधातु नः । आदित्याय विद्धहे सहस्रकिरणाय धीमहि । तन्नः सूर्यः प्रचोदयात् । सविता पश्चात्तात्सविता पुरस्तात्सवितोत्तरात्तात्सविताधरात्तात् । सविता नः सुवतु सर्वतातिं सविता नो रासतां दीर्घमायुः ॥ ६ ॥

सूर्यदेव और मित्र देवता को नमस्कार है । हे देव ! मृत्यु से हमें सुरक्षित रखें । संसार के कारणरूप तथा दीसिमान् सूर्यदेव को नमस्कार है । सूर्य से सब जड़-चेतन प्राणियों का प्राकट्य, पालन-पोषण होता है तथा अन्त में सब उन्हीं में लय हो जाता है । जो सूर्यदेव हैं, वही मैं भी हूँ । सवितादेव हमारे नेत्र हैं । जो पर्वत (पूरयतीति पर्वतः=जो ऊर्जा-प्रकाश आदि से भरपूर बना दे) नाम से प्रख्यात हैं, वे सूर्य ही चक्षुरूप हैं । सबके धारणकर्ता आदित्यदेव हमारी आँखों को देखने की सामर्थ्य प्रदान करें । हम आदित्य को जानते हैं, हम सहस्रकिरण समूह से सुशोभित सूर्यनारायण का ध्यान करते हैं, वे सूर्यदेव हमें प्रेरणा प्रदान करें । आगे-पीछे, उत्तर-बायं और दक्षिण-दायं भाग में सवितादेव हैं । सवितादेव हमारे लिए सभी अभीष्ट पदार्थों को उत्पन्न करें । वे हमें दीर्घायुष्य प्रदान करें ॥ ६ ॥

ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म । घृणिरिति द्वे अक्षरे । सूर्य इत्यक्षरद्वयम् । आदित्य इति त्रीण्यक्षराणि । एतस्यैव सूर्यस्याष्टाक्षरो मनुः ॥ ७ ॥

'उ०' यह प्रणव एकाक्षर ब्रह्म है। 'घृणः' और 'सूर्यः' यह दो-दो अक्षरों के मन्त्र हैं तथा 'आदित्यः' इसमें तीन अक्षर हैं। इन सबके सहयोग से सूर्यदेव का आठ अक्षरों वाला महामन्त्र बनता है ॥७॥

यः सदाऽहरहर्जपति स वै ब्राह्मणो भवति स वै ब्राह्मणो भवति । सूर्याभिमुखो जप्त्वा महाव्याधिभयात्प्रमुच्यते । अलक्ष्मीर्नश्यति । अभक्ष्यभक्षणात्पूतो भवति । अगम्यागमनात्पूतो भवति । पतितसंभाषणात्पूतो भवति । असत्संभाषणात्पूतो भवति । मध्याह्न सूर्याभिमुखः पठेत् । सद्योत्पन्नपञ्चमहापातकात्प्रमुच्यते । सैषां सावित्री विद्यां न किंचिदपि न कस्मैचित्प्रशंसयेत् । य एतां महाभागः प्रातः पठति स भाग्यवाङ्मायते । पशून्विन्दति । वेदार्थं लभते । त्रिकालमेत-ज्जप्त्वा क्रतुशतफलमवाप्नोति । यो हस्तादित्ये जपति स महामृत्युं तरति स महामृत्युं तरति य एवं वेद इत्युपनिषद् ॥८॥

इस मन्त्र का प्रतिदिन जप करने वाला ही ब्राह्मण कहलाता है। सूर्य भगवान् की तरफ मुख करके इस मंत्र के जाप से बड़ी व्याधियों के भय से मुक्ति मिलती है। उसका दारिद्र्य दूर होता है तथा वह सभी अखाद्य पदार्थों के भक्षणदोष से मुक्त होता है। अगम्य मार्ग (गलत मार्ग) पर जाने के दोष, ओछे (गलत) सम्भाषण, असत्य वार्तालाप इन सभी पाप-दोषों से भी मुक्त हो जाता है। मध्याह्न काल में सूर्याभिमुख होकर (इस उपनिषद् का) पाठ करना चाहिए। (जो ऐसा करता है, वह मनुष्य) तत्काल उत्पन्न हुए पंचमहापातकों से निवृत्त हो जाता है। इसे सावित्री विद्या कहा गया है, इसकी किसी से कुछ भी प्रशंसोक्ति न करे। जो महाभाग प्रातःकाल इसका पाठ करता है, वह भाग्यवान् होता है, उसे गौ आदि पशुधन की प्राप्ति तथा वेदार्थ-विद्या की प्राप्ति होती है। त्रिकाल संध्या करने से सैकड़ों यज्ञों का पुण्यफल मिलता है। सूर्यदेव का हस्तनक्षत्रकाल अर्थात् आश्विन मास में जप करने वाला महामृत्यु पर विजय प्राप्त कर लेता है, जो इसका ज्ञाता है वह भी महामृत्यु से पार हो जाता है। यही उपनिषद् (रहस्यमयी विद्या) है ॥८॥

॥ उ० भद्रं कर्णेभिः इति शान्तिः ॥

॥ इति सूर्योपनिषत्समाप्ता ॥



॥ सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् ॥

यह उपनिषद् ऋग्वेदीय परम्परा से सम्बद्ध है। इसमें 'श्री' सूक्त के वैभवशाली अक्षरों को आधार मानकर देवी के मन्त्र, चक्र आदि को प्रकट किया गया है। उपनिषद् का प्रस्तुतीकरण देव समूह एवं श्रीनारायण के बीच हुए प्रश्नोत्तर रूप में हुआ है।

यह उपनिषद् तीन खण्डों में प्रविभक्त है। प्रथम खण्ड का शुभारम्भ सौभाग्यलक्ष्मी विद्या की जिज्ञासा से किया गया है। तत्पश्चात् सौभाग्यलक्ष्मी का ध्यान, श्रीसूक्त के ऋषि आदि का निरूपण, सौभाग्यलक्ष्मी चक्र, एकाक्षरी मन्त्र का ऋषि आदि निरूपण, एकाक्षरी चक्र और लक्ष्मी का विशेष मन्त्र उल्लिखित है।

द्वितीय खण्ड में उत्तम अधिकारी के लिए ज्ञानयोग, षण्मुखी मुद्रा से युक्त प्राणायामयोग, नाद के आविर्भाव पूर्वक तीन ग्रन्थियों का विवेचन, अखण्ड ब्रह्माकारवृत्ति, निर्विकल्पभाव तथा समाधि का लक्षण निरूपित हुआ है।

तृतीय खण्ड में नवचक्रों (मूलाधार, स्वाधिष्ठान, नाभि, हृदय, कण्ठ, तालु, भू, ब्रह्मरन्ध्र तथा आकाश) का विस्तृत वर्णन है और अन्त में उपनिषद् के अध्ययन की फलश्रुति वर्णित की गई है।

ॐ वाऽमे मनसि इति शान्तिः । (द्रष्टव्य- अक्षमालिकोपनिषद्)

॥ प्रथमः खण्डः ॥

अथ भगवन्तं देवा ऊचुर्हे भगवन्नः कथय सौभाग्यलक्ष्मीविद्याम् ॥ १ ॥

एक बार समस्त देवों ने भगवान् नारायण के समक्ष उपस्थित होकर निवेदन किया- हे प्रभो! हम सभी के लिए सौभाग्यलक्ष्मी-विद्या का उपदेश प्रदान करें की कृपा करें ॥ १ ॥

तथेत्यवोचद्भगवानादिनारायणः सर्वे देवा यूयं सावधानमनसो भूत्वा शृणुत । तुरीयस्वरूपां तुरीयातीतां सर्वोत्कटां सर्वमन्त्रासनगतां पीठोपपीठदेवतापरिवृतां चतुर्भुजां श्रियं हिरण्यवर्णामिति पञ्चदशर्थर्थ्यायेत् ॥ २ ॥

भगवान् नारायण ने कहा—हे देवो! ठीक है, अब आप सभी एकाग्र मन से स्थित होकर श्रवण करें। जो स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण रूप तीनों अवस्थाओं से परे, तुरीयस्वरूपा (साथ ही) तुरीयातीता हैं, सर्वोत्कटरूपा अर्थात् कठिनाई से प्राप्त होने वाली हैं और जो समस्त मन्त्रों को अपना आसन बनाकर उस पर प्रतिष्ठित हैं। पीठों एवं उपपीठों में विद्यमान देवों से घिरी हुई हैं तथा वे देवी चार भुजाओं से सम्पन्न हैं। उन श्रीलक्ष्मी देवी का 'हिरण्यवर्णम् । आदि श्रीसूक्त की १५ ऋचाओं के द्वारा ध्यान करना चाहिए ॥ २ ॥

अथ पञ्चदश ऋगात्मकस्य श्रीसूक्तस्यानन्दर्दमचिकलीतेन्दिरासुता ऋषयः । श्रीरित्याद्य ऋचः चतुर्दशानामृचामानन्दाद्यूषयः । हिरण्यवर्णाद्याद्यत्रयस्यानुष्टुप् छन्दः । कांसोस्मीत्यस्य वृहती छन्दः । तदन्ययोर्द्ययोस्त्रिष्टुप् । पुनरष्टकस्यानुष्टुप् । शेषस्य प्रस्तारपद्धितः । श्यग्निर्देवता । हिरण्यवर्णामिति बीजम् । कांसोऽस्मीति शक्तिः । हिरण्मया चन्द्रा रजतस्वजा हिरण्यस्वजा हिरण्या हिरण्यवर्णेति प्रणवादिनमोन्नैश्चतुर्थ्यन्तैरङ्गन्यासः । अथ वक्त्रत्रयैरङ्गन्यासः । मस्तक-लोचनश्रुतिद्वाणवदनकण्ठबाहुद्वयहृदयनाभिगुह्यपायूरुजानुजड्बेषु श्रीसूक्तेरेव क्रमशो न्यसेत् ॥ ३

उपर्युक्त कही हुई श्रीसूक्त की पन्द्रह ऋचाओं के द्रष्टा ऋषि इन्द्रा पुत्र आनन्द, चिक्लीत एवं कर्दम हैं। प्रथम मन्त्र की द्रष्टी ऋषिका श्री अर्थात् इन्द्रा हैं और आनन्द, कर्दम एवं चिक्लीत आदि चौदह मन्त्रों के द्रष्टा ऋषि हैं। (श्रीसूक्त के) प्रथम तीन ऋचाओं का छन्द अनुष्टुप् है, चौथी ऋचा का बृहती छन्द है, उसके आगे की दो ऋचाएँ पाँचवीं और छठी का त्रिष्टुप् छन्द है। इससे आगे सातवीं से चौदहवीं तक आठ ऋचाओं का पुनः अनुष्टुप् छन्द है और पन्द्रहवीं अथवा शेष अन्य मन्त्रों का छन्द प्रस्तार पंक्ति है। श्री और अग्नि ही इन मन्त्रों के देवता हैं। इस सूक्त के समस्त मन्त्रों का बीज 'हिरण्यवर्णम्' है और शक्ति 'कांसोस्मि' है। इन हिरण्यमयी, चन्द्रा, रजतस्त्रजा, हिरण्यस्त्रजा, हिरण्या, हिरण्यवर्णा आदि नामों को चतुर्थी विभक्ति में रखते हुए प्रारम्भ में 'ॐ' और समाप्ति में 'नमः' शब्द का उच्चारण करते हुए अङ्गन्यास की क्रिया सम्पन्न करे। तदनन्तर वक्त्रत्रय (मन्त्र) के द्वारा अंगन्यास करे। इन समस्त अंगों सिर, नेत्र, कान, नासिका, मुख, कण्ठ, भुजाएँ, हृदय, नाभि, लिङ्ग, गुदा, ऊरु (जाँघ), जानु, जड्डा (पिंडली) आदि अंगों में श्रीसूक्त की ऋचाओं द्वारा ही क्रमानुसार न्यास की क्रिया सम्पन्न करे (और फिर नीचे लिखे मन्त्रानुसार ध्यान करे) ॥ ३ ॥

अरुणकमलसंस्था तद्रजः पुञ्जवर्णा करकमलधृतेष्टाऽभीतियुगमाम्बुजा च ।

मणिकटकविचित्रालंकृताकल्पजालैः सकलभुवनमाता संततं श्रीः श्रियै नः ॥ ४ ॥

अरुण वर्णा (हल्के लाल रंग के), निर्मल कमल-दल पर आसीन, कमल पराग की राशि सदृश पीतवर्णा चारों हाथों में क्रमशः वर-मुद्रा, अभय-मुद्रा एवं दोनों हाथों में दो कमल-पुष्प धारण किये हुए, मणियुक्त कङ्कणों द्वारा विचित्र शोभा को धारण करने वाली तथा समस्त आभूषणों से सुशोभित, सम्पूर्ण लोकों की माता श्रीमहालक्ष्मी हमें सर्वदा श्री-सम्पन्न बनाएँ ॥ ४ ॥

**तत्पीठकर्णिकायां ससाध्यं श्रीबीजम् । वस्वादित्यकलापद्वेषु श्रीसूक्तगतार्थार्थचां तद्वहिर्यः
शुचिरिति मातृकया च श्रियं यन्त्राङ्गदशकं च विलिख्य श्रियमावाहयेत् ॥ ५ ॥**

पीठकर्णिका (बीजकोष) के अन्दर ससाध्य (श्रमपूर्वक) श्रीबीज (श्रीं) को लिखना चाहिए। तदनन्तर अष्टदल, द्वादश दल एवं षोडशदल पद्मों के ऊपर तथा भूवृत्तों के मध्य में श्री-सूक्त का आधा-आधा मन्त्र लिखे। तत्पश्चात् उस (बीजकोश) के बाहर 'यः शुचिः प्रयतो भूत्वा' इत्यादि (फलश्रुति स्वरूप मन्त्र को लिखकर षोडशार के बीच में तथा ऊपर 'अ' कार से लेकर 'क्ष' कार तक) मातृका-वर्णों को लिखना चाहिए। इस प्रकार दस अंगों से युक्त श्रीचक्र (अर्थात् प्रणव, षट्कोण, भूवृत्त, अष्टदल, भूवृत्त, द्वादशदल, भूवृत्त, षोडशदल, भूवृत्त, तथा निर्भूवृत्त) विनिर्मित करके श्री का आवाहन करे ॥ ५ ॥

**अङ्गैः प्रथमावृतिः । पद्मादिभिर्द्वितीया । लोकेशैस्तृतीया । तदायुधैस्तुरीया वृतिर्भवति ।
श्रीसूक्तैरावाहनादि । षोडशसहस्रजपः ॥ ६ ॥**

अङ्गन्यास के मन्त्रों द्वारा प्रथम आवरण की पूजा सम्पन्न होती है। पद्म आदि निधियों के द्वारा द्वितीय आवरण की पूजा सम्पन्न होती है। लोकपालों (इन्द्रादि) के द्वारा तृतीय आवरण की पूजा सम्पन्न की जाती है। उनके वप्रादि के आयुध संयंत्रों के द्वारा चतुर्थ आवरण की पूजा सम्पन्न होती है। श्री-सूक्त के मन्त्रों द्वारा आवाहनादि कार्य पूर्ण किये जाते हैं। तत्पश्चात् पुरश्चरण हेतु सोलह हजार मन्त्रों द्वारा जप कार्य करने का विधान कहा गया है ॥ ६ ॥

**सौभाग्यरमैकाक्षर्या भृगुनिचूद्गायत्री । श्रिय ऋष्यादयः । शमिति बीजशक्तिः । श्रामित्यादि
षडङ्गम् ॥ ७ ॥**

(सौभाग्य लक्ष्मी-पूजन क्रम इस प्रकार है) एकाक्षर सौभाग्य लक्ष्मी मन्त्र के द्रष्टा ऋषि-भृगु हैं। छन्द-निचृत् गायत्री है और देवता-श्री हैं। 'शं' बीज है। 'श्रां' आदि के द्वारा अङ्ग-न्यास की क्रिया सम्पन्न करे॥७॥

इसके पश्चात् नीचे लिखे मन्त्र के भावार्थ के अनुसार ध्यान करे-

भूयाद्बूयो द्विपद्माभ्यवरदकरा तसकार्तस्वराभा शुभ्राभ्येभ्युगमद्वयकरधृतकुम्भाद्विरासिच्यमाना । रक्तौधाबद्धमौलिर्विमलतरदुकूलार्तवालेपनाद्या पद्माक्षी पद्मनाभोरसि कृतवसतिः पद्मगा श्रीः श्रियै नः ॥८॥

जो श्री-लक्ष्मीदेवी अपने दोनों हाथों में कमल पुष्प और शेष दो में वर एवं अभय मुद्राएँ धारण किये हुए हैं। जिन देवी के शरीर की आभा तस-स्वर्ण के सदृश है। जिन देवी का अभिषेक शुभ्र मेघ की सी सुन्दर आभा वाले दो हाथियों की सूँड़ों में ग्रहण किये हुए कलशों के जल से सम्पन्न हो रहा है। लाल रंग के माणिक्यादि रत्नों का मुकुट जिनके सिर पर शोभायमान है, जिन श्री देवी के परिधान अत्यधिक स्वच्छ हैं। जिनके नेत्र पद्म के समान हैं, ऋतु के अनुकूल जिनके अंग-अवयव चन्दन आदि सुवासित पदार्थों के लेपन से युक्त हैं। क्षीरशायी भगवान् विष्णु के हृदय स्थल में जिनका निवास है। हम सभी के लिए वे श्री-लक्ष्मी देवी कमल के आसन पर प्रतिष्ठित होकर श्रेष्ठ ऐश्वर्य प्रदान करने की कृपा करें॥८॥

तत्पीठम् । अष्टपत्रं वृत्तत्रयं द्वादशराशिखण्डं चतुरस्त्रं रमापीठं भवति । कर्णिकायां ससाध्यं श्रीबीजम् । विभूतिरुन्नतिः कान्तिः सृष्टिः कीर्तिः सन्नतिव्युष्टिः सत्कृष्टिर्त्रिरूपिति प्रणवादिनमो-न्तैश्चतुर्थ्यनैर्नवशक्तिं यजेत् ॥९॥

ध्यान के पश्चात् उस पीठयन्त्र का वर्णन करते हैं-इस में तीन वृत्तों-अष्टदल पद्म, द्वादश राशिखण्ड और चतुर्ष्कोण के आकार सदृश रमापीठ होता है। उस कर्णिका (बीजकोष) में श्रमपूर्वक श्री-बीज (श्रीं) अंकित करना चाहिए। (उदाहरणार्थ- 'श्रीं श्रीर्मा देवी जुषताम्।' इसके बाद प्रातःकालीन कृत्य, पीठन्यास तथा ऋष्यादि न्यास करे) तत्पश्चात् प्रारम्भ में 'ॐ' कार एवं अन्त में 'नमः' शब्द जोड़कर प्रत्येक नाम को चतुर्थी विभक्ति के रूप में प्रयुक्त करते हुए इन नौ शक्तियों (उदाहरणार्थ- 'ॐ विभूत्यै नमः' आदि) विभूति, कान्ति, उन्नति, कीर्ति, सृष्टि, संनति, व्युष्टि, ऋद्धि एवं सत्कृष्टि की पूजा-अर्चा सम्पन्न करे॥९॥

अङ्गैः प्रथमावृतिः । वासुदेवादिभिर्द्वितीया । बालक्यादिभिस्तृतीया । इन्द्रादिभिश्चतुर्थी भवति । द्वादशलक्षजपः ॥१०॥

तदुपरान्त अङ्गन्यास द्वारा प्रथम-आवरण का पूजन सम्पन्न करे।(उस समय) वासुदेव आदि(वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध)का पूजन करे, यह द्वितीय-आवरण की पूजा हुई। अब तृतीय आवरण के द्वारा बालाकी आदि(बालाकी, विमला, कमला, विभीषिका, वनमालिका, मालिका एवं वसुमालिका)का पूजन सम्पन्न करे। इसके पश्चात् चतुर्थ आवरण की पूजा में इन्द्र आदि(इन्द्र सहित समस्त देवों की और वत्र सहित उन सभी के आयुधों)का पूजन करे।(पुरश्वरण के लिए)बारह लाख मन्त्रों का जप (नियम सहित) करना चाहिए॥१०॥

श्रीलक्ष्मीर्वदा विष्णुपत्नी वसुप्रदा हिरण्यरूपा स्वर्णमालिनी रजतस्वजा स्वर्णप्रभा स्वर्णप्राकारा पद्मवासिनी पद्महस्ता पद्मप्रिया मुक्तालंकारा चन्द्रसूर्या बिल्वप्रिया ईश्वरी भुक्तिर्मुक्तिर्विभूतिर्त्रिरूपितः समृद्धिः कृष्टिः पुष्टिर्थनदा धनेश्वरी श्रद्धा भोगदा सावित्री धात्री विधात्रीत्यादिप्रणवादिनमोन्नाश्चतुर्थ्यन्ता मन्त्राः । एकाक्षरवदङ्गादिपीठम् । लक्षजपः । दशांशं तर्पणम् । दशांशं हवनम् । द्विजतृसिः ॥११॥

(अब त्र्यक्षरी-श्रीं, हर्णीं, श्रीं-विद्या के पूजन-क्रम का वर्णन किया जा रहा है। त्र्यक्षरी विद्या का पूजन-क्रम एकाक्षरी के पूजन की भाँति ही है। केवल तीसरे आवरण की पूजा में कुछ भिन्नता है। इस विद्या के प्रारम्भ में 'ॐ' कार और अन्त में 'नमः' शब्द जोड़कर हर एक नाम का चतुर्थी विभक्ति के रूप में प्रयुक्त करते हुए) श्री, लक्ष्मी, वरदा, विष्णुपत्नी, वसुप्रदा, हिरण्यरूपा, स्वर्णमालिनी, रजतस्त्रजा, स्वर्णप्रभा, स्वर्णप्राकारा, पद्मासिनी, पद्मप्रिया, पद्महस्ता, चन्द्रसूर्या, मुक्तालङ्घारा, बिल्वप्रिया, ईश्वरी, भुक्ति, मुक्ति, विभूति, ऋद्धि, समृद्धि, कृष्टि, पुष्टि, धनदा, धनेश्वरी, श्रद्धा, भोगिनी, भोगदा, सावित्री, धात्री एवं विधात्री आदि नाम-मंत्रों द्वारा शक्ति की पूजा-अर्चा सम्पन्न करे। एकाक्षर मन्त्र की ही भाँति अङ्गादि से पीठ-पूजन की क्रिया करे। पुरश्वरण के लिए एक लाख मन्त्रों का जप करना चाहिए। जप का दसवाँ भाग तर्पण, तर्पण का दसवाँ भाग हवन और हवन का दसवाँ हिस्सा ब्रह्मभोज करना चाहिए॥ ११ ॥

निष्कामानामेव श्रीविद्यासिद्धिः । न कदापि सकामानामिति ॥ १२ ॥

निष्काम (कामनाविहीन) उपासकों को ही श्री-लक्ष्मी विद्या की सिद्धि प्राप्त होती है। इसकी सिद्धि सकाम उपासकों को किञ्चित् मात्र भी नहीं होती॥ १२ ॥

॥ द्वितीयः खण्डः ॥

अथ हैनं देवा ऊचुस्तुरीयया मायया निर्दिष्टं तत्त्वं ब्रूहीति । तथेति स होवाच—योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्धते । योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगी रमते चिरम् ॥ १ ॥ समापद्य निद्रां सुजीर्णऽल्पभोजी श्रमत्याज्यबाधे विविक्ते प्रदेशे । सदा शीतनिस्तृष्णा एष प्रयत्नोऽथ वा प्राणरोधो निजाभ्यासमार्गात् ॥ २ ॥ वक्त्रेणापूर्य वायुं हुतवहनिलयेऽपानमाकृष्य धृत्वा स्वाङ्गुष्ठाद्यङ्गुलीभिर्वरकरतलयोः षड्भिरेवं निरुद्ध्य । श्रोत्रे नेत्रे च नासापुटयुगलमध्योऽनेन मार्गेण सम्यक्पश्यन्ति प्रत्ययांशं प्रणवबहुविधध्यानसंलीनचित्ताः ॥ ३ ॥

इसके पश्चात् समस्त देवों ने आदि नारायण से पुनः प्रश्न किया—हे प्रभो! आप कृपा करके तुरीया माया के द्वारा निर्दिष्ट तत्त्व के सन्दर्भ में हम सभी को बताने का अनुग्रह करें। 'बहुत अच्छा' कहते हुए आदि नारायण ने आगे कहना प्रारम्भ किया। (उन्होंने कहा—हे देवो!) योग द्वारा ही योग को जानने का प्रयास करना चाहिए, योग द्वारा ही योग वृद्धि को प्राप्त होता है। जो योगी अपने योग में प्रमाद-रहित होकर सतत जागरूक बना रहता है, वह योगी अनन्तकाल तक आनन्द लाभ प्राप्त करता है। मितभोगी अर्थात् ब्राह्मणोचित निर्वाह हेतु आवश्यक सामग्री का उपयोग करने वाला साधक राग, द्वेष एवं मोहरूपी कषाय-कल्मष, निद्रालस्य का परित्याग कर, प्रपञ्च के ब्रह्मत्व की प्राप्ति में अवरोध उत्पन्न होने से एकान्त स्थल में स्थित होकर ध्यान साधना करता रहता है। निरन्तर वह आत्मतत्त्व को परमात्मतत्त्व में प्रतिष्ठित करने का अभ्यास करता रहता है। वह सर्दी-गर्मी आदि द्वन्द्वों से परे रहने के लिए सदैव राजयोग की साधना में प्रवृत्त रहता है। योगीजन प्राणायाम के अभ्यास में सर्व-प्रथम मुख द्वारा वायु को खींचकर अन्तः में प्रतिष्ठित करते हैं एवं नाभि प्रदेश से अपान वायु का जठराग्नि के कोष में सम्मिलन कराते हैं। तदुपरान्त अङ्गुष्ठ सहित सभी अङ्गुलियों एवं दोनों हथेलियों से दोनों कान, आँखें और नासिका के दोनों छिद्रों को बन्द करके प्राणायाम के सतत अभ्यास से और ३० कार का विभन्न तरह से ध्यान करते हुए उसी में एकाग्र मन से लीन हुए योगीजन चैतन्य रूपी आत्मतत्त्व का साक्षात्कार करते हैं॥ १-३ ॥

श्रवणमुखनयननासानिरोधनेनैव कर्तव्यम् । शुद्धसुषुप्तासरणौ स्फुटममलं श्रूयते नादः ॥ ४ ॥
विचित्रघोषसंयुक्तानाहते श्रूयते ध्वनिः । दिव्यदेहश्च तेजस्वी दिव्यगन्धोऽप्यरोगवान् ॥ ५ ॥
संपूर्णहृदयः शून्ये त्वारम्भे योगवान्भवेत् । द्वितीयां विघटीकृत्य वायुर्भवति मध्यगः ॥ ६ ॥

नेत्र, कर्ण, मुख एवं नासिका के दोनों छिद्रों को बन्द करके की जाने वाली अभ्यास-साधना की एक और विधि बतलायी गई है। उस (विधि) से शुद्ध सुषुमा नाड़ी में ३० कार के विशुद्ध अनाहत नाद को स्पृष्टतया सुना जाता है। अनाहत-चक्र में ध्वनि के श्रवण करने पर विभिन्न तरह के विचित्र घोष (शब्द) सुने जाते हैं। इस साधना से साधक अत्यन्त तेजस्वी हो जाता है, उसके शरीर से दिव्य-गन्ध निःसृत होने लगती है। वह स्वास्थ्य लाभ लेता हुआ दिव्य शरीर और पूर्ण विकसित हृदय को प्राप्त कर लेता है। शून्य (सुषुमा नाड़ी) में (पूर्ण मनोयोगपूर्वक ध्वनि श्रवण करते रहने से) प्रारम्भिक-काल से ही वह साधक जहाँ से सुषुमा नाड़ी शुरू होती है, उस (ब्रह्मग्रन्थि-मूलाधार चक्र) में ही योग युक्त हो जाता है। (तत्पश्चात्) दूसरी (विष्णुग्रन्थि-स्वाधिष्ठान चक्र) का भेदन करके उसके मध्यवर्ती छिद्र में से होकर प्राणवायु सुषुमा में प्रविष्ट हो जाती है ॥ ४-६ ॥
दृढासनो भवेद्योगी पद्माद्यासनसंस्थितः । विष्णुग्रन्थेस्ततो भेदात्परमानन्दसंभवः ॥ ७ ॥
अतिशून्यो विमर्दश्च भेरीशब्दस्ततो भवेत् । तृतीयां यत्नतो भित्त्वा निनादो मर्दलध्वनिः ॥ ८ ॥

दृढ़तापूर्वक पद्मासन आदि आसन में प्रतिष्ठित होकर तृतीय मणिपूरकचक्र में स्थित होकर, (अनेक इच्छाओं-आकांक्षाओं का विस्तार करती रहने वाली उस) विष्णुग्रन्थि (माया) का भेदन करने पर परम आनन्द की प्राप्ति सुलभ हो जाती है। शून्य (माया) को लाँघकर ऊर्ध्व की ओर बढ़ता हुआ प्राणवायु जब नाड़ी के साथ संघर्षित होता है, तब उसमें से भेरी की भाँति ध्वनि सुनाई पड़ती है। उस समय तीसरी (रुद्रग्रन्थि-मणिपूरचक्र) को भेदकर चलने पर प्राणवायु से मृदङ्ग-जैसी ध्वनि सुनाई देती है ॥ ७-८ ॥

महाशून्यं ततो याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम् । चित्तानन्दं ततो भित्त्वा सर्वपीठगतानिलः ॥ ९ ॥

इसके बाद प्राणवायु अन्य चक्रों का भेदन करता हुआ महाशून्य (आकाश चक्र) में पहुँच जाता है। वहाँ पर सभी तरह की सिद्धि सुलभता से प्राप्त हो जाती है। तदनन्तर प्राणवायु उस चित्त के आनन्द को भी भेद कर (अर्थात् उसमें न रमता हुआ, कामरूप पीठ आदि) सभी पीठों (चक्रों) में गतिशील हो जाता है ॥ ९ ॥

निष्पत्तौ वैणवः शब्दः क्वणतीति क्वणो भवेत् । एकीभूतं तदा चित्तं सनकादिमुनीडितम् ॥ १० ॥

अन्तेऽनन्तं समारोप्य खण्डेऽखण्डं समर्पयन् । भूमानं प्रकृतिं ध्यात्वा कृतकृत्योऽमृतो भवेत् ॥ ११ ॥

तदनन्तर इस साधना के समाप्तन पर वैणव शब्द- वैणुनिनाद शब्दायमान होता हुआ स्वयमेव 'प्रणव'-रूप में प्रादुर्भूत होता है। इस ३०कार ध्वनि में चित्त लीन हो जाता है, ऐसा सनकादि ऋषियों के द्वारा कहा गया है। उस महाशून्य-चक्र में अवस्थित होता हुआ साधक अन्त में अर्थात् जीवात्मा में अन्तरहित परमात्मतत्त्व का समारोप करता है। वह मायाग्रस्त अंशरूप आत्मा में अंशरहित परमपिता परमात्मा को समर्पित करके और आत्मा की भूमा (सर्वत्र संव्यास) प्रकृति का चिन्तन करता हुआ अमृतमय हो जाता है ॥ १०-११ ॥

योगेन योगं संरोध्य भावं भावेन चाङ्गसा । निर्विकल्पं परं तत्त्वं सदा भूत्वा परं भवेत् ॥ १२ ॥

अहंभावं परित्यज्य जगद्वावमनीदृशम् । निर्विकल्पे स्थितो विद्वान्भूयो नाप्यनुशोचति ॥ १३ ॥

(असंप्रज्ञात ज्ञानातीत) योग द्वारा (संप्रज्ञात-विशिष्टज्ञान) योग को अपने वश में करे तथा भाव (सविचार) समाधि का निरोध अभाव (निर्विचार) समाधि द्वारा करे। तदुपरान्त योगी निर्विकल्प-समाधि को प्राप्त करके परमात्मतत्त्व से एकत्वरूप कैवल्यावस्था को प्राप्त कर लेता है। निर्विकल्प समाधि में विद्यमान योगी-साधक

का अहंभाव उससे अलग हो जाता है तथा आत्मतत्त्व में स्थित मायास्वरूप जगत् का भी लोप हो जाता है। इस प्रकार से विद्वज्जन बार-बार 'यह मैं हूँ' तथा 'यह मेरा है' इत्यादि चिन्ताओं से परे हो जाते हैं ॥ १२-१३ ॥
सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भवति योगतः । तथात्ममनसौरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥ १४ ॥
यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते । तदा समरसत्वं यत्समाधिरभिधीयते ॥ १५ ॥
यत्समत्वं तयोरत्र जीवात्मपरमात्मनोः । समस्तनष्टसंकल्पः समाधिरभिधीयते ॥ १६ ॥
प्रभाशून्यं मनःशून्यं बुद्धिशून्यं निरामयम् । सर्वशून्यं निराभासं समाधिरभिधीयते ॥ १७ ॥
स्वयमुच्चलिते देहे देही नित्यसमाधिना । निश्चलं तं विजानीयात्समाधिरभिधीयते ॥ १८ ॥
यत्रयत्र मनो याति तत्रतत्र परं पदम् । तत्रतत्र परं ब्रह्म सर्वत्र समवस्थितम् ॥ १९ ॥

जिस प्रकार जल में नमक का मिश्रण कर देने पर, जल और नमक घुल-मिल जाता है, उसी प्रकार आत्मा में मन का विलय होना ही समाधि कहलाता है। जब प्राणायाम के अभ्यास द्वारा प्राणवायु पूरी तरह से कमजोर होकर कुम्भक में स्थित हो जाती है तथा मानसिक-वृत्तियाँ पूर्णतया कमजोर हो जाती हैं, उस समय तैलधारवत् आत्मा के संग चित्त का एकात्म भाव ही समाधि कहा जाता है। जीवात्मा एवं परमात्मा का एकत्व होने पर जब समस्त संकल्प विनष्ट हो जाते हैं, तब उस अवस्था को समाधि कहते हैं। प्रभा अर्थात् सांसारिक बोध से रहित जिस स्थिति में मन एवं बुद्धि पूर्णरूपेण लीन हो जाते हैं, जिसमें कुछ भी आभास नहीं होता, सब शून्यवत् ही प्रतीत होता है, वह (भवरोग के निवारण की स्थिति) ही समाधि कहलाती है। शरीर के इधर-उधर गतिशील रहने पर भी जीवात्मा जब निश्चल, नित्य, स्वयं प्रकाशरूप में विद्यमान रहता है, तब वही समाधि अवस्था कहलाती है। उस योगी साधक का मन जहाँ-जहाँ गमन करता है, वहाँ-वहाँ परम श्रेष्ठ पद की प्राप्ति होती है। उस (योगी) के लिए परब्रह्म सभी जगह समान रूप से अवस्थित रहता है ॥ १४-१९ ॥

॥ तृतीयः खण्डः ॥

अथ हैनं देवा ऊर्चुर्नवचक्रविवेकमनुब्रूहीति । तथेति स होवाच—आधारे ब्रह्मचक्रं
त्रिरावृतं भगमण्डलाकारम् । तत्र मूलकन्दे शक्तिः पावकाकारं ध्यायेत् । तत्रैव कामरूपपीठं
सर्वकामप्रदं भवति । इत्याधारचक्रम् ॥ १ ॥

तदनन्तर समस्त देवों ने भगवान् आदि नारायण से पुनः प्रार्थना की-हे प्रभो! आप कृपा करके हम सभी के कल्याणार्थ 'नवचक्र-विवेक' के सन्दर्भ में बतलाने का अनुग्रह करें। 'बहुत अच्छा' कहते हुए भगवान् आदि नारायण देवों को समझाते हुए बोले-

मूलाधार में ही ब्रह्मचक्र स्थित है। वह योनि के आकार में तीन घेरों के रूप में है। वहाँ पर कर्णिका (बीजकोष) के मूल में कुण्डलिनी-महाशक्ति शयन किये हुए सर्प के आकार में विद्यमान है। तपती हुई अग्नि के रूप में उस शक्ति का तब तक चिन्तन करना चाहिए, जब तक वह जाग्रत् अवस्था को प्राप्त न हो जाए। वहीं पर देवी त्रिपुरा का स्थान कामरूप नाम की पीठ स्थित है। उसकी उपासना द्वारा सभी तरह के भोगों को प्राप्त किया जा सकता है। इतना ही आधार (मूलाधार) नाम से युक्त प्रथम चक्र के सन्दर्भ में वर्णित है ॥ १ ॥

द्वितीयं स्वाधिष्ठानचक्रं षड्दलम् । तन्मध्ये पश्चिमाभिमुखं लिङ्गं प्रवालाङ्गुरसदृशं ध्यायेत् ।
तत्रैवोऽग्निपीठं जगदाकर्षणसिद्धिदं भवति ॥ २ ॥

द्वितीय चक्र छः दलों से युक्त स्वाधिष्ठान चक्र कहलाता है। उस षट्दल कमल के कर्णिका पीठ में (पृष्ठ में) पश्चिम की ओर मुख करके मूँगे के अङ्गुर के सदृश लाल वर्ण युक्त शिवलिङ्ग का चिन्तन करे। वहाँ पर उद्याण पीठ स्थित है। उसकी उपासना द्वारा सम्पूर्ण विश्व को आकर्षित करने की सिद्धि प्राप्त होती है ॥ २ ॥

तृतीयं नाभिचक्रं पञ्चावर्तं सर्पकुटिलाकारम् । तन्मध्ये कुण्डलिनीं बालार्ककोटिप्रभां तडित्प्रभां (तनुमध्यां) ध्यायेत् । सामर्थ्यशक्तिः सर्वसिद्धिप्रदा भवति । मणिपूरकचक्रम् ॥३ ॥

तृतीय-चक्र सर्प की भाँति कुटिल आकार वाला एवं पाँच घेरों से आवृत्त है। उसे नाभि चक्र कहते हैं। उस चक्र में करोड़ों बाल सूर्यों की सी कान्ति से युक्त और तडित् के सदृश कोमल अंगों से युक्त कुण्डलिनी-महाशक्ति का ध्यान करना चाहिए। इस शक्ति की जागृति से महान् सामर्थ्य की प्राप्ति होती है तथा यह समस्त सिद्धियों को भी प्रदान करती है। यही मणिपूरक चक्र है ॥ ३ ॥

हृदयचक्रमष्टदलमधोमुखम् । तन्मध्ये ज्योतिर्मयलिङ्गाकारं ध्यायेत् । सैव हंसकला सर्वप्रिया सर्वलोकवश्यकरी भवति ॥ ४ ॥

(चतुर्थ अनाहत चक्र कहलाता है) इसे ही हृदयचक्र भी कहते हैं। यह अष्टदल कमल के आकार सदृश अधोमुख होता है। इस चक्र में ज्योतिर्मय लिङ्ग का ध्यान करना चाहिए। यही ज्योतिर्मय लिङ्ग हंसकला के नाम से प्रसिद्ध है। यह सभी को प्रिय है, इसके जाग्रत् होने से सम्पूर्ण लोकों को अपने वश में करने की शक्ति प्रकट होती है ॥ ४ ॥

कण्ठचक्रं चतुरङ्गुलम् । तत्र वामे इडा चन्द्रनाडी दक्षिणे पिङ्गला सूर्यनाडी तन्मध्ये सुषुम्नां श्वेतवर्णा ध्यायेत् । य एवं वेदानाहतसिद्धिदा भवति ॥ ५ ॥

पाँचवाँ चक्र कण्ठ में विशुद्धाख्य चक्र के नाम से प्रसिद्ध है। यह चार अङ्गुल परिमाण का है। इस चक्र में बायीं ओर इडा (चन्द्रनाडी) और दाहिनी तरफ पिङ्गला (सूर्यनाडी) प्रतिष्ठित है। इन दोनों नाड़ियों के मध्य में श्वेतवर्ण की सुषुम्ना नाड़ी का ध्यान करना चाहिए। जो मनुष्य इसे जानता है, वह इसके द्वारा अनाहत (नाद) की सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ ५ ॥

तालुचक्रम् । तत्रामृतधाराप्रवाहः । घण्टकालिङ्गमूलचक्ररन्ध्रे राजदन्तावलम्बिनीविवरं दशद्वादशारम् । तत्र शून्यं ध्यायेत् । चित्तलयो भवति ॥ ६ ॥

इसके ऊपर तालु चक्र है, जहाँ पर हमेशा अमृत की धार प्रवहमान रहती है। तालु-चक्र में दस या बारह दल होते हैं। घाटी (गले में लटकने वाला टेंटुआ) के मूल में एवं अग्रभाग के दाँतों की जड़ तक फैला हुआ जो चक्र के आकार का रन्ध्र (छिद्र) है, उसी में तालु-चक्र प्रतिष्ठित है। इस चक्र में शून्य का ध्यान करने से चित्त शून्य में समाहित होता है ॥ ६ ॥

सप्तमं भ्रूचक्रमङ्गुष्ठमात्रम् । तत्र ज्ञाननेत्रं दीपशिखाकारं ध्यायेत् । तदेव कपालकन्दवा-किसिद्धिदं भवत्याज्ञाचक्रम् ॥ ७ ॥

अंगुष्ठ के आकार-सदृश सातवाँ भ्रू-चक्र कहलाता है। उस षट्दल कमल में स्थित दीपशिखा के आकार में ज्ञान-चक्षु का ध्यान करना चाहिए। इस (भ्रू) चक्र के जाग्रत् होने के पश्चात् कपालकन्द अर्थात् अदृष्ट के कारणभूत कार्यों एवं उनके विषय का (वाक्सिद्धि का) समस्त ज्ञान प्राप्त हो जाता है, यही आज्ञा चक्र है ॥ ७ ॥

ब्रह्मरन्ध्रं निर्वाणचक्रम् । तत्र सूचिकागृहेतरं धूम्रशिखाकारं ध्यायेत् । तत्र जालन्थरपीठं मोक्षप्रदं भवतीति परब्रह्मचक्रम् ॥ ८ ॥

आठवाँ निवर्ण- चक्र कहलाता है। इसे ब्रह्मरन्ध्र भी कहते हैं। वह सुई के अग्रभाग के नोंक के आकार के सदृश है। वहाँ सतत सक्रिय धूम्रशिखा के आकार का चिन्तन करना चाहिए। वहीं जालन्धर पीठ विद्यमान है। उस चक्र के सतत चिन्तन से मोक्ष लाभ प्राप्त होता है, अतः इसी कारण योगीजनों द्वारा इसे परब्रह्म चक्र भी कहा जाता है ॥ ८ ॥

नवममाकाशचक्रम् । तत्र षोडशदलपद्ममूर्धमुखं तन्मध्यकर्णिकात्रिकूटाकारम् । तन्मध्ये ऊर्ध्वशक्तिः । तां पश्यन्ध्यायेत् । तत्रैव पूर्णिगिरिपीठं सर्वेच्छासिद्धिसाधनं भवति ॥ ९ ॥

आकाश चक्र को नवम चक्र कहा गया है। इस चक्र में षोडश दलों से युक्त कमल ऊर्ध्व की ओर मुख किये हुए अवस्थित है। उसके मध्य स्थल की कर्णिका तीन गुणों की जननी होने के कारण तीन शिखरों से युक्त पर्वत के आकार-सदृश कही गयी है। उस चक्र के बीच में ऊपर की ओर झुकी हुई शक्ति है, उसी को दृष्टि में रखकर ध्यान करना चाहिए। उस स्थल पर ही पूर्णिगिरि पीठ स्थित है, जिसके ध्यान द्वारा समस्त कामनाओं की सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥ ९ ॥

**सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषदं नित्यमधीते सोऽग्निपूतो भवति । स वायुपूतो भवति । स सकलध-
नधान्यसत्पुत्रकलत्रहयभूगजपशुमहिषीदासीदासयोगज्ञानवान्भवति । न स पुनरावर्तते न स
पुनरावर्तत इत्युपनिषत् ॥ १० ॥**

जो मनुष्य नित्य प्रति सौभाग्यलक्ष्मी उपनिषद् का पाठ करता है, वह अग्निवत् पवित्र होता है, वह वायु के सदृश शुद्ध होता है। वह सभी प्रकार के धन-धान्य, स्त्री-पुत्र, हाथी-घोड़े, भैंस-गाय एवं दास-दासी से सम्पन्न योगी एवं ज्ञानी हो जाता है। मनुष्य जीवन के समापन पर वह परम पिता परमात्मा के शाश्वत पद को प्राप्त कर लेता है, जहाँ से वह पुनः वापस नहीं आता, पुनः वापस नहीं लौटता है, ऐसी ही यह उपनिषद् (रहस्यात्मक ज्ञान) है ॥ १० ॥

ॐ वाऽमे मनसि इति शान्तिः ॥

॥ इति सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषत्समाप्ता ॥



परिशिष्ट

परिभाषा-कोश-१०८ उपनिषद्-साधना खण्ड

के कारण उनका कभी अन्त न होने से उन्हें अनन्ता, उनका ब्रह्मन स्वरूप दिखाई न पड़ने से उन्हें ही अलक्ष्या कहा जाता है—यस्या: स्वरूपं ब्रह्मादयो न जानन्ति तस्मादुच्यतेऽज्ञेया । यस्या अन्तो न विद्यते तस्मादुच्यतेऽनन्ता । यस्या ग्रहणं नोपलभ्यते तस्मादुच्यतेऽलक्ष्या (देवी० २६) । काल का नियमन करने के कारण इन्हें कालरात्रि, वेदों में स्तुति होने के कारण इन्हें ब्रह्मस्तुता, विष्णु शक्ति होने से इन्हें वैष्णवी भी कहते हैं । इसी प्रकार इन देवी के अन्य भी स्कन्दमाता, सरस्वती, अदिति, दक्षकन्या, पापनाशिनी, कल्याणी और भगवती आदि नाम हैं—कालरात्रिं ब्रह्मस्तुतां वैष्णवां स्कन्दमातरम् । सरस्वतीमदितिं दक्षदुहितरं नमामः पावनां शिवाम् (देवी० ११) ।

७. अणिमा—द्र०—अष्ट सिद्धि ।

८. अण्डज—द्र०—ब्रह्मविद्याखण्ड-कला ।

९. अतिरात्रयज्ञ—यज्ञ को भारतीय संस्कृति का पिता और गायत्री को माता कहा जाता है । व्यावहारिक परिप्रेक्ष्य में तो त्यागपूर्ण जीवन जीने को ही यज्ञ माना जाता है । लोककल्याण के कार्यों को भी यज्ञ की संज्ञा प्रदान की जाती है । जैसे—नेत्रदान यज्ञ, रक्तदान यज्ञ, भूदान यज्ञ आदि । ये तो यज्ञ के दार्शनिक स्वरूप हैं । शास्त्रीय दृष्टि में भी यज्ञ के अनेक प्रकार होते हैं । इन्हें दो वर्गों में विभाजित किया गया है । १. श्रौत यज्ञ २. स्मार्त यज्ञ । श्रुति प्रतिपादित यज्ञों को श्रौत यज्ञ तथा स्मृति प्रतिपादित यज्ञों को स्मार्त यज्ञ कहते हैं । श्रौत यज्ञ में श्रुति निर्दिष्ट मन्त्रों और स्मार्त यज्ञ में वैदिक, पौराणिक और तान्त्रिक मन्त्रों का भी प्रयोग होता है । श्रौत यज्ञों के अन्तर्गत अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग और सोमयाग आते हैं— स वा एष यज्ञः पञ्चविधः अग्निहोत्रम्, दर्शपूर्णमासौ, चातुर्मास्यानि पशुः सोमः (ऐ० आ० २.३.३) । इनमें सोमलता के रस द्वारा जिन यज्ञों को सम्पादित किया जाता है, उन्हें सोमयाग कहते हैं, जिनमें दूध, दही, घी और पुरोडाश आदि पिष्टक आहुति दी जाती है, उन्हें हविर्यज्ञ कहते हैं । सोमयाग वसन्त ऋतु में सम्पन्न करने का शास्त्रीय विधान है । यद्यपि सामान्यतया यह यज्ञ एक ही दिन में पूर्ण हो जाता है; किन्तु अपने अङ्ग-उपाङ्गों सहित सम्पन्न होने में इसमें पाँच दिन का समय लग जाता है । इस यज्ञ में सोलह ऋत्विक् होते हैं, जो चार वर्गों में विभाजित होते हैं— पोडशत्विंजो ब्रह्मोदगातु होत्रध्वर्यु (का० श्रौ० ७.१.७) अर्थात् सोलह ऋत्विंजों के चार वर्गों में ब्रह्मा, उद्गाता, होता और अध्वर्यु प्रमुख ऋत्विंज् कहलाते हैं । इनमें से प्रत्येक के तीन-तीन सहयोगी होते हैं । आश्वलायन श्रौत सूत्र में उल्लेख है—चत्वारस्त्रिपुरुषाः । तस्य तस्योत्तरे त्रयः (आ० श्रौ० ४.१.४-५) । ब्रह्मा के सहयोगी ऋत्विंज्-ब्राह्मणाच्छंसी, आग्रीध्र एवं पोता; अध्वर्यु के सहयोगी ऋत्विंज्-प्रतिप्रस्थाता, नेष्ठा और उत्रेता; होता के सहयोगी ऋत्विंज्-मैत्रावरुण, अच्छावाक् और ग्रावस्तुत तथा उद्गाता के सहयोगी ऋत्विंज्-प्रस्तोता, प्रतिहर्ता एवं सुब्रह्मण्य होते हैं । सोमयाग सात प्रकार के हैं— १. अग्निष्टोम २. अत्यग्निष्टोम ३. उक्त्य ४. पोडशी ५. वाजपेय ६. अतिरात्र ७. अतोर्याम ।

क. अग्निष्टोम—अग्निष्टोम नामक सोमयाग में सर्वप्रथम सोमरस से आहुति प्रदान की जाती है, तत्पश्चात् सोमरस का पान किया जाता है । इसका काल भी वसन्त ऋतु माना जाता है— वसन्ते अग्निष्टोमः इति कात्यायनः (हि० वि० को० ख० १ पृ० १२०) । अग्निष्टोम के सन्दर्भ में शान्तिकुञ्ज द्वारा प्रकाशित १०८ उपनिषद् ब्रह्मविद्या खण्ड के परिभाषा कोश परिशिष्ट में विस्तृत विवरण देखा जा सकता है । अधिक विस्तृत ज्ञान के लिए 'कात्यायन यज्ञ पद्धति विमर्श' द्रष्टव्य है ।

ख. अत्यग्निष्टोम—इसे अग्निष्टोम की विकृति माना जाता है । विकृति का अर्थ यहाँ मूल यज्ञ (प्रकृति) की अनुकरण प्रक्रिया से है । जैसे—सोमयाग के अन्तर्गत मूल यज्ञ अग्निष्टोम है और अत्यग्निष्टोम, उक्त्य पोडशी आदि याग अग्निष्टोम की पद्धति का अनुकरण करने वाले होने से इन्हें अग्निष्टोम की विकृति कहा जाएगा और स्पष्टतः कहें तो यों कहेंगे कि अग्निष्टोम यदि प्रकृति है तो अत्यग्निष्टोम, उक्त्य आदि इसकी विकृति (विशिष्टकृति) है । इस याग में अन्य क्रिया— कलाप तो अत्यग्निष्टोम की तरह ही सम्पन्न होते हैं; किन्तु यज्ञ समापन पर अग्निष्टोम सामपाठ के उपरान्त पोडशी साम का गान भी होता है । इस याग (यज्ञ) में यजमान सप्तवीक बैठते हैं और पोडशी ऋत्विंज् यज्ञ कार्य सम्पादित करते हैं ।

ग. उक्त्य याग—यह सोमयाग का उक्त्य संज्ञा सम्पन्न तृतीय भेद है । इसे भी अग्निष्टोम की विकृति मानते हैं । इस यज्ञ का आयोजन पशु की आकांक्षा से किया जाता है— उक्त्येन पशुकामो यजेत् (स० श्रौ० ९.७) । इसमें इन्द्र और अग्निदेव भी पर्यायवाची है । इन यज्ञों में प्रयोग परीक्षण की दृष्टि से कई प्रकार की वनस्पतियों-ओषधियों का प्रयोग किया जाता था । अतः अज शब्द को पाश्विक, हिंसा आदि में प्रयुक्त नहीं मानना चाहिए ।

- घ.** घोडशी याग— सोमयागों के क्रम में चतुर्थ याग घोडशी याग है। इसे भी अग्निष्ठोम याग की विकृति (विशिष्टकृति) मानते हैं। इसमें कुछ ही विशिष्ट विधान होते हैं, शेष सब प्रकृतिवत् अर्थात् अग्निष्ठोम याग के अनुरूप ही होते हैं। याजक इस याग को वीर्यवान् होने की कामना से सम्पन्न करते हैं- घोडशिना वीर्यकामः (स०श्रौ० ९.७)। इसके प्रमुख देव अग्नि, इन्द्राग्नी और इन्द्र होते हैं, जिनके लिए क्रमशः दो के लिए अज और एक के लिए मेष समर्पित किया जाता है। वस्तुतः पशु समर्पण का यह रूप बनस्पतियों के समर्पण का मानवीकरण ही है।
- ड.** वाजपेय याग—सोमयाग की सात संस्थाओं में वाजपेय याग पंचम संस्था है। इसे घोडशीयाग की विकृति रूप मानते हैं। घोडशीयाग से ही इस वाजपेय याग के अधिकांश क्रिया-कलाप सम्बद्ध हैं। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि इसे साम्राज्य प्राप्ति और सम्भाट बनने की कामना से किया जाता है-वाजपेयेनेष्टवा सम्भाट भवति (श०ब्रा०५.१.१४)। इसे ब्राह्मण और क्षत्रिय वर्ण के आहिताग्नि यजमान शरद ऋतु में सम्पन्न करते हैं-यदेनेनेष्टोऽयजत (श०ब्रा० ५.१.११)। वाजपेयः शरदि (का०श्रौ० १४.१.१)। वाजपेय याग से पूर्व में एवम् बाद में बृहस्पतिसव नामक यज्ञ सम्पन्न किये जाते हैं। इन यज्ञों को परियज्ञ नाम से जाना जाता है। परियज्ञों को सम्पन्न करने के सम्बन्ध में कई विद्वानों के अलग-अलग मत हैं। जैसे-कुछ विद्वान् मानते हैं कि यदि वाजपेय याग का प्रमुख दिवस (सौन्य दिवस) आश्विन कृष्ण अमावस्या को हो, तो इससे पूर्व का बृहस्पतिसव (परियज्ञ) भाद्रपद पूर्णिमा को होना चाहिए और वाजपेय याग के उपरान्त का बृहस्पतिसव कार्तिक पूर्णिमा को होना चाहिए। कुछ विद्वानों का मानना है कि वाजपेय यज्ञ के परियज्ञ के रूप में बृहस्पतिसव के स्थान पर अग्निष्ठोम पर आधारित ज्योतिष्ठोम का आयोजन किया जाता है- बृहस्पतिसवस्थाने, अग्निष्ठोमसंस्थो ज्योतिष्ठोम एव भवति न बृहस्पतिसवः (दे०प०प० ४३८)। अन्य कुछ विद्वानों का मत है कि वाजपेय याग के पूर्ववर्ती बारह शुक्ल पक्षों में और परवर्ती बारह शुक्ल पक्षों में परियज्ञ के रूप में ज्योतिष्ठोम याग सम्पन्न करने चाहिए। कुछ विद्वान् ऐसा मानते हैं कि वाजपेय याग से पूर्व और पश्चात् राजसूय याग में वर्णित अग्निष्ठोम पर आधारित नौ प्रकार के सोमयाग सम्पन्न करने चाहिए। इस प्रकार ये चार मत प्रख्यात हैं। साम्राज्य विस्तार और सम्भाट होने की दृष्टि से वाजपेय याग का बहुत महत्व है और इसके क्रिया-कलाप भी बड़ी संख्या में हैं; किन्तु इसके विधानों में सप्तदश संख्या का विशेष प्रयोग होना बहुत आकर्षक है, जैसे- सप्तदश प्रजापति, सप्तदश दीक्षा, सप्तदश स्तोत्र, सप्तदश सोमग्रह, सप्तदश सुराग्रह, सप्तदश पशु, सप्तदश अन्न, सप्तदश रथ, सप्तदश दुन्दुभि, सप्तदश इषुप्राशन, सप्तदश गज, सप्तदश अज, सप्तदश गौ आदि। इसके क्रियाकलापों में प्रमुखतः सप्तदशरथ-चक्राग्रहण, सप्तदश दुन्दुभि वादन, सप्तदश इषुप्रक्षेप, सप्तदश रथ धावन, रथ समर्पण, सुरा समर्पण, यूपाग्रहण, पुटोत्क्षेपण, अभिषेक, सम्भाट पद प्राप्ति, अवभूथ याग आदि हैं। वाजपेय याग के समूचे क्रिया-कलापों का वर्णन यहाँ स्थानाभाव के कारण सम्भव नहीं है, त्रौत ग्रन्थों में इसे सविस्तार देखा जा सकता है।
- च.** अतिरात्रयाग— सोमयाग की सप्त संस्थाओं के अन्तर्गत अतिरात्र याग पृष्ठ संस्था है। इस याग को भी अग्निष्ठोम याग की विकृति (विशिष्ट कृति) माना गया है, इसलिए इस याग की मूल प्रकृति अग्निष्ठोम ही है। देवयाज्ञिक पद्धति में इसका उल्लेख इस प्रकार है-उक्त्य घोडश्यतिरात्राणामग्निष्ठोम विकारत्वम् (दे०प०प० ३७९) अर्थात् उक्त्य, घोडशी और अतिरात्र अग्निष्ठोम की विकृति है। अतिरात्र याग का आयोजन ब्रह्मवर्चस की कामना से किया जाता है-अतिरात्रेण अतिरात्र अग्निष्ठोम (स०श्रौ० ९.७)। इस याग के चार देवता प्रमुख होते हैं- अग्नि, इन्द्राग्नी, इन्द्र और सरस्वती। इनमें से ब्रह्मवर्चसकामः (स०श्रौ० ९.७)। इस याग के चार देवता प्रमुख होते हैं- अग्नि, इन्द्राग्नी, इन्द्र और सरस्वती। इनमें से प्रत्येक को क्रमशः अज, अज, मेष और मेषी समर्पित की जाती है। पूर्व में भी कहा जा चुका है कि यागों में देवों के निमित्त पशु समर्पण का जो वर्णन मिलता है, वह बनस्पति अथवा उन पशुओं में निहित उन दोषों का समर्पण भी हो सकता है, जो अपने अन्दर विद्यमान हैं। इस याग में निश्चित परिमाण में देवों के प्रति पुरोडाश भी समर्पित किया जाता है। इस याग में तीन रात्रि पर्याय होते हैं। इन तीनों में से प्रत्येक में चार-चार स्तोत्र और शस्त्र भी होते हैं। स्तोत्रों का है। इस याग में तीन रात्रि पर्याय होते हैं। इन तीनों में से प्रत्येक में चार-चार स्तोत्र और शस्त्र भी होते हैं। स्तोत्रों का है। इस याग करके अन्त में एक हजार ब्राह्मणों को ब्रह्मभोज कराया जाता है।
- छ.** असोर्याम याग—सोम यागों में यह सातवाँ और अन्तिम याग है। इसे पशुकामना से सम्पन्न किया जाता है- असोर्यामेण पशुकामः (स०श्रौ० ९.७)। यह याग अतिरात्र याग की विकृति है- अतिरात्र विकारोऽप्तोर्यामः असोर्यामेण पशुकामः (स०श्रौ० ९.७)। इस याग में ग्रह, स्तोत्र और शस्त्रों की संख्या तीनोंसे होती है। इसके देवता अग्नि, इन्द्राग्नी, इन्द्र और (दे०प०प० ३७९)। इस याग में ग्रह, स्तोत्र और शस्त्रों की संख्या तीनोंसे होती है। इसके देवता अग्नि, इन्द्राग्नी, इन्द्र और सरस्वती होते हैं। जिनमें से प्रत्येक के सवनीय पशु क्रमशः अज, अज, मेष और मेषी होते हैं-अतिरात्रसंस्थे

आश्रेयैन्द्राग्रैन्द्रसारस्वताश्रुत्वारो यथोक्तजातीया: (दे०प०प० ३००)। उपनिषदों में भी इन यागों की महत्ता प्रतिपादित की गई है। नृसिंहपूर्वतपिन्युपनिषद् में भगवान् नृसिंह के आनुष्ठान मन्त्र जप को अग्निष्ठोम, उक्त्य, षोडशी, वाजपेय, अतिरात्र और असोर्याम आदि यागों द्वारा यजन कर लेने के समान विवेचित किया गया है—ये एतं मन्त्रराजमानुष्ठुभं नित्यमधीते सोऽग्निष्ठोमेन यजते स उक्त्येन यजते स षोडशिना यजते स वाजपेयेन यजते सोऽतिरात्रेण यजते सोऽसोर्यमेण यजते.....सर्वैः क्रतुभिर्यजते (नृ०पूर्व० ५.१७)।

१०. अद्वय ब्रह्म— द्र०- ब्रह्मविद्या खण्ड- 'अद्वयानन्द'

११. अद्वैत ग्रन्थि— द्र०- अद्वैतशक्ति।

१२. अद्वैतभाव— द्र०-ज्ञानखण्ड- 'अद्वैत'

१३. **अद्वैतशक्ति**— अद्वैत शब्द की व्युत्पत्ति कोश ग्रन्थों में इस प्रकार वर्णित है—द्विधा इतं द्वीतं तस्य भावः द्वैतं भेदः, न द्वैतम्, अभावार्थं नन्—तत् (हि०वि०को०खं०१प०३४३) अर्थात् अभेद, एकत्व, ब्रह्म एवं जीव की अभिनता। प्रायः अद्वैत शब्द का प्रयोग जीव और ब्रह्म में एकत्व प्रदर्शित करने के लिए ही किया जाता है। यही मान्यता अद्वैतवाद के नाम से प्रसिद्ध है। यों तो मूलतः जीव और ब्रह्म में एक ही चेतना संचरित होती है। इसी कारण उस चेतना को अद्वैत कहते हैं; किन्तु जब वही चेतना लौकिक रूप में आकर कार्य करती है, तब वह (जीव और ब्रह्म के रूप में) पृथक् दिखाई पड़ती है। ऐसी स्थिति में ईश्वर और जीव दो तत्त्व अलग-अलग दिखाई पड़ते हैं। दो तत्त्वों में विश्वास की मान्यता ही द्वैतवाद के नाम से प्रख्यात है। इस मत के प्रतिपादक माधुवाचार्य ने मुण्डकोपनिषद् का उद्धरण देते हुए इस तथ्य को स्पष्ट किया है— द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते । तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वृत्यनश्वन्नन्यो अभिचाकशीति (मुण्डक० ३.१.१) अर्थात् शरीर रूपी वृक्ष में ईश्वर और जीव दोनों ही मित्रतापूर्वक निवास करते हैं। दोनों में अन्तर मात्र इतना है कि जीव रूपी पक्षी शरीर रूपी वृक्ष के सुस्वादु फलों का रसास्वादन करता है और ईश्वर रूपी पक्षी उसका भोग न करके मात्र द्रष्टा बनकर देखता रहता है। वस्तुतः ब्रह्म एक ही है; किन्तु समस्त प्राणियों और पदार्थों में विद्यमान है। अन्तर्यामी होने के कारण सभी में अवस्थित होकर साक्षी रूप में उनके व्यवहार का द्रष्टा बना रहता है। इस तथ्य को श्वेताश्वतरोपनिषद् में इस प्रकार स्पष्ट किया गया है—एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा । कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च (श्वेता० ६.११)। तात्पर्य यह है कि समस्त भूतों का निर्माण करके वह ब्रह्म उन सभी में प्रवेश कर गया है। वह सभी में व्याप्त है तथा उनके अन्तःकरण में विराजमान है, वह सभी के कर्मों का साक्षी है, उनका फल देने वाला है; किन्तु स्वयं निर्गुण है। अद्वैत वेदान्त की मान्यतानुसार ईश्वर, ब्रह्म और जीव में कोई भेद नहीं है; यदि भेद परिलक्षित भी होता है, तो वह औपाधिक है— जीवो ब्रह्मैव नापरः। आचार्य शंकर का मत है कि ब्रह्म माया की उपाधि से युक्त होकर जीव स्वरूप धारण कर लेता है और शरीर रूपी पञ्जर में बैंध जाता है। मनुष्य में कर्तृत्व और भोक्तृत्व की कल्पना अभ्यासवश होती है। मुण्डकोपनिषद् में उल्लेख है कि जिस प्रकार आग में से निकलने वाली चिनगारियों और आग में अभेद है, उसी प्रकार ब्रह्म और जीव में अभेद है। यही अद्वैतवाद का सिद्धान्त है। महोपनिषद् में अद्वैत शक्ति का निरूपण करते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है कि परब्रह्म से सम्बद्ध होने के कारण अद्वैत शक्ति ही (उपाधि के कारण) द्वैत दिखाई देती है और अद्वैत द्वारा प्रकट पदार्थ से विश्व निर्माण की माया (लीला) करती हुई अग्रगमन करती है—द्वैताद्वैतसमुद्भूतैर्जग्निर्माणलीलया । परमात्ममयी शक्तिरद्वैतैव विजृम्भते (महो० ६.६२)। यज्ञोपवीत प्रकरण में उसके स्वरूप के तत्त्विक विवेचन के क्रम में ब्रह्मग्रन्थि को अद्वैत ग्रन्थि कहा गया है; क्योंकि जिस प्रकार जीव और ब्रह्म मिल जाने पर दोनों एक ही हैं, उसी प्रकार दोनों ओर से आये हुए धागों में जब ब्रह्मग्रन्थि लगाई जाती है, तब उनका द्वित्व समाप्त हो जाता है और वे एक हो जाते हैं, इसीलिए उस ग्रन्थि को अद्वैत (ब्रह्म) ग्रन्थि कहते हैं। पाशुपतब्रह्मोपनिषद् में यह तथ्य इन शब्दों में निर्दिष्ट है—षष्ठणवतितत्त्वचिद्ग्रन्थिवस्थनम् अद्वैतग्रन्थिः (पा०ब्र०प० का० १४)। ब्रह्मयोगी ने अपने भाष्य में इसे और स्पष्ट किया है.....तदैक्यग्रन्थे: तदैभेदग्रासत्वात् अद्वैतग्रन्थिः अद्वैतीयपरमात्मा भवतीत्यर्थः। यथा यज्ञसूत्रब्रह्मग्रन्थिः तदैक्यहेतुः तथा अत्रापीत्यर्थः (पा०ब्र०प०का० १४ ब्र०भा०)।

१४. **अधिदेवता**— भारतीय संस्कृत में तीनीस कोटि देवताओं की मान्यता है। जिसके अनुसार प्रत्येक स्थान, वस्तु, कुल के पृथक्-पृथक् अधिष्ठाता देवता होते हैं। जैसे— ग्राम देवता, कुल देवता, वन देवता, जल देवता, वास्तु देवता आदि।

यों तो सभी में परब्रह्म की चेतना ही सर्वत्र संव्याप्त है, उससे अलग कुछ भी नहीं है; किन्तु उस परब्रह्म की विभिन्न शक्ति धाराएँ हैं, जो देवता कहलाती हैं। शरीर में विद्यमान विभिन्न इन्द्रियों के भी पृथक्-पृथक् अधिष्ठाता देवता होते हैं। जैसे- श्रोत्रेन्द्रिय के देवता दिशाएँ, त्वचा के देवता वायु, चक्षु के अधिष्ठाता देवता सूर्य, रसना के वरुण, नासिका के देवता अश्विनीकुमार, वाणी के अग्नि, हथों के इन्द्र, पादों के उपेन्द्र, चित्त के देवता मित्र, उपस्थेन्द्रिय के देवता प्रजापति तथा मन के देवता चन्द्र कहलाते हैं। अक्षमालिकोपनिषद् में प्रजापति द्वारा गुह से अक्षों (मोती, माणिक, रुद्राक्ष आदि) के विषय में विभिन्न प्रश्नों के क्रम में अक्षों के अधिदेवता (अधिष्ठाता-देवता) के सम्बन्ध में भी पूछे जाने का उल्लेख है-अथ प्रजापतिर्गुहं पप्रच्छ-भो भगवन् का प्रतिष्ठा कैषाऽधिदेवता किं फलं चेति (अक्ष० १)।

१५. अध्यास— द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।

१६. अध्वर्यु—द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।

१७. अनन्ता—द्र०-अजा-अनजा-अज्ञेया।

१८. अनासक्त—किसी विषय अथवा वस्तु विशेष में अनुरक्ति या अत्यधिक लगाव हो जाने को आसक्ति कहते हैं। हिं०विं०को० खं० २ पृ० ७३६ के अनुसार आसक्ति शब्द अन्य विषय को छोड़कर किसी एक ही विषय का अवलम्बन लेना अथवा उससे लगाव रखना है। इसे असङ्ग भी कहते हैं। आसक्ति के 'पथ स्थापन' और 'अभिप्राय पूर्वक' दो अन्य अर्थ भी होते हैं; किन्तु अधिकतर इस शब्द का उपयोग 'लगाव' के अर्थ में ही होता है। आसक्त और अनासक्त शब्द इसी आसक्ति शब्द से जन्मे हैं। जो व्यक्ति किसी विषय अथवा वस्तु के प्रति अत्यधिक अनुरक्त है, वह आसक्त और जो किसी विषय या वस्तु विशेष में अनुरक्त या आसक्त न होकर केवल उसके प्रति अपने कर्तव्य का पालन करता है, उसे अनासक्त कहते हैं। साधक को अनासक्त होना अनिवार्य है; क्योंकि आसक्ति ही बन्धन में डालती है। निम्न स्थिति से उच्च स्थिति तक जाने के प्रगति पथ में पूर्व स्थिति के प्रति आसक्ति ही बाधक बनती है। भावी जन्म के निर्धारण में भी पूर्व जन्म में रही अमुक वस्तुओं, व्यक्तियों, स्थितियों के प्रति आसक्ति ही कारण बनती है। हिरन के प्रति आसक्ति ही जड़ भरत के हरिणशावक के रूप में जन्म का कारण बनी थी। आसक्ति श्रेष्ठ और निकृष्ट दोनों ही कर्म, स्थितियों आदि के प्रति हो सकती है। यदि श्रेष्ठ स्थिति के प्रति आसक्ति रही है, तो भावी जन्म उसी स्थिति के घर में होता है और वर्ही से अनुकूल वातावरण प्राप्त कर आगे की यात्रा तय होती है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी इस तथ्य को स्वीकार किया गया है-तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्। यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन (गी०६.४३)। मुक्ति अथवा मोक्ष प्राप्ति के इच्छुक साधकों को तो अनासक्त रहने का ही परामर्श उपनिषदों में दिया गया है। जीवित रहते ही कई व्यक्तियों को मुक्ति मिल जाती है, ऐसे लोगों को जीवन्मुक्त कहते हैं। महोपनिषद् में उल्लेख है कि जो सुख-दुःख आदि से न हर्षित होता है और न ग्लानि करता है, वह अनासक्त पुरुष जीवन्मुक्त कहलाता है- आपतत्सु यथाकालं सुख-दुःखेष्वनारतः। न हृष्यति ग्लायति यः स जीवन्मुक्त उच्यते (महो० २.४३)।

१९. अनास्था—किसी वस्तु, व्यक्ति और सिद्धान्त आदि के प्रति श्रद्धा ही आस्था कहलाती है। किसी के प्रति यदि इस आस्था का अभाव हो, तो इसे अनास्था कहेंगे। कोश ग्रन्थों में तो इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार निर्दिष्ट है-नास्ति आस्था यस्य (हिं०विं०को०) अर्थात् अनादर, अपमान, बेइज्जती, सम्मान का न होना आदि; किन्तु विशेषतया अनास्था शब्द का उपयोग ईश्वर, धर्म, कर्मफल, उच्च सिद्धान्तों आदि पर विश्वास न होने के अर्थ में ही किया जाता है। इसी कारण आज धर्म-अध्यात्म, ईश्वर से विश्वास उठ जाने को अनास्था का प्रभाव अथवा आस्था संकट कहा जाता है। यदि कहीं आस्था (विश्वास) दीखती भी है, तो वह विकृत रूप में। जैसे-भगवान् की पूजा-पत्री में, अपनी इच्छा पूर्ति करवाने की शर्त पर कुछ फल, मिठाइयाँ, वस्त्रादि चढ़ा देना, संतान प्राप्ति के लिए देवी के समक्ष किसी बालक या पशु की बलि चढ़ा देना आदि। यही आस्था यदि उच्च उद्देश्यों के प्रति, ईश्वर के प्रति-समर्पित हो, तो इसे सही अर्थों में आस्था और जिसके अन्दर वह होगी, उसे आस्तिक माना जायेगा। अश्युपनिषद् में योग की विभिन्न भूमिकाओं के वर्णन में असंसर्ग भूमिका का लक्षण बताते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है कि शास्त्रार्थ समझ लेने के उपरान्त समस्त भोग पदार्थों में अनास्था हो जाती है (अतः वे व्यर्थ प्रतीत होते हैं) और उनके प्रति अभाव की भावना उत्पन्न हो जाती है। इसे सामान्य प्रकार का जाती है (अतः वे व्यर्थ प्रतीत होते हैं) और उनके प्रति अभाव की भावना उत्पन्न हो जाती है। इसे सामान्य प्रकार का जाती है-कालश कलनोद्युक्तः सर्वभावाननारतम्। अनास्थयेति भावानां यद्भावनमानन्तरम् (अस्ति० २३-२४)। इस प्रकार व्यावहारिक अर्थ में किसी के प्रति श्रद्धा-विश्वास का न होना और उसके प्रति नकारात्मक दृष्टिकोण होना अनास्था कहलाता है।

२०. अनाहतनाद—द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।
२१. अनाहतशब्द—द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड-अनाहत नाद।
२२. अनुयाज—याग, याज और यज्ञ समानार्थक शब्द हैं। सामान्यतः विशिष्ट प्रयोजनों के लिए किए जाने वाले विराट् यज्ञ कई चरणों में सम्पत्र किये जाते हैं। इन यज्ञों के प्रथम चरण में किये जाने वाले क्रिया-कलापों को प्रयाज (अर्थात् यज्ञ के पूर्व की तैयारियाँ) कहते हैं। यज्ञीय कर्मकाण्ड को याज और यज्ञ के पश्चात् के क्रिया-कलापों को अनुयाज कहते हैं। याज शब्द में पूर्व वाची प्र उपसर्ग और पश्चात् वाची अनु उपसर्ग लगाने से प्रयाज और अनुयाज शब्द बनते हैं, जो मुख्य यज्ञीय कर्मकाण्ड के पूर्व व पश्चात् वर्ती कार्यों का बोध कराते हैं। प्रख्यात कोश ग्रन्थ हिन्दुविद्योक्तो खं० १४, पृ० ६२० में प्रयाज शब्द दर्श पौर्णमास यज्ञ के अन्तर्गत एक अङ्ग-यज्ञ निरूपित किया गया है। इसी कोशग्रन्थ में अनुयाज इन शब्दों में परिभाषित है— अनुप्रधानात् पश्चाद् इन्यते; अर्थात् दर्शपौर्णमास यज्ञ वाले प्रधान अङ्ग के पीछे का अङ्ग, याग का अवशिष्ट अङ्ग। ऐतरेय ब्राह्मण २.१८ में अनुयाज का अर्थ देवता विशेष लिया गया है, इसके ग्यारह-ग्यारह देवताओं को अनुयाज माना गया है, इसी प्रकार याज (उपयाज) और प्रयाज के भी ग्यारह-ग्यारह देवता होते हैं— एकादश प्रयाजा एकादशानुयाजा एकादशोपयाजा एते असोमपाः पशुभाजनाः। निरुक्तकार यास्क के मतानुसार प्रयाज और अनुयाज शब्द अग्नि देवता के बोधक हैं— अथ किं देवताः प्रयाजानुयाजाः। आग्रेया इत्येके। आग्रेया वै प्रयाजा आग्रेया अनुयाजा इति च ब्राह्मणम् (निं० ८.२१)। इस प्रकार प्रयाज और अनुयाज के विभिन्न अर्थ होते हैं; किन्तु प्रचलित अर्थों में प्रयाज और अनुयाज क्रमशः यज्ञ के पूर्व के कृत्य व पश्चात् के कृत्य के रूप में ही जाने जाते हैं। प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् में शरीर यज्ञ के अन्तर्गत यज्ञ के विभिन्न अङ्गों के अतिरिक्त प्रयाज और अनुयाज भी वर्णित हैं— अस्य शारीरयज्ञस्यके प्रयाजाः के अनुयाजाः केढाकिमवभूथमिति (प्रा०हो० २१)। शरीर यज्ञ में कौन प्रयाज व कौन अनुयाज हैं? इस प्रश्न के उत्तर में ऋषि ने पञ्चमहाभूतों को प्रयाज तथा गुणों को अनुयाज कहा है— महाभूतानि प्रयाजाः गुणा अनुयाजाः जिह्वेडा समाहिताः (प्रा०हो० २२)।
२३. अन्तःदृष्टि—द्र०-अन्तर्मुखी वृत्ति।
२४. अन्तर्मुखीवृत्ति—मनुष्य के अन्दर कार्य करने वाली दो वृत्तियाँ प्रमुख हैं, जिनके अनुसार ही व्यक्ति के व्यक्तित्व का निर्धारण होता है। इन्हें अन्तर्मुखी वृत्ति और बहिर्मुखी वृत्ति के नाम से जानते हैं। इनमें अन्तर्मुखी प्रवृत्ति वह है, जिसे अपनाकर साधक अपने को आत्मतत्त्व, निर्विकार जानकर शरीर को मात्र वस्त्र समझकर धारण किए रहता है और समस्त लोक व्यवहार जल में कमल पत्रवत् असङ्ग रहकर सम्पत्र करता हुआ योगी का जीवनव्यापन करता है। गीता में उल्लेख है—ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः। लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाभ्यसा (गी० ५.१०)। श्रीमद्भगवद्गीता में ही भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को उपदेश प्रदान करते हुए अन्तर्मुखी साधक के लक्षण बताते हुए कहा है— योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः। स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति (गी० ५.२४)। जो (अन्तर्मुखी) साधक निश्चित रूप से आत्मा में ही सुख वाला, आत्मा में ही आराम वाला तथा आत्मा में ही ज्ञान वाला है, वह ब्रह्मभूत (सच्चिदानन्द परमात्मा में एकीभाव हुआ) योगी ब्रह्म निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। जीवन के किसी भी क्षेत्र में (आध्यात्मिक अथवा भौतिक) सफलताएँ पाने के लिए अन्तर्मुखी वृत्ति होना आवश्यक है। ध्यान योग की विभिन्न क्रियाओं में दृष्टि को अन्दर भ्रूमध्य अथवा हृदयादि में स्थिर करके—अन्तर्दृष्टि करके ध्यान करना अन्तर्मुखी स्थिति की दिशा में बढ़ने का ही एक चरण है। अद्वयतारकोपनिषद् में साधक द्वारा 'चित्स्वरूप' का भाव रखकर भ्रूमध्य के ऊपर अन्तर्दृष्टि करके ध्यान करना वर्णित है— चित्स्वरूपोऽहमितिवाऽन्तर्दृष्ट्या भूदहरादुपरितद्रूपो भवति (अद्व०ता० २)। रुद्रोपनिषद् में उसी चतुर्वेदज्ञ शिवभक्त को ब्राह्मण कहा गया है, जो अन्तर्मुखी वृत्ति (अर्थात् बाह्य प्रपञ्चों से प्रभावित न होकर आत्मा में ही रमण करने वाला) से युक्त है— चतुर्वेदज्ञोऽपि शिवभक्त्यान्तर्भवतीति स एव ब्राह्मणः (रुद्र० १)। जो बाहरी दुनिया के विषय-भोगों का विनाश करता हुआ, उर्हा में रमा रहता है, उसके लिए आत्मदर्शन व ईश्वर दर्शन असम्भव है। ऐसे व्यक्ति को ही बहिर्मुखी वृत्ति वाला कहते हैं। जिसे आत्मदर्शन व ईश्वर दर्शन करके मुक्ति की प्राप्ति करनी हो, उसे बाहर के विषयों को बाहर ही छोड़कर नेत्रों की दृष्टि को भ्रूमध्य में स्थित करके प्राण और अपान वायु को समान करके जितेन्द्रिय होने का परामर्श गीता में इन शब्दों में निर्दिष्ट है—स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्वशूश्वेवान्तरे भुवोः। प्राणापानौयः सदा मुक्त एव सः (गी० ५.२७-२८)।

२५. अन्तर्वेदिका—द्र०-यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ।

२६. अपराशक्ति—सामान्यतः परा को चेतन और अपरा को जड़ कहा गया है। परमात्मा जिन दो शक्तियों से समूची सुष्टि का निर्माण करता व उसकी व्यवस्था चलाता है, उन्हें ही परा और अपराशक्ति के नाम से जाना जाता है। परा को श्रेष्ठ, सबसे परे, चेतन और उत्तम अर्थ वाला माना जाता है; जबकि अपरा को जड़ और स्थूल अर्थ में लिया जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता के सातवें अध्याय के चौथे और पाँचवें श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण ने अपनी प्रकृति (शक्ति) को आठ भागों में विभक्त बताया है—भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा (गीता० ७.४) अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार इन आठ भागों में विभक्त मेरी प्रकृति है। इस अष्टधा प्रकृति को ही उन्होंने अपरा शक्ति कहा है तथा इससे भिन्न चेतन प्रकृति को परा कहा है, जिससे यह सम्पूर्ण जगत् धारण किया जाता है— अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो यदेद् धार्यते जगत् (गी० ७.५)।

सांख्य दर्शन में प्रकृति और पुरुष को ही समूची सुष्टि का उत्पादक, पालक और संहारक मानते हैं। वहाँ भी प्रकृति को जड़-स्थूल और प्रत्यक्ष दिखाई देने वाली अर्थात् व्यक्त माना है तथा पुरुष को चेतन अनश्वर अव्यक्त माना है। शास्त्रों में अपरा और परा शक्तियों के जो लक्षण हैं, वे ही प्रकृति और पुरुष के भी लक्षण हैं। श्वेताश्वतरोपनिषद् में जगत् (प्रकृति) को नश्वर और चेतना (पुरुष) को अनश्वर मानकर इन्हीं दोनों के संयोग से सुष्टि की उत्पत्ति, पालन आदि का तथ्य वर्णित है—संयुक्तमेतत्कर्मक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वमीशःसर्वपापैः (श्वेता० १.८)। इसी उपनिषद् में आगे प्रकृति को माया (जो नहीं है) कहा गया है। परब्रह्म जिसे मायापति कहा गया है, वही पुरुष है। इन्हीं के संयोग से यह जगत् संयुक्त है—मायां तु प्रकृतिं विद्यामायिनं तं महेश्वरम्। तस्यावयवभूतैस्तु व्याप्तं सर्वमिदं जगत् (श्वेता० ४.१०)। इस प्रकार गायत्री को परा और सावित्री को अपरा कहा गया है। इस प्रकार अपरा-परा, प्रकृति-पुरुष, माया-ईश्वर नाम से परब्रह्म की इन्हीं जड़ और चेतन शक्तियों को जाना जाता है। बहुचोपनिषद् में चित् शक्ति को ही आदि शक्ति अथवा आद्यशक्ति विवेचित कर उसी को समस्त जगत् की कारण स्वरूपा निर्दिष्ट किया गया है। चित्तशक्तिरूपी देवी से ही ब्रह्मा, विष्णु, महेश आदि से लेकर समूची सुष्टि का आविर्भाव हुआ है—देवी होकाग्र आसीत्। सैव जगदण्डमसृजत्।तस्या एव ब्रह्मा अजीजनत्। विष्णुरजीजनत्। रुद्रोऽजीजनत्मनुष्यमजीजनत् (बह्व० १-२)। इस उपनिषद् में इन देवी को ही सबसे प्रारम्भ में उत्पन्न होने के कारण आद्यशक्ति कहा गया है। वेदमाता गायत्री और सीता इसी चित् शक्ति का प्रतिनिधित्व करने के कारण आद्यशक्ति कहलाती हैं। इसी चित् शक्ति को अपराशक्ति कहा गया है— सैषापरा शक्तिः (बह्व०-३)।

२७. असोर्याम—द्र०-अतिरात्र यज्ञ।

२८. अभिषेक—द्र०-यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ।

२९. अमनस्क अवस्था—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड-अमनस्कस्थिति।

३०. अमरत्व—द्र०-ज्ञानखण्ड-अमृत मृत्यु।

३१. अमृत—द्र०- ज्ञानखण्ड-अमृत मृत्यु।

३२. अर्धनारीश्वर—शास्त्रों-पुराणों में स्थितियों व गुणों की दृष्टि से भगवान् शिव के विभिन्न नामों-रूपों का उल्लेख मिलता है। जैसे—अर्धनारीश्वर, नीलकण्ठ, मृत्युञ्जय, पशुपति, विरूपाक्ष और सदाशिव आदि। इनमें अर्धनारीश्वर का रूप बहुत विलक्षण व महिमायुक्त है। पुराणों में वर्णित है कि शक्ति की साधना करते-करते इनका आधा शरीर स्त्री का हो गया था। कारण कि शक्ति से इतना तादात्म्य हो गया कि इनके आधे अंग भी उन्हीं के अनुरूप ढल गये थे। शिव के इस अर्धनारीश्वर स्वरूप का तात्त्विक अर्थ यह है कि ईश्वर के सत्, चित् और आनन्द ये तीन गुण माने जाते हैं, इनमें तीसरा अर्धनारीश्वर स्वरूप का बोधक है अर्थात् सत् और चित् इन दोनों के मिश्रण अर्थात् साम्यावस्था से उत्पन्न जो अक्षुब्ध भाव गुण आनन्द शिव का बोधक है। दूसरी दृष्टि से ईश्वर का सत् स्वरूप मात्रस्वरूप है तथा चित् स्वरूप पिता का स्वरूप है। इन दोनों हैं, वही आनन्द है। दूसरी दृष्टि से ईश्वर का सत् स्वरूप मात्रस्वरूप है तथा चित् स्वरूप पिता का स्वरूप है। माता-पिता दोनों के ही गुण शिव के अर्धनारीश्वर स्वरूपों के मिल जाने से आनन्द स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है। माता-पिता दोनों के ही गुण शिव के अर्धनारीश्वर स्वरूपों में विद्यमान हैं। दूसरे शब्दों में यों भी कह सकते हैं कि शिव और शक्ति (शंकर-पार्वती) एक ही शरीर में विद्यमान हैं, उनके इस स्वरूप का ध्यान जन सामान्य को यह प्रेरणा देता है कि नर के बिना नारी अधूरी है और नारी विद्यमान हैं,

के बिना नर। लौकिक सन्दर्भ में दोनों का परस्पर तालमेल (सामञ्जस्य) ही परिवार में स्वर्गिक परिस्थितियाँ बना सकता है। शिव और शक्ति का समन्वित स्वरूप प्रकृति और पुरुष का प्रतीकात्मक दर्शन है; क्योंकि समूची सुष्टि इन्हीं दोनों से मिलकर बनी है। विभिन्न पुराणों और उपनिषदों में भी शिव के अर्धनारीश्वर रूप की स्तुति की गई है— नमोद्दनारीशहरमसितांगीति नासिकाम्। नम उग्राय लोकेशं लालतात पुनर्भूवौ (म०पु०-६०-२५)। इसी प्रकार ब्रह्मण्डपुराण में भी अर्धनारीश्वर की स्तुति की गई है— नमो दिग्बाससे देव किंकिणीधात्य वै नमः। अर्धनारीशरीराय सांख्योगप्रवर्तिने (ब्र०पु०-२.२७.९८)।

रुद्राक्षजाबालोपनिषद् में रुद्राक्ष धारण करने के क्रम में उनकी महत्ता बताते हुए दो मुख्यी रुद्राक्ष को अर्धनारीश्वर स्वरूप बाले शिव का प्रतीक बताया गया है— द्विवर्वं तु मुनिश्रेष्ठं चार्धनारीश्वरात्मकम्। धारणादर्थनारीशः प्रीयते तस्य नित्यशः (रुद्र०जा० २८)। ध्यातव्य है कि रुद्राक्ष की उत्पत्ति रुद्र (शिव) के नेत्रों से त्रिपुरासुर वध के समय उनकी बन्द आँखों से पतित जल बिन्दुओं से होने के कारण इसका नाम रुद्राक्ष पड़ा है— त्रिपुरवधार्थ तेभ्यो जलबिन्दवो भूमी पतितास्ते रुद्राक्षा जाताः (रुद्र०जा०-२)। शिव का एक नाम नीलकण्ठ भी है। प्रसिद्ध है कि देवों और असुरों के द्वारा हुए समुद्रमन्थन में निकले चौदह रत्नों में एक विष (जहर) भी निकला था। उस विष से समस्त प्राणियों के नष्ट हो जाने की आशंका थी; उसका शमन करने वाला कोई नहीं था, तब उदारता की प्रतिभूति भगवान् शंकर (शिवजी) ने स्वयं उसका पान कर लिया। चूँकि उसे गले से नीचे नहीं जाने दिया, इसलिए उनका कण्ठ नीला पड़ गया और तभी से वे नीलकण्ठ कहे जाने लगे। नीलरुद्रोपनिषद् में नीलकण्ठ भगवान् शिव की स्तुति इन शब्दों में निर्दिष्ट है— अपश्यं त्वावरोहनं दिवितः पृथिवीमवः। अपश्यं रुद्रमस्यन्तं नीलग्रीवं शिखण्डिनम् (नी०रुद्र० १.१)। शिव को जगत् के संहारकर्ता के साथ ही मृत्युज्य भी कहा जाता है। अभिप्राय यह है, कि उन्होंने मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ली थी, इसीलिए उन्हें मृत्युज्य कहते हैं। अक्षमालिकोपनिषद् में अक्ष (रुद्राक्ष) माला को धारण करने के क्रम में उसकी स्तुति करते हुए रुद्र से सम्बद्ध होने के कारण उसे भी मृत्युनाशिनी तथा मृत्युज्य स्वरूपिणी उपन्यस्त किया गया है—

विश्वामृत्यो मृत्युज्यस्वरूपिणि वासयसि (अक्ष० १५)। निरन्तर लोक कल्याण में प्रवृत्त रहने के कारण शिव को सदाशिव भी कहते हैं। कालाग्निरुद्रोपनिषद् में त्रिपुण्ड धारण विधि के सन्दर्भ में त्रिपुण्ड की तीनों रेखाओं में द्वितीय रेखा को सदाशिव स्वरूप वाली निरूपित किया गया है— याऽस्य द्वितीया रेखा सदाशिवो देवतेति (का० रुद्र०-७)। समस्त पशुओं (प्राणियों) के स्वामी होने के कारण शिव को पशुपति नाम से भी अलंकृत किया गया है। इसके दो कारण हैं— प्रथम यह कि जो सबको अविशेष रूप में देखते हैं, उन्हें भी पशु कहा जा सकता है। इस प्रकार ब्रह्मा से स्थावर पर्यन्त समस्त पशु ही हैं, शिव सबके ज्ञान प्रदाता व अज्ञान से रक्षा करने वाले हैं, इसलिए उन्हें पशुपति कहते हैं— ब्रह्माद्याः स्थावरान्ताश्च पशवः परिकीर्तिः। तेषाम्पतिर्महादेवः स्मृतः पशुपतिः श्रुतौ (शि०क०प०२४०, संस्क० संवत० २०५२)। द्वितीय कारण यह है कि त्रिपुरासुर वध के उपरान्त समस्त देवगण शिव की पशुता (अधीनता) को प्राप्त हो गये थे, इसलिए उनके स्वामी होने के कारण उन्हें पशुपति अभिधान दिया गया है— यो लीलयैव त्रिपुरं ददाह सर्वे देवाः पशुतामवापुः स्वयं तस्मात् पशुपतिर्बूबूव (सरभ० १४)। त्रिनेत्र होने के कारण शिव विषम नेत्रों वाले हो गये थे, इसलिए उन्हें विरूपाक्ष भी कहते हैं। रुद्र और विष्णु ऐक्य के वर्णन में रुद्रहृदयोपनिषद् में शिव (रुद्र) को विरूपाक्ष निरूपित किया गया है— ये द्विषन्ति विरूपाक्षां ते द्विषन्ति जनार्दनम्। प्राणतत्त्व से पहचाने जाने के कारण शिव को प्राणलिङ्गी भी कहते हैं। तस्मात्प्राणलिङ्गी शिवः। शिव एव प्राणलिङ्गी (रुद्र० २)। इनके अतिरिक्त शिव के त्रिनेत्र, कृतिवासा, पंचवक्त्र, शितकण्ठ, खण्डपरश, प्रमथाधिप, गङ्गाधर, महेश्वर, पितामह, संसार-वैद्य, सर्वज्ञ, परमात्मा, कपाली और भूतनाथ आदि और भी अनेक नाम हैं (रुद्रह०-६)।

३३. अवभूतस्तान—द्र०-यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ।

३४. अवेदन—द्र०-असंसक्ति।

३५. अष्टदल कमल—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

३६. अष्टधाप्रकृति—द्र०-अपराशक्ति।

३७. अष्टसिद्धि—साधना से सिद्धि का सिद्धान्त सर्व विदित है। योग शास्त्रों में विभिन्न प्रकार की साधनाओं का वर्णन मिलता है। यम-नियम, आसन, प्राणायाम, बन्ध, मुद्रा, जप, ध्यान आदि की साधनाओं के द्वारा जो विभिन्न प्रकार की

शक्तियाँ प्राप्त होती हैं, उन्हें ही सिद्धियाँ कहते हैं। इन्हें प्राप्त कर लेने वाले सिद्ध कहलाते हैं। सिद्धियाँ अनेक प्रकार की होती हैं, जिनमें आठ सिद्धियाँ प्रमुख हैं, इन्हें-अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व और वशित्व के नाम से जाना जाता है। अणिमा सिद्धि के द्वारा शरीर को अणु की तरह सूक्ष्म कर लिया जाता है। महिमा सिद्धि से शरीर बहुत विशाल आकार का बनाया जा सकता है। गरिमा सिद्धि से शरीर को आवश्यकतानुसार भारी किया जा सकता है और लघिमा से शरीर को हल्का किया जा सकता है। प्राप्ति सिद्धि से दूरस्थ पदार्थों को स्पर्श अथवा उन्हें प्राप्त भी किया जा सकता है। प्राकाम्य सिद्धि द्वारा इच्छित कामनाओं की पूर्ति हो जाती है। ईशित्व सिद्धि प्राप्त सिद्धजन शरीर और मन के अन्दर संस्थानों और चक्रों पर पूर्ण प्रभुत्व प्राप्त करके संसार के पदार्थों को अपनी इच्छा से प्रयोग कर सकने में समर्थ हो जाते हैं। इसी प्रकार वशित्व सिद्धि से समस्त परिस्थितियों अथवा वस्तु-पदार्थों को अपने वश में कर लिया जाता है। योग दर्शन में जिन अष्ट सिद्धियों का उल्लेख है, उनमें गरिमा सिद्धि का उल्लेख नहीं है वरन् एक अन्य सिद्धि यत्र कामावसायित्व का वर्णन है, शेष उपर्युक्त ही है। यत्र कामावसायित्व सिद्धि का अर्थ है, वह सिद्धि जिसके द्वारा सिद्ध योगी का प्रत्येक सङ्कल्प पूर्ण हो जाता है अर्थात् उसके सङ्कल्प के अनुसार ही भूत पदार्थों के स्वभाव में परिवर्तन हो जाता है। जैसे- योगी यदि सङ्कल्प कर ले तो वह अमृत के स्थान पर किसी को विषपान कराकर भी जीवन प्रदान कर सकता है। इस प्रक्रिया में योगी के सङ्कल्प से प्रभावित होकर विष के परमाणु अमृत के परमाणुओं में बदल जाते हैं। यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि योगियों के सङ्कल्प सदैव जनहित में ही होते हैं अर्थात् सांख्य दर्शन में अष्ट सिद्धियाँ अन्य प्रकार से विवेचित हैं, जिनके सम्बन्ध में यह श्रोक द्रष्टव्य है-ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविधातास्त्रयः सुहृत्प्राप्तिः। दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽकुशस्त्रिविधः (सां०का० ५९) अर्थात् ऊह, शब्द, अध्ययन, तीन दुःख विधात, मित्र प्राप्ति और दान ये आठ सिद्धियाँ हैं। इनमें पूर्वजन्मों के संचित संस्कारों द्वारा स्वयमेव सृष्टि का अवलोकन करके नित्य-अनित्य, जड़-चेतन निर्णय से चौबीस तत्त्वों का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर लेना ऊह सिद्धि कहलाती है। विवेकशील गुरु से सदुपदेश की प्राप्ति शब्द सिद्धि कहलाती है। वेद शास्त्रों के स्वाध्याय से ज्ञान की प्राप्ति को अध्ययन सिद्धि कहते हैं। अज्ञान निवारण हेतु सतत भ्रमणशील सिद्धजनों में से किसी कृपालु द्वारा ज्ञान प्राप्ति सुहृत्प्राप्ति सिद्धि के नाम से जानी जाती है। तीन दुःख विधात सिद्धि (दुःखत्रय विधात सिद्धि) अर्थात् आध्यात्मिक दुःख विधात (सभी प्रकार के आध्यात्मिक दुःखों का मिट जाना) सिद्धि, आधिभौतिक दुःख विधात (समस्त आधिभौतिक दुःखों का विनष्ट हो जाना) सिद्धि और आधिदैविक दुःख विधात (सभी आधिदैविक दुःखों का नष्ट हो जाना) सिद्धि। इन सभी से दैहिक, दैविक और भौतिक समस्त दुःख समाप्त हो जाते हैं। अन्तिम सिद्धि दानसिद्धि है। लोक कल्याण के कार्यों में निरत रहने वाले योगियों की भोजन आदि की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु दान करके उनसे (योगियों से) ज्ञान लाभ करना दानसिद्धि कहलाती है। गीता १७, २०, २१, २२ में सात्त्विक, राजस और तामस तीन प्रकार के दानों का विस्तृत वर्णन किया गया है। इनमें सात्त्विक दान श्रेष्ठ है, क्योंकि यह दाता और गृहीता दोनों को सात्त्विक लाभ प्रदान करता है। कुछ ग्रन्थों में अष्ट सिद्धियाँ इस प्रकार वर्णित हैं- १. आत्मसिद्धि २. विविधा सिद्धि ३. ज्ञानसिद्धि ४. तपसिद्धि ५. क्षेत्र सिद्धि, ६. देव सिद्धि ७. शरीर सिद्धि ८. विक्रिया सिद्धि। शङ्कराचार्य जी ने अन्य ढंग से अष्टसिद्धियाँ मानी हैं जो इस प्रकार हैं- १. जन्मसिद्धि—अर्थात् जन्म से ही (पूर्व प्रारब्धवश) श्रेष्ठ संस्कार तथा वैभव प्राप्त होना। २. शब्दज्ञान सिद्धि-किसी विषय में मात्र सुनकर ही वस्तुस्थिति का आभास हो जाना। ३. शास्त्रज्ञान सिद्धि- शास्त्राध्ययन से असामान्य बुद्धि का विकास। ४. आधिभौतिक ताप सहनशक्ति-भौतिक कष्ट सहने की सामर्थ्य। ५. आध्यात्मिक ताप सहनशक्ति-आत्मिक (आन्तरिक-मानसिक) कष्ट सहिष्णुता। ६. आधिदैविक ताप सहनशक्ति-दैवी आपदाओं को सहने की सामर्थ्य। ७. विज्ञान सिद्धि-अर्थात् अन्तःकरण से तात्त्विक ज्ञान की स्फुरण होना। ८. विद्या सिद्धि-विद्या से अविद्या के विनाश की सिद्धि।

अन्य ग्रन्थों में अष्ट सिद्धियाँ ये मानी गई हैं- १. परकाया प्रवेश २. जल आदि में असङ्ग होना ३. उत्क्रान्ति ४. ज्वलन (स्थूल रूप से जल जाने पर भी अन्दर से अग्नि का दाह अनुभव न करना) ५. दिव्य श्रवण (दिव्य आवाजों, आकाशवाणी आदि को सुन लेने की शक्ति) ६. आकाश मार्ग गमन ७. प्रकाशवरणक्षय और ८. भूतजय। इस प्रकार अकाशवाणी आदि को सुन लेने की शक्ति) ६. आकाश मार्ग गमन ७. प्रकाशवरणक्षय और ८. भूतजय। इस प्रकार अकाशवाणी आदि को सुन लेने की शक्ति) ६. आकाश मार्ग गमन ७. प्रकाशवरणक्षय और ८. भूतजय। इस प्रकार विभिन्न विद्वानों के मतों में अष्ट सिद्धियों के कई वर्ग हैं, पर सर्वाधिक प्रछात प्रारम्भ में वर्णित अणिमा, गरिमादि अष्ट सिद्धियाँ ही हैं। अक्षमालिकोपनिषद् में अक्ष (रुद्राक्ष) में विभिन्न शक्तियों को प्रतिष्ठित करने के सन्दर्भ में विभिन्न बीज सन्त्रों का उल्लेख करते हुए 'फं' कार को अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों का प्रदाता तथा प्रकाशस्वरूप बताते हुए उससे मन्त्रों का उल्लेख करते हुए 'फं' कार को अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों की प्रार्थना की गई है- ३० फंकाराणिमादिसिद्धप्रद ज्योतीरुपाष्ट्रिंशोऽक्षे प्रतितिष्ठ अड़तीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित होने की प्रार्थना की गई है-

(अक्ष०५)। इसी प्रकार यं कार को समस्त सिद्धियों का प्रदाता मानकर उससे इकतीसवें अक्ष में प्रतिष्ठित होने की प्रार्थना की गई है- ३० यंकार सर्वसिद्धिप्रद मोहकरैकत्रिंशोऽक्षे प्रतितिष्ठ (अक्ष० ५)। इस प्रकार जीवन साधना के प्रतिफल स्वरूप अनेक सिद्धियाँ हस्तगत होती रहती हैं, पर उनका उपयोग लोकमंगल और लोकहित में ही होना उचित है। आत्मप्रदर्शन अथवा किसी का अनिष्ट करने के लिए इनका दुरुपयोग करना शास्त्र विरुद्ध और निषिद्ध है। यदि ये सिद्धियाँ किसी को साधना के परिणाम स्वरूप मिल भी जाती हैं, तो भी उद्देश्य सच्चा न देखकर लुप्त हो जाती हैं अथवा प्रभावहीन हो जाती हैं।

३८. अष्टादशाक्षर मन्त्र—द्र०कामबीज।

३९. **असंसक्ति**—उपनिषदों में योग, ध्यान, प्राणायाम आदि विषयों का सविस्तार वर्णन है। इसी क्रम में अक्ष्युपनिषद् तथा महोपनिषद् में योग की सात भूमिकाएँ उपन्यस्त हैं, जिनके अन्तर्गत एक भूमिका असंसक्ति भी है। महोपनिषद् के अनुसार ये सात भूमिकायें इस प्रकार हैं- १. शुभेच्छा २. विचारणा ३. तनुमानसी ४. सत्त्वापत्ति ५. असंसक्ति ६. पदार्थ भावना ७. तुर्यगा। इनमें प्रथम भूमिका शुभेच्छा उस स्थिति को कहते हैं, जब वैराग्य धारण करने से पूर्व सांसारिक मायाजाल के प्रति ग्लानि का भाव उत्पन्न होकर शास्त्रादि के प्रति जिज्ञासा तथा श्रेष्ठ कर्म करने की इच्छा उत्पन्न होती है। द्वितीय भूमिका-विचारणा वह है, जिसमें सत्संग शास्त्राध्ययनादि द्वारा अभ्यास वैराग्य से युक्त होकर श्रेष्ठाचारण करने की प्रवृत्ति प्रादुर्भूत होती है। इस भूमिका के सम्बन्ध हो चुकने पर जब विषयों के प्रति अनुराग क्षीण हो जाता है, तब वह तीसरी भूमिका-तनुमानसी कहलाती है। इन तीनों भूमिकाओं के निरन्तर अभ्यास से वैराग्य प्रबल होकर, चित्त के शुद्ध-सत्त्व स्वरूप में स्थित होने को ही चौथी भूमिका-सत्त्वापत्ति कहते हैं। इन भूमिकाओं के अभ्यास से असंसर्ग कला(विषयों के प्रति असङ्ग भाव या अनासक्ति)सत्त्वारूढ़(ईश्वर तत्त्व के संसर्ग को प्राप्त)होती है, वहीं पाँचवीं भूमिका-'असंसक्ति' के नाम से प्रख्यात है- दशाचतुष्ट्याभ्यासादसंसर्गकला तु या। रूढसत्त्वचमत्कारा प्रोक्ताऽसंसक्तिनामिका (महो० ५. ३१)। उपर्युक्त पाँचों भूमिकाओं को पार करते-करते आत्मा में निरन्तर रमण होने लगता है, जिसके कारण बाह्य पदार्थ भावना बिनष्ट हो जाती है(अर्थात् आत्मा के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है, ऐसा भाव विकसित हो जाता है), इसी भूमिका को पदार्थ भावना कहते हैं। इन सबके पश्चात् अन्तिम भूमिका तुर्यगा आती है, जिसमें साधक की भेदबुद्धि समाप्त प्राय हो जाती है और वह आत्मभाव में एकनिष्ठ हो जाता है। ऐसे जीवन्मुक्त साधक को ही यह स्थिति प्राप्त होती है। इन सातों भूमिकाओं के बाद ही विदेहमुक्ति वाली तुर्यातीत स्थिति आती है। इन्हीं सातों भूमिकाओं से मिलती-जुलती योग की सात भूमिकाएँ अक्ष्युपनिषद् में वर्णित हैं; किन्तु स्थिति में कुछ अन्तर होने से उनके नाम कुछ परिवर्तित हैं। ये भूमिकाएँ-१. अवेदन २. विचार ३. असंसर्ग ४. स्वप्र ५. सुषुप्तपद ६. तुर्या ७. विदेह मुक्ति। इनमें प्रथम अवेदन भूमिका जिसे योग की प्रारम्भिक स्थिति भी कह सकते हैं, इस प्रकार है- इनमें साधक दिनानुदिन वासनात्मक चिन्तन से दूर होता जाता है और निरन्तर पारमार्थिक कार्यों में संलग्न होकर हर्षित रहता हुआ किसी की अश्रील चेष्टाओं से घृणा करते हुए किसी के समक्ष प्रकट नहीं करता। पाप से भयभीत रहकर भोग साधनों की आकांक्षा त्याग देता है। सबके प्रति मधुर व्यवहार रखते हुए स्वाध्याय और सत्संग करते हुए सतत भवसागर (संसाररूपी समुद्र) से पार जाने की अभिलाषा संजोये रहता है। दूसरी भूमिका विचार कहलाती है। इस भूमिका से युक्त साधक उन श्रेष्ठ विद्युज्ञानों का आश्रय ग्रहण करता है, जो श्रुति, स्मृति, सदाचार, धारणा और ध्यानादि की तर्कसंगत व्याख्या के लिए प्रख्यात हों। वह शास्त्रों में पारंगत, कर्तव्य-अकर्तव्य के निर्णय में कुशल, शास्त्र, गुरु और सत्पुरुषों के सेवा-सहयोग से गूढ़ रहस्य युक्त ज्ञान को पुरुषार्थ द्वारा प्राप्त कर लेता है। इसके बाद तीसरी भूमिका असंसर्ग प्रारम्भ होती है। इनमें साधक शास्त्र अभिमतों में अपनी बुद्धि को स्थिर करके तपस्त्रियों के आश्रम में निवास करता हुआ, अध्यात्म शास्त्रों का स्वाध्याय करता हुआ, कठोर भूमि पर शयन करता हुआ आयु व्यतीत करता है। विषयोपभोग आसक्ति से नहीं सहज रूप में करता है अर्थात् उनका संसर्ग करते हुए भी उनके प्रति असंसर्गवान् रहता है। असंसर्ग भी दो प्रकार का है अ. सामान्य ब. श्रेष्ठ। सामान्य असंसर्ग की भूमिका में स्थित साधक अपने को कर्ता, भोक्ता, बाध्य, बाधक कुछ भी न मानकर सब कुछ कर्माधीन और ईश्वराधीन जानकर विषयों के प्रति अनासक्त रहता है। श्रेष्ठ असंसर्ग की भूमिका में स्थित साधक अपने को अकर्ता, ईश्वर और पूर्वकृत अपने कर्मों का ही कर्ता मानता हुआ शब्द और अर्थ के भालों को विसर्जित करके मौन (मन और इन्द्रियों को नियंत्रित करना), आसन (अन्तर में स्थित होना) और शान्त भाव (बाह्यभावों के विस्मरण) को प्राप्त कर लेता है- नाहं कर्तृश्वरः कर्ता कर्म वा प्राक्तनं मम। कृत्वा दूरतरे नूनमिति शब्दार्थभावनम्। यन्मौनमासनं

शान्तं तच्छेष्टासङ्गं उच्यते (अक्षि० २.२५-२६)। संक्षेप में इस तीसरी भूमिका में साधक अद्वैतभाव की गहनता से द्वैत भाव को समाप्त कर देता है और चौथी भूमिका 'स्वप्र' में पहुँचकर जगत् को स्वप्रवत् देखने लगता है। पंचम भूमिका सुपुसपद में साधक का चित्त विलीन हो जाता है, तब मात्र सत्त्व ही शेष बचता है, जिससे सांसारिक विकल्प उठने बन्द हो जाते हैं, जिससे अद्वैत स्थिति में आत्मबोध से हर्षित साधक सुपुसधन (आनन्दप्रद अवस्था) प्राप्त कर लेता है। इस स्थिति में वह बाह्य व्यवहार करते हुए भी अन्तर्मुखी रहता है। इसके पश्चात् साधक छठी भूमिका तुर्णी में प्रवेश करता है, जिसमें सत्-असत्, अहंकार-अनहंकार, कुछ भी नहीं रहता। वह पूर्ण अद्वैत स्थिति में मनन वृत्ति से रहित होकर एकदम निर्भय हो जाता है, उसके समस्त संशय मिट जाते हैं। जीवित रहते हुए भी वह जीवन्मुक्त की स्थिति में रहकर भावशून्यता(भावरहित स्थिति)प्राप्त कर लेता है। सातवीं भूमिका विदेह मुक्ति की स्थिति है। इसमें उसके समस्त प्रारब्ध समाप्तप्राय हो जाते हैं, देह का समापन हो जाता है और वह ब्रह्म में विलीन हो जाता है। उस समय वह ब्रह्मभूत होकर परम शान्ति, ब्रह्मानन्द की अनुभूति करता हुआ पूर्ण पवित्रता एवं शून्यता को प्राप्त कर लेता है। तेजोबिन्दुपनिषद् ४.३३ में यह तथ्य इन शब्दों में निर्दिष्ट है— ब्रह्मभूतः प्रशान्तात्मा ब्रह्मानन्दमयः सुखी। स्वच्छरूपो महामौनी वैदेही मुक्त एव सः ॥ अक्ष्युपनिषद् २.४०-४८ में विदेहमुक्ति भूमिका का विस्तृत वर्णन है, जिसमें भी उपर्युक्त तथ्य ही प्रतिपादित है— विदेहमुक्तताऽत्रोक्ता सप्तमी योगभूमिका ।..... प्रज्ञानघनमानन्दं ब्रह्मास्मीति विभावयेत् ॥ इस प्रकार महोपनिषद् व अक्ष्युपनिषद् में योग की जो सात भूमिकाएँ पृथक्-पृथक् नामों से उपन्यस्त हैं, उनकी स्थिति व क्रम में भले ही कुछ अन्तर हो; पर वस्तुतः प्रारम्भ से लेकर अन्त तक की योग की सभी स्थितियाँ उनमें समाहित हो जाती हैं।

४०. असंसर्ग—द्र०- असंसक्ति ।

४१. असङ्ग—द्र०-असंसक्ति ।

४२. आकाश—द्र०-ज्ञानखण्ड ।

४३. आचार्य—हिन्दी विश्वकोश के अनुसार आचार्य शब्द की व्युत्पत्ति आचर-प्यत् से मानी गई है, जिसके कई अर्थ हैं।

प्रथमतः गुरु, मुरशद या उस्ताद को आचार्य कहा गया है। महाराज मनु के अनुसार जो द्विज (ब्राह्मण) शिष्य का यज्ञोपवीत संस्कार करके उसे वेदाङ्गों सहित सरहस्य (उपनिषद् सहित) वेद पढ़ाता है, उसे ही आचार्य कहते हैं— उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेदद्विजः। सांगं च सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते (मनु० २.१४०)। द्व्योपनिषद् में आचार्य शब्द इस प्रकार उपन्यस्त है— आचिनोति हि शास्त्रार्थानाचारस्थापनादपि। स्वयमाचरते यस्तु तस्मादाचार्य उच्यते (द्व्यो०३) अर्थात् जो शास्त्र के अर्थों को चुनकर उनकी स्थापना हेतु स्वयं भी (शास्त्रों का) आचरण करता है, उसे आचार्य अथवा गुरु कहते हैं। किसी पात्र व्यक्ति को मंत्र देने वाले गुरु को भी आचार्य कहते हैं। कालान्तर में आचार्य शब्द शिक्षक के लिए रूढ़ हो गया, इसीलिए आज भी शिशु मन्दिरों, विद्यालयों के शिक्षकों को आचार्य कहने लगे। अन्य मतों में मतसंस्थापकों को भी आचार्य कहते हैं, जैसे— आचार्य शङ्कर आदि। यज्ञादि में पौरोहित्य कर्म करने वालों को भी आचार्य कहते हैं। पूज्य मात्र अथवा शिक्षक मात्र को भी आचार्य कहते हैं। नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् में उल्लेख है कि यदि कोई आचार्य किसी अनधिकारी (कुपात्र) को मन्त्रोपदेश करे, तो वह आचार्य अधोगति प्राप्त करता है—सावित्रीं लक्ष्मीं यजुः प्रणवं स आचार्यस्तेनैव स मृतोऽथो गच्छति (नृ०पूर्व० १.७)।

४४. आज्यभाग— द्र०-यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ।

४५. आज्यस्थाली—द्र०-यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ।

४६. आत्मचिन्तन—द्र०-संवित्।

४७. आत्मचैतन्य—द्र०-संवित्।

४८. आत्मदृष्टि—द्र०-संवित्।

४९. आत्मसाक्षात्कार—द्र०- ज्ञानखण्ड-साक्षात्कार।

५०. आदिपुरुष— सृष्टि के आदि (प्रारम्भ) में केवल उसी परब्रह्म के होने से उसका एक नाम आदिपुरुष भी है। प्रसिद्ध कोशग्रन्थ वाचस्पत्यम् में आदि पुरुष की निष्पत्ति इस प्रकार है— आदौ पुरिदेहे वसति वस-उषन्, स्वेनात्मना पूर्यति जगत् पूर-उषन्। आदिजीवे, हिरण्यगर्भे, नारायणे च (वाच०पूर्व० ६९७) अर्थात् सृष्टि के आदि में शरीर में जगत् पूर-उषन्। आदिजीव, हिरण्यगर्भ, नारायण च कारण परब्रह्म को आदिपुरुष कहते हैं। आदि जीव, निवास करने और अपने द्वारा जगत् को पोषण प्रदान करने के कारण परब्रह्म को आदिपुरुष कहते हैं। आदि जीव,

हिरण्यगर्भ और नारायण के लिए भी आदिपुरुष शब्द प्रयुक्त होता है। गीता में भगवान् के विराट रूप का दर्शन करके, उनकी स्तुति करते हुए अर्जुन ने उन्हें आदिदेव और सनातन पुरुष कहा है, जिससे भी उनके आदिपुरुष होने का स्वर ध्वनित होता है— त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम् ।विश्वमनन्तरूप (गीता० ११.३८) । वेदों में भी इस समूची सृष्टि को उस आदि पुरुष से उत्पन्न निरूपित किया गया है— पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम् । उत्तमृत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति (ऋ० १०.१०.२) । उस विराट और आदि पुरुष से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रादि जातियाँ प्रकट हुईं। उसके किन अङ्गों से कौन उपजे? इसका उल्लेख इस ऋचा में मिलता है— ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः । ऊरु तदस्य यद्यैश्यः पद्म्यां शूद्रो अजायत (ऋ० १०.१०.१२) । इसी प्रकार उस आदिपुरुष के अन्य अङ्गों से चन्द्र, सूर्य, अग्नि, वायु, अन्तरिक्ष, द्यौः, भूमि, दिशाएँ और लोक उत्पन्न हुए बताये गये हैं। कलिसंतरणोपनिषद में ब्रह्मा-नारद संवाद के अन्तर्गत ब्रह्मा ने कलि के दोषों के शमन का उपाय बताते हुए आदिपुरुष भगवान् श्री नारायण के नाम के संकीर्तन का परामर्श दिया है— भगवत आदि पुरुषस्य नारायणस्य नामोच्चारणमात्रेण निर्धूतकलिर्भवतीति (कलि० १) ।

५१. आद्यशक्ति—द्र०-अपराशक्ति ।

५२. आनुष्ठभ मन्त्र—द्र०- महाचक्र-सुदर्शन चक्र ।

५३. आर्य—कोश ग्रन्थों में आर्यशब्द इस प्रकार निष्पत्र बताया गया है— आर्यते गम्यते पूजा (हि०वि०को०) । इसके कई अर्थ हैं— जैसे— महाकुल, कुलीन, सभ्य, सज्जन, साधु या वफादार इंसान आदि। इसी प्रकार अन्य अर्थों में आर्य को पूज्य, श्रेष्ठ, शान्तचित्त, स्वामी, वैश्य और वेदोक्त जाति विशेष माना गया है। पाश्चात्य विद्वान् 'अर्' भातु से अर्य शब्द की निष्पत्ति बताते हैं, जिसका अर्थ भूमि जोतना है। उनका मत है कि प्रधानतः कृषि कार्य करने के कारण आर्य नाम हुआ है। इसीलिए इस कृषि प्रधान देश भारत में रहने वाले लोगों को आर्य और भारत को आर्यावर्त कहा जाता था; किन्तु अध्ययन से विदित होता है कि आर्य नाम के बल कृषि कार्य प्रधान होने से ही नहीं, वरन् अन्य कारणों से भी पड़ा है। जैसे कुलीन वंशोत्पन्न, श्रेष्ठ, सभ्य, सज्जन आदि गुणों के कारण भी आर्य नाम पड़ा होगा और बाद में वह जाति विशेष बन गई। आर्य शब्द का प्रयोग वैदिक काल से ही होता रहा है, इसका अर्थ यह है कि आर्य अति प्राचीन जाति (कर्मानुसार) रही है। वैदिक काल में आर्य और दस्यु ये दो ही जातियाँ थीं। आर्यों को श्रेष्ठ और दस्युओं को शूद्र जाति माना जाता था। विश्व के प्राचीनतम ग्रन्थ ऋष्यवेद में कई स्थानों पर आर्यों के संरक्षण और दस्युओं के प्रतिकार के लिए देवों से प्रार्थना की गई है—विद्वान्विन्दस्यवे हेतिमस्यार्यं सहो वर्धया द्युम्पिन्द्र (ऋ० १.१०३.३) । एक अन्य स्थल पर ऋष्यवेद में ही इन्द्रदेव से प्रार्थना की गई है कि हे इन्द्रदेव। आप आर्यों और दस्युओं (अनार्यों) को पहचानें, व्रतहीनों (दस्युओं) को वशीभूत करके यज्ञ करने वालों के लिए उन्हें नष्ट करें— विजानीहार्यार्य्ये च दस्यवो बहिष्यते रथ्या शासदव्रतान् ।ते सधामदेषु चाकन (ऋ० १.५१.८) । उपर्युक्त उदाहरणों से आर्य जाति का श्रेष्ठ व धार्मिक होना स्पष्ट है। आचार्य सायण ने अपने ऋष्यवेद भाष्य में आर्य शब्द के विज्ञ अनुष्ठाता, विज्ञ स्तोता, अरणीय अथवा सर्वगन्तव्य, उत्तमवर्ण त्रैवर्णिक, मनु और कर्मानुष्ठान से श्रेष्ठ आदि अर्थ बताये हैं। शुक्ल यजु०संहिता में आचार्य महीधर ने आर्य शब्द को स्वामी और वैश्य वाचक माना है। आर्य के सम्बन्ध में सायण के अरणीय अथवा सर्वगन्तव्य अर्थ और महीधर के वैश्य अर्थ दोनों समान हैं। सम्भवतः व्यापार आदि के निमित्त सर्वत्र गमन करने वाले आर्य वैश्य कहलाये होंगे। निरुक्तकार यास्क ने आर्य शब्द की व्याख्या में आर्य को ईश्वर पुत्र कहा है— आर्यः ईश्वरपुत्रः (नि० ६.५.३) । निघण्टु २/२२ में ईश्वर के लिए 'अर्य' शब्द व्यवहृत हुआ है, जिससे अपत्यार्थ प्रत्यय में आर्य शब्द बनता है, ईश्वर के बल, तेज, दया, क्षमा, पराक्रम आदि गुणों से युक्त होने के कारण मानव जाति में श्रेष्ठ समुदाय को आर्य कहा गया। उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट होता है कि आर्य श्रेष्ठ, ज्ञानवान् भ्रमण करने वाले और यज्ञादि अनुष्ठान करने वाले धार्मिकों की जाति थी, जो अतिप्राचीन है। उपनिषदों में भी आर्य जाति का उल्लेख हुआ है। अक्ष्युपनिषद् में योग की भूमिकाएँ बताते हुए उपनिषद्कार ने कहा है— एवं विचारवान् यः स्यात् संसारोत्तराणं प्रति । स भूमिकावानित्युक्तः शेषस्त्वार्य इति स्मृतः (अक्षि० २.९.१०) अर्थात् भवसागर से पार हो जाने की इच्छा से इस विचार में जो सतत लगा रहता है, उसे भूमिकावान् कहते हैं, शेष आर्य नाम से जाने जाते हैं। अभिप्राय यह है कि योग की विभिन्न भूमिकाओं में जाने के लिए तो विशेष प्रकार की साधनाएँ करनी होती हैं। उन-उन साधनाओं को करने वाला साधक तो भूमिकावान् है और इन भूमिकाओं से पूर्व की स्थिति आर्य (श्रेष्ठमानव) की है। ध्यातव्य है कि आर्य सामान्य मनुष्यों (जो धिसा-पिटा शिश्रोदर परायण जीवन जीते हैं) से तो श्रेष्ठ हैं, पर भूमिकावान् नहीं हैं ।

५४. आवागमन चक्र—द्र०-ज्ञानखण्ड।
 ५५. आश्रम—द्र०-ज्ञानखण्ड-चतुराश्रम।
 ५६. इडा—द्र०-ज्ञानखण्ड-सुषुप्तानाड़ी।
 ५७. इष्ट—द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।
 ५८. ईशान—द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।
 ५९. ईश्वर—द्र०-ज्ञानखण्ड-ईश्वर जीव।
 ६०. उक्षययाग—द्र०-अतिरात्रयज्ञ।
 ६१. उद्दिङ्दयान बन्ध— द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।
 ६२. उदगाता— द्र०- ब्रह्मविद्या खण्ड-अध्वर्यु।
 ६३. उद्भिज— द्र०- ब्रह्मविद्या खण्ड-कला।
 ६४. उपपातक— द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड-महापातक।
 ६५. ऊर्ध्वरेता— द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।
 ६६. ऋत— द्र०-ज्ञानखण्ड-ऋत-सत्य।
 ६७. कपालशोधन क्रिया— योग की विभिन्न क्रियाओं के अन्तर्गत यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि प्रमुख हैं। इनके अतिरिक्त हठयोग प्रदीपिका में छ: क्रियाओं का उल्लेख भी मिलता है- धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिस्त्राटकं नौलिकं तथा। कपालभातिशैतानि घट् कर्माणि प्रचक्षते (ह०यो०प्र० २.२२) अर्थात् धौति, वस्ति, नेति, नौलि, त्राटक और कपालभाति-इन छ: क्रियाओं को (शरीर शोधन हेतु) सम्पन्न करना चाहिए। इनमें छठी और अन्तिम क्रिया कपालभाति है, यह एक विशिष्ट प्रकार का प्राणायाम है, जो कफ आदि दोषों का नाशक है। हठयोग प्रदीपिका, द्वितीय उपदेश के मन्त्र क्र० ३५ में कपालभाति इन शब्दों में परिभाषित है-भस्त्रावल्लोहकारस्य रेचपूरी संसंभ्रमौ। कपालभातिर्विख्याता कफदोष विशेषणी (हठ० प्र० २.३५) अर्थात् लुहार की धौंकनी के समान शीघ्रतापूर्वक क्रिया गया रेचक और पूरक प्राणायाम कपालभाति क्रिया कहलाती है, जो कफदोष विनाशक है। घेरण्ड संहिता में कपालभाति क्रिया के प्रायः तीन प्रकार बतलाये गये हैं-(क) वातकर्म कपाल भाति (ख) व्युत्कर्म कपाल भाति- (ग) शीतकर्म कपाल भाति। इनमें प्रथम वातकर्म कपालभाति की तीन विधियाँ हैं- प्रथम विधि के अनुसार शुद्धासन में बैठकर दायें नथुने को बन्द करके बायें से बलपूर्वक वायु को खींचकर बिना रोके दायें नथुने से बाहर निकाला जाता है, इसी प्रकार दायें से वायु खींचकर बायें से बाहर निकालते हैं। द्वितीय विधि में दोनों नथुनों से एक साथ वायु खींचकर बाहर निकालते हैं तथा तृतीय विधि में-दायें नथुने को बन्द करके बायें से पूरक-रेचक करते हैं तथा बायें वायु खींचकर बाहर निकालते हैं। सम्भवतः वातकर्म कपालभाति की दूसरी तीसरी विधि के प्रकार से नथुने को बंद करके दायें से पूरक-रेचक करते हैं। सम्भवतः वातकर्म कपालभाति की दूसरी तीसरी विधि के प्रकार से मिलती-जुलती कपालशोधन क्रिया अथवा कपालसोधनी है; क्योंकि इसमें भी श्री चरणदास के अनुसार बायें से धीरे-धीरे रेचक करने की बात कही गई है- बायें सेती रेचिये हौरे-हौरे जान। कपाल सोधनी जानिये चरणदास पर्हिचान (हि०श०सा०पृ० ७८२)। इस प्रक्रिया से मस्तिष्क और आमाशय की शुद्धि होती है। इसी कारण कपाल शोधन इसका नामकरण हुआ है। योगकुण्डल्युपनिषद् में सूर्यभेदन क्रिया के अन्तर्गत कपाल शोधन क्रिया का इन शब्दों में उल्लेख हुआ है- दक्षनाड्या समाकृष्ट बहिष्टुं पवनं शनैः। यथेष्टुं पूरयेद्वायुं रेचयेदिड्या ततः॥ कपाल शोधने वाऽपि रेचयेत्पवनं शनैः। चतुर्ष्कं वातदोषं तु कृमिदोषं निहन्ति च (यो०क०१.२४-२५) अर्थात् दायीं नासिका से वाऽपि रेचयेत्पवनं शनैः। बाहर की वायु को खींचकर बायीं नासिका से रेचक करे। कपालशोधन क्रिया में भी वायु को धीरे-धीरे बाहर निकाले, इस प्रक्रिया से चारों प्रकार के वातदोष और कृमिदोष विनष्ट हो जाते हैं। इससे अधिक कपालशोधन क्रिया का कहीं उल्लेख प्राप्त नहीं होता।
६८. करन्यास— द्र०-अङ्गन्यास।
 ६९. कला— द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।
 ७०. कलियुग— द्र०-ज्ञानखण्ड-चतुर्युग।

कल्पवृक्ष

७१. कल्पवृक्ष— कल्पवृक्ष एक ऐसे पेड़ का नाम है, जो मनचाही वस्तु दे सकन में सक्षम माना जाता है। हि०वि०को० के कल्पतरु प्रकरण में इसका उल्लेख इस प्रकार मिलता है—कल्पश्चासौ तरुश्चेति अथवा कल्पस्य तरुः राहोः शिरः इत्यादिवत् जिसके कई अभिप्राय हैं। प्रथमतः देवलोक का वृक्ष विशेष जो याचना करने पर समस्त पदार्थ प्रदान करता है—निगम कल्पतरोगंलितं फलम् (भाग० १.१.३)। द्वितीयतः स्मृतिशास्त्र विशेष को भी कल्पतरु कहते हैं। कल्पवृक्ष के और भी अनेक नाम हैं, जैसे— कल्पद्रुत, कल्पद्रुम, कल्पतरु, कल्पलतिकी, कल्पलता, कल्पमहीरुह, कल्पवल्ली, कल्पविटप आदि। इसी प्रकार सुपारी, इमली, बहेड़ा और छोटे अमलतास के वृक्ष को भी कल्पवृक्ष या कल्पद्रुम कहते हैं। इच्छित वस्तु प्रदान करने की क्षमता के कारण ही किसी उदार पुरुष को भी कल्पतरु कहने लगते हैं। इस प्रकार लोक में कई प्रकार से कल्पवृक्ष और उसके पर्यायवाची शब्दों का व्यवहार होता है। पौराणिक मान्यता है कि कल्पद्रुम वा कल्पवृक्ष देवासुर संग्राम के बाद दोनों के सामूहिक पुरुषार्थ—समुद्र मन्थन से चौदह रत्नों के क्रम में निकला था—श्री मणि रम्भा वारुणी अभिय शंख गजराज। कल्पद्रुम शशि धेनु-धनु धन्वन्तरि विष बाजि। इसके सम्बन्ध में मान्यता है कि यह कल्पान्त पर्यन्त जीवन वाला होता है। गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद् में भगवान् गोविन्द (श्रीकृष्ण) की स्तुति में उन्हें वृन्दावन में कल्पवृक्ष के नीचे रत्नचित सिंहासन पर सतत विराजमान निरूपित किया गया है— तथेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं पञ्चपदं वृन्दावनसुरभूहतलासीनं सततं समरुद्धणोऽहं परमया स्तुत्या स्तोव्यापि (गो०पूर्व० ३३)। इच्छित पदार्थ प्रदान करने के लिए ही कामधेनु भी प्रख्यात है। हि०वि०को० में कामधेनु प्रकरण में कामधेनु इस प्रकार प्रतिपादित है— कामप्रतिपादिका धेनुः अर्थात् एक गो विशेष, इस गाय से याचना करने पर इच्छित पदार्थ प्राप्त होते हैं। इसे भी स्वर्ग-लोक की धेनु कहा जाता है। स्वर्ग की गाय को सुरभि कहते हैं। उसे ही कामधेनु कहा गया है, जिसका वर्ण श्वेत और चतुर्वेद चार पाद स्वरूप हैं। उसके चारों स्तनों से धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष स्वरूप दुर्घ धाराएँ निःसुत होती हैं। शिववाहन वृषभ कामधेनु से ही उद्भूत हुआ था। सुरभि वंशजा होने के कारण कई स्थानों पर कामधेनु के लिए सुरभि शब्द भी प्रयुक्त होता देखा जाता है। गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद् में ब्रह्मा द्वारा कृष्ण के अष्टादशाक्षर मंत्र से सृष्टि के उत्पादन के क्रम में मंत्र के 'गोविन्दाय' पद से सुरभि (कामधेनु) के सृजन का तथ्य उल्लिखित है—कृष्णादाकाशं खाद्वायुरुत्तरात् सुरभिविद्या: प्रादुरकार्धमकार्षमितिसकलमिदमिति (गो०पूर्व० २५)। कामधेनु कुलोत्पत्ता नन्दिनी जो महर्षि वशिष्ठ की गाय मानी जाती है। जिसकी सेवा करके महाराज दिलीप ने रघु जैसा पुत्र रत्र प्राप्त किया, उसे भी कामधेनु ही कहा जाता है। कामधेनु का प्राकट्य भी समुद्र मन्थन से निकले चौदह रत्नों में माना जाता है, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। साधना क्षेत्र में गायत्री को भी कामधेनु कहा जाता है; क्योंकि उनकी साधना से सब कुछ प्राप्त किया जा सकता है— गायत्री सर्वकामधुक्।

७२. कामकला— कोशग्रन्थों में कामकला शब्द के कई अर्थ मिलते हैं, जैसे—कामस्य कलाप्रिया। पष्ठी तत्पुरुष समास युक्त होने के कारण इसका अर्थ हुआ कामदेव की कला (प्रिया या पत्नी) रति। चन्द्रमा की सोलह कलाओं तथा तन्त्रोक्त विधि विशेष को भी कामकला नाम से जाना जाता है। लौकिक क्षेत्र में कामक्रीड़ा विज्ञान को भी कामकला कहते हैं। आध्यात्मिक सन्दर्भ में कामकला सृष्टि निर्माण की आदि कारण एक देवी को कहते हैं। तत्र ग्रन्थों में उल्लेख है कि आदि सृष्टि का मूल कारण शिव (कल्याणकारी ब्रह्म) और शक्ति (ब्रह्म की चित्तशक्ति) दो बिन्दु रूप हैं। शिवबिन्दु श्वेत और शक्ति बिन्दु रक्त वर्ण वाला है। दोनों बिन्दुओं के संयोग का नाम 'काम' है। शिवशक्ति बिन्दु से अक्षर भाषा एवं पञ्चभूतों की उत्पत्ति वर्णित है। अकार शिव और इकार शक्ति का बोधक है। शिव बिन्दु, शक्ति बिन्दु और नाद इन्हीं तीनों से अहंकार का प्रादुर्भाव होता है, इसी को कामकला कहा गया है। बहुचोपनिषद् में चित्तशक्ति को आदि देवी मानकर उन्हीं से सम्पूर्ण सृष्टि का आविर्भाव विवेचित है। इन्हीं देवी को कामकला, शृंगारकला आदि कहा जाता है— ३० देवी होकाऽग्र आसीत्। सैव जगदण्डमसुजत्। कामकलेति विज्ञायते। शृङ्गारकलेति विज्ञायते (बह्व० १)। इस तथा से यह प्रमाणित होता है कि परब्रह्म की एकोऽहं बहु स्याम् की कामना और उसके अनुसार अपनी चित् शक्ति से ब्रह्माण्ड का सृजन ही 'कामकला' है, जिसे देवी मानकर कामकला नाम दिया गया है। निराकार ब्रह्म का व्यक्त रूप ओंकार माना गया है। इसी प्रणव से प्रकृति का प्राकट्य हुआ है और यही प्रकृतित्व देवी का स्वरूप है—परापरब्रह्मरूपेण यद्वस्तु तत् ओं इत्योंकारार्थरूपं तस्योंकारस्यप्रकृतत्वात् देवीप्रकृतित्वमुच्यते, 'प्रणवत्वेन प्रकृतित्वं वदन्ति ब्रह्मवादिनः' 'इति श्रुतेः' (बह्व० १ ब्र० भा०)। कामना के उत्पत्ति स्थल (ब्रह्म) को कामयोनि और कामना की क्रिया को कामकला कहकर दोनों को एक ही तत्त्व निरूपित कर परब्रह्म की चित् शक्ति का

परिचय दिया गया है। अपने उपर्युक्त भाष्य के अन्दर ही ब्रह्मयोगी जी इस तथ्य को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं- 'कामो योनिः कामकला' इति श्रुत्या इँकारस्य कामकलात्वेन वर्णितत्वात्। इसी चित्तशक्ति को शृङ्खार कला भी कहा गया है। यहाँ शृङ्खार का अभिप्राय साहित्य जगत् के शृङ्खार रस से न होकर किसी भी मंत्र के पूर्व में उच्चारण किये जाने वाले औंकार से है, जो 'श्रृंग' स्वरूप अकार, उकार और संकार तथा अर्धमात्रा के रूप में मंत्र के प्रारम्भ में विद्यमान रहता है। इसीलिए इस चित्तशक्ति को कामकला के साथ ही शृङ्खार कला भी कहते हैं। प्राणिमात्र के शरीरत्रय (स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीर) में विद्यमान रहने के कारण इसी चित्तशक्ति को त्रिपुर सुन्दरी और महात्रिपुर सुन्दरी नाम प्रदान किया गया है-सैव पुरुत्रयं शरीरत्रयं व्याप्य महात्रिपुरसुन्दरी वै प्रत्यक्षं चित्तिः (बहू० ४)। त्रिपुरोपनिषद् और देव्युपनिषद् में कामयोनि, कामकला, वत्रपाणि, गुहा, मातरिश्वा, सकला, माया आदि के रूप में उसी चित्तशक्ति की वन्दना की गई है- कामो योनिः कामकला वत्रपाणिर्गुहा पुरुच्येषा विश्वमाताऽऽदिविद्योम् (देवी० १४-त्रिपुरा० ८)। त्रैपुर (त्रिपुर अर्थात् तीन पुरों समृद्धि और व्यष्टिगत स्थूल-सूक्ष्म और कारण शरीरों) में निवास करने वाली चित्त शक्ति ही त्रिपुरा कही गई है। इसे अजरा, पुराणी, (चिरंतन-प्राचीन) महान् महिमा से युक्त देवताओं में श्रेष्ठ कहा गया है-अजरा पुराणी महत्तरा महिमा देवतानाम् (त्रिपुरा० १)। यह चित्तशक्ति और भगवान् (अर्थात् षडैश्वर्य से सम्पन्न) कामेश या कामेश्वर (समस्त कामनाओं के नियन्त्रक ब्रह्म) निष्काम उपासक को ब्रह्मपद (परमपद) की प्राप्ति करा देते हैं- भगः शक्तिर्भगवान् काम ईश उभा दाताराविह सौभगानाम् (त्रिपुरा० १४)। कहीं-कहीं सच्चिदानन्द घन परमात्मा को कामेश्वरी देवता भी कहा गया है। भावनोपनिषद् में शरीर में श्रीचक्रत्व सिद्धि के कारणों का विवेचन करते हुए अव्यक्त, महत्त्व, अहंकार, कामेश्वरी, वत्रेश्वरी तथा भगमालिनी को आन्तरिक त्रिकोण के अग्रभाग में स्थित देवता कहा गया है। यहाँ आद्या प्रधान कामेश्वरी को सत्, चित् और आनन्दस्वरूप एवं पूर्ण ब्रह्म (पूर्ण पुरुष) और आत्मा की ऐक्यरूपा देवता विवेचित किया गया है- अव्यक्तं कामेश्वरी वत्रेश्वरी तयोः कामेश्वरी सदानन्दधना परिपूर्णस्वात्मैक्यरूपा देवता (भाव० २)।

७३. कामधेनु—द्र०-कल्पवृक्ष।

७४. **कामबीज**— तत्र ग्रन्थों में कामबीज को कामनापूर्ति करने वाला बीज मंत्र बताया गया है। बीज मंत्र को मूल मंत्र भी कहते हैं। इसीलिए विशिष्ट प्रयोजनों के निमित्त उनके लिए निर्धारित मन्त्रों के साथ बीज मंत्र (हीं, कर्ली आदि) लगाते हैं; ताकि वे और अधिक सशक्त होकर वाञ्छित प्रभाव डालकर अभीष्ट प्रयोजन सिद्ध कर सकें। गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद् में 'कर्ली' को कामबीज कहा गया है। भगवान् कृष्ण की प्राप्ति के लिए जपे जाने वाले 'कर्ली' संयुक्त १८ अक्षर वाले मन्त्र को अष्टादशाक्षर अथवा अष्टादशार्ण मन्त्र कहते हैं। इसमें प्रारम्भ में 'कर्ली' बीजमन्त्र है। इसका जप करने से साधक शीघ्र ही पूर्णकाम होकर श्रीकृष्ण की प्राप्ति करता है। यह मन्त्र इस प्रकार है- कर्लीं कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजनवल्लभाय स्वाहा। इस मन्त्र में पाँच पद होने से यह पञ्चपदी मन्त्र भी कहलाता है। गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद् के मन्त्र क्रमांक १२-१३ में यह तथ्य इस प्रकार उपन्यस्त है- पञ्चपदं जपन् पञ्चाङ्गं ब्रह्म संपद्यते ब्रह्म संपद्यत इति। तदेष श्लोकः-कर्लीमित्येतदावादाय कृष्णाय गोविन्दाय गोपीजन वल्लभायेति स्यादिति (गो०पूर्व० १२-१३)। इस प्रकार कामबीज सहित मन्त्र जप आसकाम बनाकर परमानन्द की प्राप्ति करता है।

७५. कामेश—द्र०-कामकला।

७६. कामेश्वरी—द्र०-कामकला।

७७. कालरात्रि—द्र०-अजा-अनजा-अज्ञेया।

७८. **कालाग्नि**— कोशग्रन्थों में कालाग्नि का स्वरूप इस प्रकार निर्दिष्ट है- कालः सर्वसंहारकःअग्निः (हि०वि०को०खं० ४ पृ० ५७७) अर्थात् सबका विनाश करने वाली अग्नि ही कालाग्नि है। इस अर्थ के अनुसार प्रलयाग्नि ही कालाग्नि है; क्योंकि प्रलयकाल में सर्वप्रथम अग्नि की तेज लपटें उठती हैं, तदुपरान्त पृथ्वी का जल वाष्पीभूत होकर घनधोर वर्षा होती है, जिससे सम्पूर्ण पृथ्वी जलमग्न हो जाती है और सब कुछ विनष्ट हो जाता है, इसे ही महाप्रलय कहते हैं। चौंकि होती है, इसलिए रुद्र का एक नाम कालाग्नि भी है। पञ्चमुखी रुद्राक्ष को भी कालाग्नि कहते हैं, कारण संहार के देवता रुद्र हैं, इसलिए रुद्र का एक नाम कालाग्नि भी है। पञ्चवक्त्रं स्ववं रुद्रः कालाग्निर्नाम नामतः (हि०वि०को० खं० ४ पृ० ५७७)। यह है कि यह शिव को अतिप्रिय है। पञ्चवक्त्रं स्ववं रुद्रः कालाग्निर्नाम नामतः (हि०वि०को० खं० ४ पृ० ५७७)।

कालाग्नि की तरह ही प्रलयाग्नि के लिए एक शब्द संवर्तक अग्नि भी प्रयुक्त होता है। संवर्त का अभिप्राय प्रलय और कल्यान से है, इसी से निर्मित संवर्तक शब्द के कई अर्थ हैं- संवर्त्तयतीति से निर्मित संवर्तक को प्रलय-कालीन मेघ की अग्नि कहते हैं। भगवान् कृष्ण के अग्रज बलदेव जी तथा उनके अस्त्र को भी संवर्तक कहते हैं। बड़वानल भी संवर्तक अग्नि है, जिसे समुद्र में स्थित अग्नि कहा जाता है। इस प्रकार कालाग्नि और संवर्तकाग्नि दोनों सृष्टि विनाशक अग्नियाँ ही हैं। कालाग्निरुद्रोपनिषद् में कालाग्नि को देवता और संवर्तकाग्नि को ऋषि रूप में विवेचित कर इन दोनों अग्नियों का मानवीकरण प्रस्तुत किया गया है-अथ कालाग्निरुद्रोपनिषदः संवर्तकोऽग्निर्त्वधिपरनुष्टुप्छन्दः श्रीकालाग्निरुद्रो देवता विनियोगः (काला०१०-१)। इस मन्त्र के भाष्य में ब्रह्मयोगी ने कालाग्नि को सब कुछ विनष्ट करने वाला परमेश्वर कहा है-स्वाज्ञानतत्कार्यं कालयति नाशयति निःशेषं भस्मीकरोतीति कालाग्निः परमेश्वरः (काला०१० १ ब्र० भा०)। इस प्रकार इन्होंने संवर्तक अग्नि को प्रलय काल का सूर्य विवेचित किया है, जो अविद्या के समूह को भस्म करने में कुशल है- तस्य संवर्तकोऽग्निः स्वाविद्याऽण्ड भस्मीकरणपटुः प्रलयकाल सूर्य (काला०१० १ ब्र० भा०)।

७९. **कालातीत**— कालातीत का अभिप्राय स्थान्यतया समय के निकल जाने या टल जाने से है। प्रख्यात कोश ग्रन्थ वाचस्पत्यम् में इस शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार उल्लिखित है- कालस्यातीतमत्ययः कालातिक्रमे अर्थात् काल का अतिक्रमण कर जाना-निकल जाना। उदाहरणार्थ समय निकल जाने पर संध्या उसी प्रकार व्यर्थ जाती है, जिस प्रकार बन्ध्या स्त्री से संगम व्यर्थ होता है अर्थात् कोई फल नहीं देता-कालातीते वृथा सञ्च्या बन्ध्यस्त्री मैथुनं यथा (हि०वि०को०खं० ४ पृ० ५७८)। विशिष्ट अर्थ में 'कालातीत' परब्रह्म की एक संज्ञा है। जो तीनों कालों भूत, भविष्यत् और वर्तमान से परे हैं अर्थात् जो भूत-भविष्य को वर्तमान की तरह ही देखते और जानते हैं, वे कालातीत हैं। इस प्रकार की क्षमता से युक्त देवों के लिए भी कई बार यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। गणपत्युपनिषद् में भगवान् गणेश को भी देहत्रयातीत, गुणत्रयातीत और कालत्रयातीत (कालातीत) कहा गया है-त्वं गुणत्रयातीतः। त्वं देहत्रयातीतः। त्वं कालत्रयातीतःसुवरोम् (गण०६)। परब्रह्म के लिए उसके गुणों के अनुसार विभिन्न सम्बोधन प्रयुक्त किए जाते हैं, जैसे द्वन्द्व रहित (एक मात्र) रहने से द्वन्द्वातीत या अद्वन्द्व, सदैव से और सदा रहने के कारण सनातन ब्रह्म, सभी का मूल कारण होने से कारण ब्रह्म, सभी विशेषताओं से परे होने से निर्विशेष ब्रह्म (निर्गुण ब्रह्म या कारण ब्रह्म) निर्गुण निराकार होने से-सभी प्रकार के आरोपों-प्रत्यारोपों, अविद्या आदि दोषों से परे होने के कारण निष्कलंक (.....निष्कलंको निरज्जनोशिरोऽधीते-नारा० २) नाम उसी परब्रह्म का है। यही ब्रह्म जब अपनी विशिष्टताओं से समन्वित होकर विश्वब्रह्माण्ड के सृजन-पालन-संहार में प्रवृत्त होता है, तो वह सविशेष ब्रह्म (सगुण ब्रह्म या कार्य ब्रह्म) कहलाने लगता है। भगवान् रुद्र की ब्रह्म से एकात्मता के कारण उन्हें भी द्वन्द्वातीत और सनातन ब्रह्म निरूपित किया गया है- सर्वाधिष्ठानमद्वन्द्वं परं ब्रह्म सनातनम्। सच्चिदानन्दरूपं तदवाऽमनसगोचरम् (रुद्रह० २६)। पाशुपत ब्रह्मोपनिषद् में महेश्वर रुद्रशिव को ब्रह्म का मानस ब्रह्म कहा गया है-मानसं ब्रह्म महेश्वरं ब्रह्म (पू०का० ११)। मानस ब्रह्म का रूप हंसः अथवा सोऽहम् को बताते हुए उपनिषद्कार ने लिखा है-मानसो हंसः सोऽहम् इति (पू०का० १२)। इसी प्रकार भगवान् कृष्ण को भी पूर्ण पुरुष और सनातन ब्रह्म अर्थात् शाश्वत ब्रह्म कहा गया है; किन्तु उन्होंने अपनी माया विग्रह (लीला विग्रह) से अर्थात् माया से ही मंच पर नाटक करने के समान गोपवेष धारण किया है। वस्तुतः वे पूर्ण पुरुष परब्रह्म अर्थात् साक्षात् श्री हरि ही हैं। श्रीकृष्णोपनिषद् में इसका उल्लेख इस प्रकार है-गोपरूपो हरिः साक्षात्मायाविग्रहधारणः।शेषनागोऽभवद्रामः कृष्णो ब्रह्मैव शाश्वतम् (कृष्ण० १०-१२)।
८०. **कुण्डलिनी शक्ति**—द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड-कुण्डलिनी।
८१. **कृत्या**— कृत्या का अभिप्राय उस क्रिया विशेष से होता है, जो अभिचार के अन्तर्गत की जाती है और जिसका उद्देश्य सम्बन्धित व्यक्ति को क्षतिग्रस्त अथवा विनष्ट करना होता है। वाचस्पत्यम् में यह तथ्य इस प्रकार संप्राप्य है- कृत्याअभिचारक्रियाजन्ये अभिचारोदेश्यनाशके (वाच०प० २१८९)। प्रख्यात कोश ग्रन्थ हिन्दी विश्वकोश में कृत्या इन शब्दों में निर्दिष्ट है- कृत्याकृ भावे क्यप् तुगागमः टाप् च। जिसका प्रथम अर्थ क्रिया या काम है और दूसरा अर्थ अभिचारादि कार्य, जादू-टोना है तथा तीसरा अर्थ अभिचार आदि के लिए आराधित कोई देवता (देवी) है। माना जाता है कि अभिचार आदि कार्य के समय ही कृत्या उत्पन्न होती है तथा जिसके विनाश के लिए भेजी जाती है, उसे विनष्ट करके ही समाप्त होती है। यदि किसी कारण वह निर्दिष्ट व्यक्ति को नहीं मार पाती, तो वह लौटकर प्रयोक्ता पर

ही आक्रमण करके उसे समाप्त कर देती है। वेदों में भी (विशेषतया अथर्ववेद में) कृत्या को देवता मानकर उसकी स्तुति की गई है। अथर्ववेद में कृत्यादूषण और कृत्या परिहरण सूक्तों के अन्तर्गत इस प्रकार के मंत्र हैं, जिनसे प्रयुक्त की गई कृत्या को खेड़ने तथा उसे प्रयोक्ता के पास वापस लौटकर उसी को नष्ट करने का तथ्य स्पष्ट होता है। यथा-अधमस्त्वघकृते शपथः शपथीयते। प्रत्यक् प्रतिप्रहिण्मो यथा कृत्याकृतं हनत् (अथर्व० १०.१.५) अर्थात् हिंसक पाप (कृत्या) और शपथरूप शाप प्रयोगकर्ता के पास पहुँचे। हम अभिचार कर्म (कृत्या को इस प्रकार भेजते हैं, जिससे वह प्रयोक्ताओं को विनष्ट करे। अक्षमालिकोपनिषद् में अक्ष (मोती स्फटिक अथवा रुद्राक्ष आदि का मनका) धारण करने के क्रम में अ वर्ण से लेकर क्ष वर्ण तक प्रत्येक अक्षर के अनुसार प्रत्येक अक्ष में विभिन्न देवताओं का मन्त्रों से आवाहन करके उनमें इन्हें स्थापित करने का विधान है। प्रत्येक मंत्र में उस-उस देवता की शक्ति का वर्णन भी निर्दिष्ट है। इसी क्रम में २४ वें अक्षर 'जकार' के बीज मंत्र जं को २४ वें अक्ष में प्रतिष्ठित होने की भावना की गई है, जो कृत्या आदि शक्तियों का विनाशक और दुर्धर्ष है—.....ॐ जङ्गार कृत्यादिनाशकर दुर्धर्षचतुर्विंशोऽक्षे प्रतितिष्ठ (अक्ष० ५)। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सामान्यतः तो कृत्या कोई भूतनी या डाकिनी प्रतीत होती है; किन्तु यह एक मारक या हानिकारक आभिचारिक शक्ति है, जिसे यदि अनुपयुक्त व्यक्ति पर अनुचित ढंग से प्रयुक्त किया गया, तो वह प्रयोग करने वाले को ही विनष्ट कर देती है।

९२. चिरंतन—द्र०-कामकला।

९३. चौंसठकला-विद्या—‘कलयति कलते वा कर्त्तरि अच्, कल्प्यते ज्ञायते कर्मणि अच् वा’ आदि वाचस्पत्यम् में वर्णित कला की परिभाषा के अनुसार कला उसे कहते हैं, जो किसी के कर्म अथवा स्थिति को घोटात करती है। किसी के अंश या भाग तथा गुण को भी कला कहते हैं। जैसे चन्द्रमा की (स्थिति अनुसार) घोड़श कलाएँ होती हैं। सूर्य की द्वादश कलाएँ होती हैं। अवतारों में भी कलाएँ होती हैं, उन्हीं के अनुसार उनकी शक्ति का आकलन किया जाता है। जैसे-राम बारह कला और कृष्ण सोलह कला के अवतार थे। जीव मात्र में एक-दो कलाएँ तो रहती ही हैं। जैसे-जैसे चेतना का विकास होता जाता है, वैसे-वैसे कलाएँ बढ़ती जाती हैं। कलाओं सम्बन्धी विस्तृत विवरण शान्तिकुञ्ज द्वारा प्रकाशित १०८ उपनिषद् ब्रह्मविद्या खण्ड के परिभाषा कोश परिशिष्ट में ‘कला’ शीर्षक के अन्तर्गत लिखा जा चुका है। घोड़श, द्वादश आदि कलाओं के अतिरिक्त चौंसठ कलाओं का उल्लेख भी शास्त्रों में मिलता है। जीवन के चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष हैं। काम और अर्थ, धर्म तथा मोक्ष की सीमा में ही रखे गये हैं। जहाँ आध्यात्मिक उत्त्रति और मानव जीवन के चरम लक्ष्य मुक्ति की प्राप्ति को धर्म और मोक्ष पुरुषार्थों की फलश्रुति माना गया है, वहाँ धर्म, अर्थ और काम की फलश्रुति भौतिक सफलता व समृद्धि को माना गया है। मोक्ष शास्त्र का मूल वेदों के ज्ञान और उपासना काण्ड तथा सभी उपनिषद् व दर्शनों को तथा काम या कलाशास्त्र का मूल सामवेद, गान्धर्ववेद, धनुर्वेद, स्थापत्य और इनके अन्तर्गत समस्त कला साहित्य को माना गया है। कामशास्त्र और तत्त्व शास्त्र में जीवन को व्यवस्थित और विकसित बनाने वाली ६४ कलाओं का वर्णन मिलता है। इन्हें ६४ कलाएँ अथवा ६४ महाविद्याएँ भी कहते हैं। इनके अन्दर जीवन व्यवहार, विनय, शिष्टाचार, काव्यलेखन, वकृता, छन्दज्ञान, भाषाज्ञान, शिल्प, चित्रकारी आदि विभिन्न विद्याओं का समावेश है। ये चौंसठ कलाएँ— विद्याएँ इस प्रकार हैं— १. गीत (गायन), २. वाद्य (बजाना), ३. नृत्य (नाचना), ४. नाट्य (अभिनय करना), ५. आलेख्य (चित्रकारी), ६. विशेष कच्छेद्य (तिलक के साँचे बनाना), ७. तण्डुल कुसुमावलि विकार (चावल के फूलों का चौक पूरना), ८. पुष्पास्तरण (पुष्पों की सेज बनाना), ९. दशन वसनांग राग (दाँतों, कपड़ों और अंगों को रँगना अथवा दाँतों के लिए मंजन, मिस्सी आदि, वस्त्रों के लिए रंग और रँगने की सामग्री तथा अङ्ग लेपन हेतु चन्दन, केसर, मेंहदी, महावर आदि बनाना और उसकी विधि का ज्ञान), १०. मणिभूमिका कर्म (ऋतु के अनुसार गृह सज्जा), ११. शयन रचना (बिछावन बिछाना), १२. उदक वाद्य (जलतरंग बजाना), १३. उदकघात (पानी के छीटे आदि मारने और पिचकारी आदि मारने से काम लेने की कला), १४. चित्रयोग अवस्था परिवर्तन कर देना अर्थात् वृद्ध को युवा और युवा को वृद्ध कर देना। १५. माल्यग्रन्थ-विकल्प (देवपूजन आदि के लिए माला गूँथना), १६. केश-शेखरापीड़-योजन (शिर के बालों में अनेक प्रकार के पुष्प गूँथकर सज्जित करना), १७. नेपथ्य योग (देश, काल, परिस्थिति के अनुसार वस्त्र, आभूषण आदि पहनना), १८. कर्ण पत्रभङ्ग कानों हेतु कर्णफूल आभूषण आदि निर्मित करना), १९. गन्धयुक्ति (सुगन्धित पदार्थ इत्र, तेल-फुलेल आदि बनाना), २०. भूषण योजन, २१. इन्द्रजाल, २२. कौचुमार अथवा कौमार योग (विभिन्न पदार्थों के प्रयोग से कुरूप को सुन्दर बना देना), २३. हस्तलाघव (हाथ की सफाई, फुर्ती), २४. चित्रशाकापूप भक्ष्य-विकार-क्रिया (अनेक प्रकार के पक्कान्न बनाने की कला), २५. पानक रस रागासव योजन (अनेक प्रकार के पेय शर्करा, मदिरा आदि बनाना)। २६. सूची कर्म (सिलना, पिरोना) २७. सूत्र कर्म (कपड़े बुनना, रफूगारी, कसीदा और तरह-तरह के बेलबूटे काढना), २८. प्रहेलिका (पहेलियाँ कहना व पूछना), २९. प्रतिमाला (अन्त्याक्षरी करना), ३०. दुर्वाचक योग (कठिन शब्दों का तात्पर्य निकालना), ३१. पुस्तक वाचन (उचित प्रकार से पुस्तक पढ़ना), ३२. नाटिकाख्यायिका दर्शन (नाटक देखना या दिखाना) ३३. काव्य समस्या पूर्ति, ३४. पट्टिकावेत्रवाण विकल्प (निवाड़, बेत आदि से चारपाई बुनना), ३५. तर्कु कर्म (तरुआ सम्बन्धी समस्त कार्य, कुछ विद्वानों ने इसे तर्क कर्म अर्थात् दलील देकर तथ्य स्पष्ट करना माना है,) ३६. तक्षण (बढ़ी का काम), ३७. वास्तु विद्या (मकान आदि बनाना), ३८. रूप्यरत्न परीक्षा (धातु और रत्नों का परीक्षण) ३९. धातुवाद (कच्ची धातुओं की सफाई या मिली हुई धातुओं को पृथक्-पृथक् करना), ४०. मणिरागज्ञान (रत्नों के रंगों की जानकारी), ४१. आकर ज्ञान (खानों की विद्या), ४२. वृक्षायुर्वेदयोग (वृक्षों का ज्ञान, चिकित्सा और उन्हें लगाने-करने की विधि), ४३. मेष- कुकुटलावक-युद्ध विधि (मेड़ा, मुर्गा, बटेर, बुलबुल आदि को लड़ाने की विद्या), ४४. शुकसारिका प्रलापन (तोता-मैना को पढ़ाना), ४५. उत्सादन (उबटन आदि लगाना तथा हाथ, पैर, शिर आदि दबाना), ४६. केश मार्जन कौशल (बालों का मलना और तेल लगाना), ४७. अक्षर मुष्टि का कथन (करपलई), ४८. म्लेच्छित कला विकल्प (विदेशी भाषाओं का ज्ञान), ४९.

देशभाषा ज्ञान (प्राकृतिक बोलियों को जानना), ५०. पुष्प शक्टिका निमित्त ज्ञान (दैवी लक्षण जैसे बादल आदि देखकर आगामी भविष्य की भविष्यवाणी करना), ५१. यन्त्र मातृका (समस्त यंत्रों को बढ़ाना), ५२. धारण मातृका (स्मरण बढ़ाना) ५३. सम्पाद्य (दूसरे को पढ़ते हुए सुनकर उसी प्रकार पढ़ देना), ५४. मानसी काव्य क्रिया (अभिप्राय देखकर तुरन्त मन में काव्य निर्माण व उसे पढ़ते जाना), ५५. क्रिया विकल्प (क्रिया के प्रभाव को उलट देना), ५६. छलितक योग (छल अथवा ऐयारी करना), ५७. अभिधानकोश छन्दोज्ञान, ५८. वस्त्रगोपन (वस्त्रों की रक्षा करना) ५९. द्यूत विशेष (जुआ खेलना) ६०. आकर्षण क्रीड़ा (खोंचने-फेंकने वाली समस्त क्रीड़ाएँ), ६१. बाल क्रीड़ा कर्म (बच्चा खिलाना), ६२. वैनायिकी विद्याज्ञान (विनय और शिष्टाचार), ६३. व्यायामिकी विद्या-ज्ञान (शत्रु पर विजय पाने का कौशल), ६४. वैतालिकी विद्याज्ञान (कुछ विद्वानों ने इसे व्यायामिकी विद्या ज्ञान मानकर खेल, कसरत, आसन, प्राणायाम आदि व्यायाम की कला कहा है)। उपर्युक्त ६४ कलाओं का वर्णन, शिवतंत्र, कामशास्त्र, हिन्दी विश्वकोश, हिन्दी शब्दसागर तथा हिन्दू धर्मकोश के अन्तर्गत लिखित 'हिन्दुत्व' ग्रन्थ में भी संप्राप्य है। अक्षमालिकोपनिषद् में अक्षमाला धारण करते समय विभिन्न देवों को नमन के साथ उहें उसमें प्रतिष्ठित होने की कामना की गई है, उसी क्रम में लोक में वर्णित सात कोटि महामन्त्रों तथा ६४ कला विद्या को भी नमन करके उनसे उस अक्षमाला में प्रतिष्ठित होने की प्रार्थना की गई है-अथोवाच ये मन्त्रा या विद्यास्तेष्यो नमस्ताष्यश्चोनमस्तच्छक्तिरस्याः प्रतिष्ठापयति (अक्ष० ९)। इसे ब्रह्मयोगी ने अपने भाष्य में इस प्रकार लिखा है- अस्मिन् लोके ये सप्तकोटि महामन्त्रा विद्यन्ते याश्च चतुष्प्रष्टिकला विद्या विद्यन्ते ताभ्यो नमः (अक्ष०९ ब्र० भा०)।

१४. जरायुज—द्र०- ब्रह्मविद्याखण्ड-कला।

१५. जालन्धरबन्ध—द्र०- ब्रह्मविद्या खण्ड।

१६. जीव—द्र०-ज्ञानखण्ड-ईश्वर-जीव।

१७. जीवन्मुक्त—द्र०-ज्ञानखण्ड।

१८. तत्त्वनिष्ठ—द्र०- संवित्।

१९. तनुमानसी—द्र०-असंसक्ति।

१००. तर्पण—द्र०-श्राद्ध।

१०१. तारक ब्रह्म—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड-तारकब्रह्म-तारक मन्त्र।

१०२. तारक मन्त्र—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड - तारकब्रह्म-तारक मन्त्र।

१०३. तुर्यगा- द्र०-असंसक्ति।

१०४. तुर्या- द्र०-असंसक्ति।

१०५. तैजस—द्र०- ज्ञानखण्ड -प्राज्ञ।

१०६. त्रिगुणमयी माया- वेदों, शास्त्रों और उपनिषदों आदि में ब्रह्म की शक्ति माया का कई बार विभिन्न रूपों में उल्लेख हुआ है, जिसे कई नामों से अभिहित किया गया है, जैसे- माया, अविद्या, अज्ञान, अव्यक्त, प्रकृति, अलौकिकशक्ति, दैवीशक्ति, महद्ब्रह्म आदि। माया की बहुप्रचलित व्युत्पत्ति 'मा' अर्थात् नहीं, 'या' अर्थात् जो के अनुसार जो तत्त्वतः नहीं है और दिखाई पड़ती है, यही माया है। कुछ विद्वानों ने माया की परिभाषा अन्य प्रकार से करते हुए उसे अन्य नाम भी दिये हैं, जैसे- आचार्य सायण ने मिमीते जानीते, कर्ममीयतेऽनयेति वा माया (ऋ०३.२७.७ सा०भा०) नाम भी दिये हैं, जैसे- आचार्य सायण ने प्राप्ति ज्ञान का ज्ञान प्राप्त होता है वह माया है। निरुक्तकार यास्क अर्थात् जिस शक्ति के द्वारा ज्ञान प्राप्त किया जाता है या कर्म विधान का ज्ञान प्राप्त होता है वह माया है। श्रीमद्भगवद्गीता में ईश्वर की प्रकृति के लिए ने माया को 'प्रज्ञा' कहा है-एतां मायां प्रज्ञां (नि०७.७.२७ दु०व०)। श्रीमद्भगवद्गीता में ईश्वर की प्रकृति के लिए माया तथा अज्ञान शब्द प्रयुक्त हुआ है। गीता ५.१५ में इसके लिए अज्ञान शब्द प्रयुक्त हुआ है-अज्ञानेनावृतं ज्ञानं ते न माया तथा अज्ञान शब्द प्रयुक्त हुआ है। गीता ५.१५ में इसके लिए अज्ञान शब्द प्रयुक्त हुआ है-अज्ञानेनावृतं ज्ञानं ते न मुह्यन्ति जन्तवः। भगवान् श्रीकृष्ण ने माया को त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्त्व, रज और तमोगुण युक्त कहा है, जिसे पार करना दुष्कर बताया है-दैवी हृषी गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते (गी० ७.१४)। गीता में ही १४ वें अध्याय के तीसरे श्लोक में भगवान् श्रीकृष्ण ने त्रिगुणमयी माया को महद्ब्रह्म कहकर उसे योनि कहा है, जिसमें चेतनस्वरूप बीज के आरोपण अर्थात् जड़ प्रकृति और चेतन ब्रह्म के संयोग से समस्त भूतों

त्रिणाचिकेताग्नि

(प्राणियों) की उत्पत्ति बताई है— मम योनिर्महद्वाहा तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम् । संभवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत (गी० १४.३) । इस प्रकार उन्होंने महद्वाहा अर्थात् अपनी त्रिगुणमयी प्रकृति अथवा माया गर्भधात्री और अपने को (ब्रह्म को) सबका पिता कहा है । सत, रज और तम तीनों इसी माया से ही समुद्रूत हैं, जो जीव को देह से बाँधते हैं— सत्त्वं रजस्तम इति गुणः प्रकृति संभवाः । देहिनमव्ययम् (गी० १४.५) । कृष्णोपनिषद् में त्रिगुणात्मक होने के कारण ही माया को त्रिविधा कहा गया है । इस त्रिविधा माया में सात्त्विकी माया रुद्रदेव में विद्यमान है, राजसी माया ब्रह्मा में तथा असुरों में तामसी माया समाविष्ट है— माया सा त्रिविधा प्रोक्ता सत्त्वराजसतामसी । प्रोक्ता..... राजसी । तामसी दैत्यपक्षेषु माया त्रेधा हृदाहता (कृष्ण० ४-५) । विवेक चूड़ामणि में आचार्य शंकर ने भी माया को परमेश्वर की अव्यक्त शक्ति कहकर उसे त्रिगुणमयी विवेचित किया है— अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्तिरनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा । कार्यानुमेया सुधियैव माया, यथा जगत्सर्वमिदं प्रसूयते (विं० च० ११०) । ऋग्वेद में इन्द्र को माया द्वारा विभिन्न स्वरूप धारण करने वाला विवेचित किया गया है अर्थात् माया वह शक्ति है, जिससे अनेक रूप धारण किये जा सकते हैं— इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप इयते (ऋ० ६.४७.१८) । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि माया त्रिगुणमयी है, जो ईश्वर की शक्ति ही है, दोनों के संयोग से सुष्ठु निर्माण होता है । रामपूर्वतापिन्युपनिषद् में ४७ अक्षर वाले मन्त्र 'ॐ नमो भगवते रघुनन्दनाय..... नमः ॐ' से साधकों को त्रिगुणात्मक माया से मुक्ति पाने का तथ्य निर्दिष्ट है— सप्तचत्वारिंशद्वर्णगुणान्तः सगुणः स्वयम् । लिखेत् (रामपूर्व० ४.६४) ।

कृष्णोपनिषद् में उपर्युक्त तीनों गुणों वाली माया के अतिरिक्त वैष्णवी माया का भी उल्लेख है, जिसे अजेया तथा देवकी के रूप में अवतरित बताया गया है— अजेया वैष्णवी माया जप्येन च सुता पुरा । देवकी ब्रह्मपुत्रा सा या वेदैरुपगीयते (कृष्ण० ५-६) । इस वैष्णवी माया को ब्रह्मज्ञान के अतिरिक्त और किसी कर्मयोगादि साधन से न जीता जा सकने वाला बताते हुए ब्रह्मयोगी ने अपने भाष्य में लिखा है— सेयं वैष्णवी माया ब्रह्मज्ञानेतर मन्त्रादि जप्येन च शब्दात् कर्मयोगादिसाधनेनाप्यजेया ब्रह्मज्ञानेन जेतुं शक्येति (कृष्ण० ५- ब्र० भा०) । देवकी को ब्रह्मप्रणव अर्थात् ओंकार का ही अवतार बताते हुए उस ओंकार को ही वैष्णवी माया कहा गया है; क्योंकि ब्रह्मज्ञान का आदि स्रोत ओंकार ही है । समस्त वेदों में इसी की स्तुति की गई है । इसे किसी के द्वारा जीता जा सकना भी संभव नहीं है अर्थात् यह अजेय है । यह ओंकार रूप ब्रह्मविद्या ही ब्रह्मपुत्रा (ब्रह्म की पुत्री) देवकी है, जिसे वैष्णवी माया कहकर निरूपित किया गया है 'ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं, ' सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' इत्यादिवेदैः तुरीयोङ्काररूपेण या उपगीयते सेयं ब्रह्मपुत्रा पुत्री ब्रह्मप्रणवविद्या देवकी भवति (कृष्ण० ६- ब्र० भा०) । इसी प्रकार सीतोपनिषद् में भगवती सीता को भी प्रकृति का मूल कारण होने से मूल प्रकृति कहा गया है । प्रणव 'ॐ' (ओंकार) प्रकृति स्वरूप होने से सीता जी प्रकृति कहलाती है । त्रिवर्णात्मक नाम वाली और ३०कार स्वरूपा होने से सीता साक्षात् मायामयी अर्थात् योगमाया निरूपित हैं— मूलप्रकृतिरूपत्वात्सा सीता प्रकृतिः स्मृता । प्रणव प्रकृतिरूपत्वात्सा सीता प्रकृतिरूच्यते । सीता इति त्रिवर्णात्मा साक्षात्मायामयी भवेत् (सीता० १-३) ।

१०७. त्रिणाचिकेताग्नि— द्र०- ज्ञानखण्ड 'नाचिकेताग्नि' ।

१०८. त्रिपुरा— द्र०- कामकला ।

१०९. त्रिवृत् स्तोम— वेदों, शास्त्रों में स्तोम शब्द का कई बार प्रयोग हुआ है, जिसके स्तुति, गुणगान, यज्ञ, समूह, राशि आदि कई अर्थ हैं; किन्तु प्रायः स्तोम का अर्थ स्तुतिपरक ही लिया जाता है । सामगान के अन्तर्गत स्तुतिपरक छन्द ही स्तोम हैं । जैमि० १.४३.६ में यह तथ्य इन शब्दों में उपन्यस्त है— यद्ग्रहचित्तद्वेत्था३ इति स्तोमो वा एष तस्य साम्नो यद्यद्यं सामोपास्मह इति । कालान्तर में स्तुति की विशेष पद्धति को स्तोम माना जाने लगा । तैत्ति०सं० ३.१.२४ तथा वाज०सं० ९.३३,१०.१० अदि में इसका उल्लेख हुआ है । श्री कुन्दनलाल शर्मा द्वारा लिखित यजुर्वेद तथा सामवेद संहिताएँ, नामक ग्रन्थ में 'स्तोम' की परिभाषा इस प्रकार विवेचित है— 'सामगायकों द्वारा यज्ञ में प्रयोज्य तृचों (तीन-तीन मन्त्रों) की तीन-तीन आवृत्ति से सम्पादित अभीष्ट संख्या वाले मंत्र समूह को स्तोम संज्ञा से स्मरण किया जाता है ।' तीन ऋचाओं की अभीष्ट आवृत्तियों की एक प्रक्रिया पर्याय कहलाती है, तीन पर्याय मिलकर अभीष्ट स्तोम की रचना करते हैं । इन स्तोमों की संख्या सम्पादन प्रक्रिया 'विष्णुति' कहलाती है । स्तोम प्रायः ९ प्रकार के होते हैं, जो इस प्रकार हैं— त्रिवृत्, पञ्चदश, सप्तदश, एकविंश, त्रिणव, त्रयस्त्रिंश, चतुर्विंश, चतुश्शत्वारिंश, आष्टाचत्वारिंश । इनमें त्रिवृत् का अर्थ है तीन बार मोड़ा हुआ । इसीलिए अथवंवेद में यह शब्द उस प्रकार (तीन प्रकार मोड़कर) बने रक्षा

कवच या मणि के लिए प्रयुक्त हुआ है। बहुत हिन्दीकोश में करधनी जो तीन धारों से बनती है, को भी त्रिवृत् कहा है। एक प्रकार के योगफल का नाम भी त्रिवृत् है— मखं वै त्रिवृत् स्तोमानाम् (तां० ब्रा० १७.३.२)। ताण्ड्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय आदि ब्राह्मण ग्रन्थों में तेज, ब्रह्म, ब्रह्मवर्चस आदि को त्रिवृत् कहा है—तेजो वै त्रिवृत् (तां० ब्रा० २.१७.२), ब्रह्मवर्चसं वै त्रिवृत्' (तां० ब्रा० २७.१.१) तथा 'ब्रह्म वै त्रिवृत्' (तां० ब्रा० २.१६.४)। मन्त्रों में भी कई बार, कई पद्धतियों से उच्चारण करके तेज, शक्ति भर देने को त्रिवृत् कहा गया है। त्रिवृत् स्तोम उसे कहते हैं, जिस स्तोम में मन्त्रों की आवृत्ति उनके अध्ययन क्रम से ही तीन बार करके नौ मन्त्रों की संख्या सम्पन्न की जाती है। त्रिवृत् स्तोम में ३ विष्टियाँ (स्तोम में संख्या सम्पादन की प्रक्रियाएँ) होती हैं, जो उच्चती, परिवर्तिनी और कुलायनी नामों से जानी जाती हैं। इन्हीं प्रक्रियाओं से त्रिवृत् स्तोम का पाठ किया जाता है। गरुडोपनिषद् में गरुड़देव के शिर को त्रिवृत् स्तोम और नेत्रों को गायत्र अर्थात् साम की संज्ञा प्रदान कर इनका मानवीकरण किया गया है—सुपण्डितसि गरुत्मान्त्रिवृत्ते शिरो गायत्रं चक्षुः स्तोम आत्मा सामसुवः पत (गरुड०-११)।

११०. त्रैपुर—द्र०-कामकला।

१११. त्र्यक्षरी विद्या— आध्यात्मिक साधनाओं की विभिन्न विद्याएँ और पद्धतियाँ हैं। अभीष्ट प्रयोजनों के लिए पृथक्-पृथक् शक्तियों की अलग-अलग ढंगों से साधना, पूजा, अर्चना एवं क्रिया भी की जाती है। इन पूजा अर्चनाओं और क्रियाओं की उन-उन विधियों को ही साधना क्षेत्र में विद्या कहते हैं। ये विद्याएँ हैं—त्र्यक्षरी विद्या, श्रीविद्या, महाविद्या, सनातनी विद्या, सौभाग्यलक्ष्मी विद्या आदि। सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् में त्र्यक्षरी विद्या, श्रीविद्या सौभाग्यलक्ष्मी (वैभव-धन-धान्य) प्राप्त करने के लिए विहित विद्या को ही 'सौभाग्यलक्ष्मी विद्या' कहा गया है। इस विद्या के अन्तर्गत ही 'श्री' सूक्त के वैभवशाली अक्षरों को आधार मानकर (लक्ष्मी) देवी के ध्यान, मन्त्र, चक्र आदि को प्रकट किया गया है। उपनिषद् के प्रारम्भ में ही देवों ने भगवान् श्री नारायण से सौभाग्य लक्ष्मी विद्या जानने की जिज्ञासा करते हुए निवेदन किया है—अथ भगवन्तं देवा ऊचुर्हे भगवन्नः कथय सौभाग्यलक्ष्मीविद्याम् (सौ०ल० १.१)। तदुपरान्त भगवान् ने पूरे उपनिषद् में इस विद्या को समझाया है, जो विस्तार से वहाँ द्रष्टव्य है। भगवती सौभाग्यलक्ष्मी की पूजा में बीज कोश में श्री बीज (जिसे श्रीं) कहा गया है, के लेखन मन्त्रलेखन तथा दशाङ्ग युक्त श्रीचक्र जिसमें प्रणव, पट्कोण, भूवृत्, अष्टदल, भूवृत्, द्वादशदल, भूवृत्, षोडशदल, भूवृत् तथा निर्भूवृत् होते हैं, का निर्माण करने का विधान है— तत्पीठकर्णिकायां ससाध्यं श्रीबीजम्।मातृकया च श्रियं यन्त्राङ्गदशकं च विलिख्य श्रियमावाहयेत् (सौ०ल० १.५)। सौभाग्यलक्ष्मी प्राप्त करने की विद्या ही 'श्रीविद्या' अथवा लक्ष्मी विद्या कहलाती है, जो उच्चस्थिति के निष्काम साधकों (अनुचित कामना विहीन साधकों) को प्राप्त होती है— निष्कामानप्रेव श्रीविद्यासिद्धिः (सौ०ल० १.११)। बहुचोपनिषद् में आदिशक्ति-देवी को ही 'षोडशी' श्रीविद्या और ब्रह्मानन्द कला (अर्थात् ब्रह्मानन्दस्वरूप कला) कहा गया है— सैषा षोडशी श्रीविद्याब्रह्मानन्दकलेति (बह० ८)।

इसी प्रकार तीन अक्षरों वाली विद्या को कोशग्रन्थों में त्र्यक्षरी विद्या कहा गया है। वैसे तो त्र्यक्षर अकार, उकार और मकार (३०) को कहते हैं; किन्तु तन्त्रोक्त त्रिवर्णात्मक मन्त्र अथवा उस यन्त्र को भी त्र्यक्षर कहते हैं, जिसमें तीन अक्षर हों। सौभाग्य लक्ष्मी उपनिषद् में 'श्रीं, ह्रीं, श्रीं' की पूजन विधि को त्र्यक्षरी विद्या कहकर उसी के समान एकाक्षरी विद्या का पूजन बताया है और श्री, लक्ष्मी, वरदा, विष्णुपती, वसुप्रदा आदि नाम मन्त्रों द्वारा शक्ति की पूजा करने का निर्देश दिया गया है— श्री लक्ष्मीर्वरदा विष्णुपती वसुप्रदाद्विजतुमिः (सौ०ल० १.११)। विभिन्न विद्याओं की विद्या उपादेयता, गुणों और क्रिया की दृष्टि से उन्हें विशेषण प्रदान किये जाते हैं; जैसे—प्राण संवर्धक और संरक्षण की विद्या को गायत्री महाविद्या, सूर्य सम्बन्धी कल्पाणकारी विद्या को सावित्री महाविद्या कहते हैं। इसी प्रकार योगकुण्डल्युपनिषद् को गायत्री महाविद्या, सूर्य सम्बन्धी खेचरीविद्या (जिसका वर्णन १०८ उपनिषद् ब्रह्मविद्याखण्ड के परिभाषाकोश परिशिष्ट में किया जा में खेचरीमुद्रा या खेचरीविद्या (जिसकी सिद्धि से क्षुधा, निद्रा, तृष्णा, मूर्छा आदि से त्राण मिलता है और चुका है) को महाविद्या कहा गया है, क्योंकि इसकी सिद्धि से क्षुधा, निद्रा, तृष्णा, मूर्छा आदि से त्राण मिलता है और साधना क्षेत्र के समस्त विष्णु समाप्त हो जाते हैं। साधकों को चेतावनी दी गई है कि वे इस महाविद्या को विधिवत् जानकर साधना क्षेत्र के समस्त विष्णु समाप्त हो जाते हैं। नशयन्ति सर्वविद्यानि प्रसीदन्ति च देवताः। ही अभ्यास करें—तस्य श्रीखेचरीसिद्धिः स्वयमेव प्रवर्तते। नशयन्ति सर्वविद्यानि प्रसीदन्ति च देवताः। वलीपलितनाशश्च भविष्यति न संशयः। एवं लब्ध्वा महाविद्यामभ्यासं कारयेत्तः (यो०कु० २.२३-२४)।

११२. दक्षिणा—द्र०-ज्ञानखण्ड।

११३. दिग्बन्ध— अनुष्ठान, यज्ञ तथा विशिष्ट साधना सम्बन्धी कृत्यों में प्रायः आसुरी शक्तियों द्वारा विष्णु भी प्रस्तुत किये

जाते रहे हैं, जिसके कारण वे पूर्ण नहीं हो पाते और मध्य में ही छोड़ने पड़ते हैं। इस स्थिति से निपटने के लिए ऋषियों ने मन्त्रों अथवा विशिष्ट शक्तियों द्वारा दिशाओं को बाँध देने के लिए 'रक्षा विधान' की व्यवस्था की थी। सभी दिशाओं को कीलित कर देने अथवा बाँध देने की प्रक्रिया ही दिग्बन्ध या दिग्बन्धन कहलाती है। गरुडोपनिषद् में भूः, भुवः, स्वः तथा ॐ से दिग्बन्धन की क्रिया सम्पन्न करने का निर्देश है—भूर्भुवः सुवरोमिति दिग्बन्धः (गरुड०४)। इसी प्रकार लाङ्गूलोपनिषद् में पाशुपत मंत्र से दिग्बन्ध करना निर्दिष्ट है—पाशुपतेन दिग्बन्धः (लाङ्गूल०२)।

११४. दिग्बन्धन—द्र०- दिग्बन्ध।

११५. दैवी स्फुरणा—दैवी स्फुरणा में दैवी और स्फुरणा दो शब्द हैं, जिनमें दैवी का अर्थ है— देवता सम्बन्धी, ईश्वरीय अथवा आकस्मिक और स्फुरणा (स्फुरण) का अर्थ काँपना, हिलना, फड़फड़ाना और मन में यकायक कोई विचार आना आदि हैं। इनमें इन दोनों शब्दों के योग करने पर प्रायः इसका अर्थ अचानक मन में किसी दैवी विचार, संदेश, प्रेरणा, इलाहाम आदि आने के रूप में लिया जाता है; किन्तु जिन साधकों का अन्तःकरण शुद्ध, निर्मल, निर्विकार होता है, उनको विशेष समयों पर विशिष्ट उद्देश्य के लिए इस प्रकार के संदेश-स्फुरण आते रहते हैं, जो कभी-कभी भयंकर संकट से मुक्ति दिलाते हैं तथा महान् कार्य करने की प्रेरणा भी प्रदान करते हैं। महोपनिषद् में निर्मल आत्मा में दैवी स्फुरणा उत्पन्न होने का संकेत इन शब्दों में प्रष्टव्य है— तथैवात्मात्मशक्त्यैव स्वात्मन्येवैति लोलताम्। क्षणं स्फुरति सा दैवी सर्वशक्तिया तथा (महो० ५.१२०)।

११६. द्युलोक— द्युलोक का अभिप्राय स्वर्गलोक से है, जिसकी परिभाषा हिन्दी विश्वकोश में इस प्रकार विवेचित है—
द्यौरेव लोकः अर्थात् स्वर्ग लोक। द्युलोक के लिए दिव शब्द का उपयोग भी होता है, जिसे कई बार दिन के अर्थ में भी लिया जाता है। द्युलोक के देवता द्यौ हैं, इसीलिए द्यौ को द्युलोक भी कहते हैं। द्युलोक का उल्लेख चारों वेदों में प्राप्त होता है। ऋग्वेद में द्यौ शब्द ५०० बार प्रयुक्त हुआ है। इनमें कई बार स्थूल आकाश के रूप में इसका प्रयोग हुआ है। पृथ्वी को मातृस्वरूप और द्यौ को पिता स्वरूप माना गया है— द्यौऽप्यितः पृथिविमातरधुक्(ऋ० ६.५१.५), मधु द्यौस्तु नः पिता (ऋ० १.९०.७)। उपर्युक्त अर्थों के अतिरिक्त 'द्यू' के आकाश, अग्नि, तीक्ष्णता आदि अर्थ भी होते हैं। नृसिंह पूर्वतापिन्युपनिषद् में मन्त्रराज अनुष्टुप् से सृष्टि संरचना का उल्लेख करते हुए उस मन्त्र के द्वितीय चरण से यक्ष, गन्धर्व और अप्सराओं से सेवित अन्तरिक्ष और तृतीय चरण से वसु, रुद्र और आदित्यादि देवताओं से सेवित द्युलोक का निर्माण बताया गया है—यक्षगन्धर्वाप्सरोगणसेवितमन्तरिक्षं तत्साम्नो द्वितीयं पादं जानीयाद्वसुरुद्रादित्यैः सर्वेदेवैः सेवितं दिवं तत्साम्नस्तृतीयं पादं जानीयात् (न०पूर्व० १.३)।

११७. द्रोण कलश—द्र०- यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ।

११८. द्वन्द्वातीत—द्र०- कालातीत।

११९. धर्म—द्र०-ज्ञानखण्ड-धर्म-अधर्म।

१२०. धिष्य—द्र०-यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ।

१२१. नवचक्र—यौगिक ग्रन्थों तथा योग सम्बन्धी उपनिषदों में शरीरान्तर्गत सूक्ष्म रूप से स्थित विभिन्न चक्रों का वर्णन है। वैसे तो पद्मचक्र और सप्तचक्र सबसे अधिक प्रच्छात हैं, जिनका वर्णन १०८ उपनिषद् ज्ञानखण्ड परिभाषाकोश परिशिष्ट में किया जा चुका है। कुछ उपनिषदों में चक्रों का और सूक्ष्म उल्लेख है, जिसके अनुसार चक्रों की संख्या नौ मानी गई है। योगराजोपनिषद् तथा सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् में कुछ ही पाठभेद से नौ चक्रों का उल्लेख है। प्रथम चक्र 'ब्रह्मचक्र' कहलाता है, जो भग-योनि (योनि-त्रिकोण) आकृति का है— नवस्वेव हि चक्रेषु लयं कृत्वा महात्मभिः। प्रथम ब्रह्मचक्र स्यात् त्रिवावृत्तं भगाकृति (यो०रा० ५)। अपान के स्थान पर कामरूपी मूलकन्दाख्यं कामरूपं च तज्जगुः। तदेव वद्विकुण्डं स्यात् तत्त्वकुण्डलिनी तथा (यो०रा०६)। उसी के बीच स्वाधिष्ठान नामक द्वितीय चक्र है—स्वाधिष्ठानं द्वितीयं स्याच्चक्रं तमध्यां विदुः (यो०रा० ७)। तीसरा चक्र नाभिचक्र है, इसके अन्दर संसार की स्थिति निरूपित है। इसे ही मणिपूर चक्र कहते हैं। चतुर्थ चक्र हृदय में अधोमुख रूप में है, इसे हृदयचक्र या अनाहत चक्र के नाम से जाना जाता है। पाँचवाँ कण्ठ चक्र है, जिसे विशुद्धाख्य चक्र भी कहते हैं, इसके वाम भाग में इड़ा, दक्षिण में पिङ्गला एवं मध्य में सुषुप्ता नाड़ी की स्थिति कही गई है—पञ्चमं कण्ठचक्रं स्यात् तत्र वामे इड़ा भवेत्। दक्षिणे पिङ्गला ज्ञेया

सुषुप्ता मध्यतः स्थिता (यो०रा० १२)। छठा तालुका चक्र है, जिसे घण्टिका स्थान भी कहते हैं। सातवाँ भूचक्र है, जिसे विद्या एवं बुद्धि स्थल भी कहते हैं, इसी को आज्ञाचक्र भी कहा जाता है—सप्तमं भूचक्रमद्विष्टमात्रम्.....भवत्याज्ञाचक्रम् (सौ०ल० ३.७)। निर्वाण सूचक आठवाँ चक्र ब्रह्मरन्ध्र कहलाता है—अष्टमं ब्रह्मरन्ध्रं स्यात् परं निर्वाणसूचकम्।विमुच्यते (यो०रा० १६)। सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् में इस अष्टम ब्रह्मरन्ध्र को निर्वाण चक्र एवं परब्रह्म चक्र भी कहा गया है—ब्रह्मरन्ध्रं निर्वाणचक्रम्।भवतीति परब्रह्मचक्रम् (सौ०ल० ३.८)। नवाँ चक्र घोडशदल वाला व्योम चक्र कहलाता है, इसे ही आकाश चक्र, शून्य चक्र, महाशून्य चक्र आदि नामों से अभिहित किया गया है—नवमं व्योमचक्रं स्यादश्रैः घोडशभिर्युतम् (यो०रा० १७)। सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् में इस प्रकार कहा गया है—नवममाकाशचक्रम्। तत्र घोडशदलपदम्मूर्ध्वमुखं (सौ०ल० ३.९)। इसी उपनिषद् के द्वितीय खण्ड के नवें मन्त्र में प्राणवायु द्वारा चक्रवेधन की प्रक्रिया में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूरक आदि चक्रों को वेधने के पश्चात् महाशून्य (आकाश चक्र) में प्रवेश करने और तदुपरान्त चित्तानन्द की स्थिति में पहुँचने व उसे भी भेदकर समस्त पीठों (कामरूप, उद्रीयाण या उड़िडयान, जालन्धर एवं पूर्णगिरि आदि पीठों-चक्रों के मध्य स्थित शक्ति केन्द्रों) में गतिशील होने का उल्लेख है—महाशून्यं ततो याति सर्वसिद्धिसमाश्रयम्। चित्तानन्दं ततो भित्त्वा सर्वपीठगतानिलः (सौ०ल० २.९)। उपर्युक्त नवचक्रों के सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन योगराजोपनिषद् एवं सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् में देखा जा सकता है—अन्य योग ग्रन्थों व उपनिषदों में भी इनका वर्णन है।

१२२. नाद- द्र०- ज्ञानखण्ड।

१२३. नारसिंह मन्त्र- द्र०- महाचक्र-सुदर्शन चक्र।

१२४. नारायण- द्र०- ज्ञानखण्ड।

१२५. निरंजन-द्र०- ब्रह्मविद्या खण्ड।

१२६. निरहंकारिता -द्र०- ब्रह्मविद्या खण्ड।

१२७. निर्विकल्पक समाधि-द्र०-ज्ञान खण्ड -समाधि।

१२८. निर्विशेषब्रह्मा- द्र०- कालातीत।

१२९. निवृत्ति-द्र०-ज्ञानखण्ड-मुक्तिमोक्ष।

१३०. निष्कलंक-द्र०-कालातीत।

१३१. नीलकण्ठ-द्र० -अर्धनारीश्वर।

१३२. पञ्च आकाश- द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड-व्योम पञ्चक।

१३३. पञ्च तन्मात्राएँ- द्र० - पञ्चभूत (पञ्चतत्त्व) पंचीकरण।

१३४. पञ्चभूत (पञ्चतत्त्व) पंचीकरण— सम्पूर्ण सृष्टि पञ्च तत्त्वों अथवा पञ्चमहाभूतों से निर्मित मानी जाती है। यह शरीर भी पंचतत्त्वों का ही है। ये पाँच तत्त्व पृथिवी, जल, अग्नि, आकाश और वायु हैं। प्रख्यात कोश ग्रन्थ वाचस्पत्यम् में इस सन्दर्भ में उल्लेख है—पञ्चानां तत्त्वानां समाहारः। पञ्चसु भूतेषु स्वरोदयः। तत्र ग्रन्थों में पञ्च मकार-मध्य, मांस, मत्स्य, मुद्रा और मैथुन को पञ्चतत्त्व कहा गया है—मद्यं मांसं तथा मत्स्यो मुद्रा मैथुनमेव च। पञ्च तत्त्वमिदं प्रोक्तं देविः। निर्वाणहेतवे (तन्त्रसार संग्रह)। अन्य तत्र ग्रन्थों में गुरुतत्त्व, मनस्तत्त्व, मन्त्रतत्त्व, देवतत्त्व और ध्यानतत्त्व इन्हें पञ्चतत्त्व माना गया है—गुरुतत्त्वं पञ्चतत्त्वं मनस्तत्त्वं सुरेश्वरी। देवतत्त्वं ध्यानतत्त्वं मन्त्रतत्त्वं और प्रकीर्तिम् (निर्वाण तन्त्र)। सृष्टि में विद्यमान जिन पञ्च तत्त्वों का वर्णन है, वे पृथिवी आदि पञ्चतत्त्व हैं। रामचरित प्रकीर्तिम् (निर्वाण तन्त्र)। सृष्टि में विद्यमान जिन पञ्च तत्त्वों का उल्लेख इन शब्दों में हुआ है—छिति जल पावक गगन मानस के किञ्चिन्न्या काण्ड में एक चौपाई में इन तत्त्वों का उल्लेख इन शब्दों में हुआ है—समीरा। पञ्च रचित अति अथम सरीरा॥ त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में इस अखिल जगत् की उत्पत्ति के क्रम में भी समीरा। पञ्च रचित अति अथम सरीरा॥ अव्यक्तान्महत्। महतोऽहंकारः। अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि। पञ्चतत्त्वों का उल्लेख मिलता है—ब्रह्मणोऽव्यक्तम्। अव्यक्तान्महत्। महतोऽहंकारः। अहंकारात् पञ्चतन्मात्राणि। पञ्चमहाभूतेभ्योऽखिलं जगत् (त्रिंश्चारा० ३) अर्थात् सर्वप्रथम ब्रह्म से अव्यक्त पञ्चतन्मात्रेभ्यःपञ्चमहाभूतानि। पञ्चमहाभूतेभ्योऽखिलं जगत् (त्रिंश्चारा० ३) अर्थात् सर्वप्रथम ब्रह्म से अव्यक्त पञ्चतन्मात्राएँ, पञ्च तन्मात्राओं से पञ्च महाभूत उत्पन्न हुआ, अव्यक्त से महत् तत्त्व, महतत्त्व से अहंकार, अहंकार से पञ्चतन्मात्राएँ, पञ्च तन्मात्राओं से पञ्च महाभूत (पञ्चभूत-पञ्चतत्त्व) और पञ्चमहाभूतों से यह अखिल विश्व उत्पन्न हुआ। सांख्य मत में यह क्रम इस प्रकार है—

प्रकृति से महत्, महत् से अहंकार, अहंकार से ग्यारह इन्द्रियाँ और पञ्चतन्मात्राओं से पञ्चमहाभूतों (पञ्चतत्त्वों) का आविर्भाव हुआ, जिनसे यह सम्पूर्ण जगत् बना। पञ्च तन्मात्राएँ पञ्चमहाभूतों के ही सूक्ष्मरूप हैं। पञ्चतत्त्वों के विषय - शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पञ्च तन्मात्राएँ हैं। मोटे तौर पर आकाश का विषय - शब्द, वायु का स्पर्श, अग्नि (तेज) का रूप, जल का रस और पृथिवी का विषय गन्ध है; किन्तु यदि और सूक्ष्मावलोकन करें तो प्रत्येक तत्त्व में अन्य तत्त्व और उनकी तन्मात्राएँ समाहित होती हैं, इससे उसके गुणों में भी वृद्धि हो जाती है। जैसे-आकाश की तन्मात्रा शब्द है, इसमें शब्द तन्मात्रा का आधिक्य है। इसीलिए उसका गुण भी शब्द है। वायु में शब्द और स्पर्श तन्मात्रा का आधिक्य होने से उसके गुण शब्द, स्पर्श हैं। तेज (अग्नि) में शब्द, स्पर्श और रूप तन्मात्राओं का प्रचुर्य है, अतः यही इसके गुण हैं। जल (अपूर्व) तत्त्व में शब्द, स्पर्श, रूप और रस तन्मात्राएँ अधिक हैं, इसीलिए ये ही इसके गुण हैं तथा पृथिवी तत्त्व में शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध तन्मात्राओं की प्रचुरता होने से ये सभी पृथिवी के गुण हैं। वेदान्तमत के पञ्चीकरण सिद्धान्त के अनुसार पाँच तत्त्वों में प्रत्येक प्रमुख तत्त्व का आधा (१/२) भाग तथा शेष सभी तत्त्वों का अष्टमांश (१/८ भाग) मिश्रित होने पर ही वह तत्त्व बनता है। इस प्रकार सभी तत्त्व मिलने पर यह स्थूल शरीर या जगत् निर्मित होता है। इस विषय में वेदान्त का यह श्रोक प्रसिद्ध है- द्विधा विधाय चैकैकं चतुर्था प्रथमं पुनः। स्वस्वेतर द्वितीयांशीर्योजनात् पञ्च पञ्च ते (वेऽविंश० ८८) अर्थात् पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश तत्त्वों के प्रत्येक के पहले दो भाग करके प्रत्येक के द्वितीयांश के ४-४ भाग किये जाते हैं। तदुपरान्त उन सबको प्रत्येक तत्त्व के दूसरे वाले अर्धभाग में मिला देने से प्रत्येक तत्त्व में अन्य सभी चार तत्त्वों के १/८, १/८ भाग मिलकर (पाँच तत्त्व वाला) एक पूर्ण तत्त्व बन जाता है। त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् के इस मन्त्र में पञ्चीकरण की प्रक्रिया द्रष्टव्य है- अथ व्योमानिलानलजलान्नान् पञ्चीकरणमिति (त्रिंब्रा० १.९)। पंचीकरण की यह अवधारणा त्रिशिखि ब्राह्मणोपनिषद् में दूसरे शब्दों में भी दी गई है। वहाँ कहा गया है कि ये पञ्चभूत १६ कलाओं से विनिर्मित हैं- पृथग्भूते षोडशकलाः स्वार्थं भागान्प्रान्कमात्। रसपायुनभः क्रमात् (त्रिंब्रा० २.१) अर्थात् प्रत्येक (सूक्ष्म) तत्त्व के अर्धभाग से तथा दूसरे तत्त्वों - अन्तःकरण (आकाश), व्यान (वायु), नेत्र (अग्नि), रस (जल) एवं गुदा (पृथिवी) आदि के संयोग से १६ कलायुक्त (स्थूल) आकाशादि बने हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि पंचीकरण के अंतर्गत उक्त धारणा में जहाँ १/२ (आधा) एक तत्त्व तथा शेष चार के १/८ अंश मिलकर पूरा तत्त्व बनता है, वहाँ यहाँ एक तत्त्व का १/२ तथा शेष के २/१६ अंश मिलकर पूरा तत्त्व बनाते हैं। सारांशतः कह सकते हैं कि दोनों स्थानों में शब्द का अंतर है, तथ्य का अंतर नहीं है। देव्युपनिषद् में देवी ने अपने पञ्चभूत और अपञ्चभूत अर्थात् पाँच तत्त्वों का सम्मिलित रूप और पाँच तत्त्वों का स्वतंत्र रूप कहा है। इससे इसी पञ्चीकरण सिद्धान्त की पुष्टि होती है, जिसमें पाँच स्वतन्त्र तत्त्व या भूत उपर्युक्त अनुपात में मिलकर एक तत्त्व बनने की मान्यता है- अहं पञ्च भूतान्यपञ्च भूतानि (देवी० ३)। जाबालदर्शनोपनिषद् में शरीर स्थित अङ्ग विशेषों में तत्त्वों की प्रधानता के सन्दर्भ में इस प्रकार उल्लेख है- देहमध्यगते व्योम्प्रिं ब्रह्माकाशं तु धारयेत्। प्राणे बाह्यानिलं तद्वत् ज्वलने चाग्रिमौदरे। आकाशांशस्तथा प्राज्ञ मूर्धांशः परिकीर्तिः (८.१-५) अर्थात् तत्त्वाधिक्य की दृष्टि से पाँच से घुटने तक का भाग (पृथिवी तत्त्व के आधिक्य के कारण) पृथिवी तत्त्व का भाग कहलाता है, घुटने से गुदा तक जलीय अंश, गुदा से हृदय तक अग्न्यंश, हृदय से भौंहों तक वाय्वंश तथा मस्तक क्षेत्र आकाशांश कहा गया है। इन तत्त्वों में देवों के ध्यान के सन्दर्भ में वर्णन है कि पृथिवी तत्त्वांश में ब्रह्मा का, जल तत्त्वांश में विष्णु का, अग्नितत्त्वांश में महेश का, वायु तत्त्वांश में ईश्वर का तथा आकाशतत्त्वांश में सदाशिव का ध्यान करना चाहिए-ब्रह्माणं पृथिवी भागे विष्णुं तोयांशके तथा। अग्न्यंशे च महेशानमीश्वरं चानिलांशके। आकाशांशे महाप्राज्ञ धारयेत् सदाशिवम् (जांदर्शन० ८.५-६)।

१३५. पदार्थ भावना - द्र०-असंसक्ति।

१३६. परम गति- द्र०- ज्ञानखण्ड।

१३७. परम ज्योति - द्र०- ब्रह्मविद्या खण्ड।

१३८. परम पद - द्र०-ज्ञानखण्ड।

१३९. परम व्योम - द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।

१४०. परमहंस - द्र०- ब्रह्मविद्या खण्ड।

१४१. परमाकाश - द्र०- ब्रह्मविद्याखण्ड-व्योमपञ्चक ।
 १४२. परमेश्वरी शक्ति - द्र०- ब्रह्मविद्याखण्ड-कुण्डलिनी ।
 १४३. परलोक - द्र०- ज्ञानखण्ड-लोक, परलोक, सप्तलोक ।
 १४४. परा-अपरा विद्या - द्र०- ज्ञान खण्ड ।

१४५. परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी —विचारों और भावनाओं को अभिव्यक्त करने की प्रक्रिया वाणी द्वारा सम्पन्न होती है । हिंदिविंको० में वाणी के अर्थ में सरस्वती, वचन, मुँह से निकले हुए सार्थक शब्द, वाक्शक्ति, वागिन्द्रिय आदि शब्द उल्लिखित हैं । उपर्युक्त अर्थों से वाणी के मुखर स्वरूप की ही पुष्टि होती है, जिससे शब्द स्पष्टतः सुनाई पड़ते हैं । यह वाणी का अत्यन्त स्थूल रूप है । आर्थ ग्रन्थों में वाणी के चार रूपों का उल्लेख है । ये हैं- परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामक वाणियाँ । इनमें परा वाणी मूलाधार चक्र से उठने वाले नाद को कहते हैं । इसे पश्यन्ती वाणी तब कहते हैं, जब वह नाद मूलाधार चक्र से उठकर हृदय में पहुँच जाता है । यही नाद जब आगे बढ़कर बुद्धि से संयुक्त होता है, तब मध्यमा वाणी कहलाता है । इसका उल्लेख अलंकार कौस्तुभ नामक ग्रन्थ का सन्दर्भ देते हुए हिंदिविंको० खं० १३ पृ० १६५ में इस प्रकार है—मूलाधारात्प्रथममुदितो यस्तु तारः पराख्यः । पश्चात्पश्यन्त्यथ हृदयगो बुद्धिसुद्धमध्यमाख्यः । यही नाद जब कण्ठ में आकर वागिन्द्रिय द्वारा प्रस्फुटित होकर सबके सुनने योग्य होता है, तब इसे ही वैखरी वाणी कहते हैं । वेदों में कई मंत्रों में वाक् (वाणी) अथवा सरस्वती की स्तुति की गयी है । निरुक्तकार यास्कमुनि ने वाक् के सम्बन्ध में इस प्रकार लिखा है— वाक् कस्मात् ? वचे: (नि० २३) । स च वाक् शब्दः 'वच् परिभाषणे' (निंदु० वृ० २३) अर्थात् वाक् शब्द वच् धातु से निष्पत्र है, जिसका प्रयोग परिभाषण-बोलने के अर्थ में होता है । आचार्य सायण ने भी वाक् (वाणी) के उपर्युक्त चार प्रकारों का उल्लेख अपने अथर्ववेद भाष्य में किया है—सर्वा हि वाक् परापश्यन्तीमध्यमावैखरीरूपचतुरवस्थापन्ना (अर्थव० ७.४४.१ सा० भा०) । निरुक्तकार ने वाणी के चार प्रकारों में मध्यमा वाणी को वाक् की संज्ञा प्रदान की है— तस्मान्माध्यमिकां वाचं मन्यन्ते (नि० ११.२७) । माध्यमिका या मध्यमा को सरस्वती भी कहा गया है—सरस्वती माध्यमिका वाक् (नि० ११.२७) । श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने अपनी विभूतियों का वर्णन करते हुए अपने को वाक् (वाणी) भी कहा है— मृत्युः सर्वहरश्चाहं श्रीर्वाक्त्रा क्षमा (गीता० १०.३४) । यहाँ भी वाक् से अभिप्राय परा आदि चार वाणियों से है । अक्षमालिकोपनिषद् में अक्षमालिका को परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी वाणी स्वरूप मानकर उसे नमन किया गया है— नमस्ते परारूपे नमस्ते पश्यन्तीरूपे नमस्ते मध्यमारूपे नमस्ते वैखरीरूपे नमस्ते नमस्ते (अक्ष० १५) । कई साधक आहार नियमन तथा निरन्तर सत्य बोलने के अभ्यास से वाक् सिद्धि कर लेते हैं, तब उनके मुख से जो भी निकल जाये, वह सत्य ही होता है । इसके लिए कई यौगिक क्रियाएँ भी होती हैं । त्रिशिखिब्राह्मणोपनिषद् में उल्लेख है कि ब्राह्ममुहूर्त में जिह्वा द्वारा वायु को खींचकर पीने से तीन मास में वाक् सिद्धि हो जाती है तथा छः मास में महारोग (आयुर्वेद में वर्णित आठ भारी रोग—उन्नाद, क्षय, दमा, कोढ़, मधुमेह, पथरी, उदरोग और भगंदर महारोग कहलाते हैं) से मुक्ति मिल जाती है— नासाग्रे ब्राह्मे मुहूर्ते संप्राप्ते वायुमाक्ष्य जिह्वया । पिबतस्त्रिषु मासेषु वाक्सिद्धिर्महती भवेत् । अभ्यासतश्च षण्मासाम्भारोगविनाशनम् (त्रिंशा० २.१११-११२) । ध्यातव्य है कि ये यौगिक साधनाएँ किसी समर्थ गुरु के प्रत्यक्ष संरक्षण में ही करनी चाहिए, केवल पुस्तकों में पढ़कर प्रारम्भ कर देने से लाभ की अपेक्षा हानि की अधिक आशंका रहती है ।

१४६. पर्जन्य—द्र०-ज्ञानखण्ड ।
 १४७. पशुपति—द्र०-अर्धनारीश्वर ।
 १४८. पिंगला—द्र०-ज्ञानखण्ड-सुषुप्तानाड़ी ।
 १४९. पितृगण—द्र०-ज्ञानखण्ड-पूर्वज-गोत्रज ।
 १५०. पुण्यकर्म—द्र०-ज्ञानखण्ड-पाप-पुण्य ।
 १५१. पुरश्रण—पुरश्रण शब्द दो पदों से मिलकर बना है—पुरः+चरण=पुरश्रण । पुरः का अर्थ है पूर्व को अर्थात् आगे की ओर तथा चरण का अर्थ है चलना । चलने से पूर्व (पहले) की जो तैयारी है, उसे पुरश्रण कहते हैं । प्रख्यात हिन्दी विश्वकोश में पुरश्रण की व्युत्पत्ति इस प्रकार विवेचित है—'पुरस् चर भावे ल्युट्' अर्थात् अग्रत आचरण । इसका

तात्पर्य भी यही हुआ कि किसी कार्य की सिद्धि के लिए पहले से ही उपाय सोचना और अनुष्ठान करना। इस आगे चलने की प्रक्रिया (पुरश्वरण) के तीन चरण हैं। १. गति २.आगति, ३. स्थिति। गति बढ़ने, आगति लौटने और स्थिति ठहरने को कहते हैं। पुरश्वरण में यह तीनों प्रक्रियाएँ इस प्रकार सम्पन्न होती हैं-किसी विशिष्ट अभीष्ट की प्राप्ति हेतु जो साधना की जाती है, उसके साथ -साथ उन दोषों को लौटाया भी जाता है, जो प्रगति का मार्ग अवरुद्ध करते हैं। इस गति-आगति से पूर्व शक्ति को स्फुटित करने के लिए जिस स्थिति को अपनाया जाता है, वही पुरश्वरण है। सवालक्ष या न्यूनाधिक मन्त्रों का अनुष्ठान सर्वसुलभ और लोक-कल्याण-आत्मकल्याण परक साधना है; किन्तु पुरश्वरण किसी उद्देश्य विशेष के लिए किया जाता है, इसका विधान भी जटिल होता है, जो किसी उच्च पुरोहित, समर्थ गुरु के प्रत्यक्ष मार्गदर्शन और संरक्षण में ही करना चाहिए, तभी इसके वाञ्छित परिणाम मिलते हैं, अन्यथा लाभ की अपेक्षा हानि की अधिक सम्भावना रहती है। पुरश्वरण के प्रमुख क्रिया-कलाप इस प्रकार हैं- १. नित्यकर्म २. सन्ध्या ३. पूजन (कवच, न्यास, ध्यान, स्तोत्र आदि) ४. शापमोचन ५. हवन ६. तर्पण ७. मार्जन-अभिषेक ८. मुद्रा ९. विसर्जन १०. ब्राह्मणभोजन। पुरश्वरण में निर्धारित देवता के मंत्र का जप सवालक्ष, चौबीस लक्ष, एक करोड़, सवा करोड़ अथवा कम से कम चौबीस हजार की संख्या में किया जाता है।

पुरश्वरण के विषय में कुलार्णव तन्त्र, वाराही तन्त्र, गौतमीय तन्त्र, वीर तन्त्र, योगिनी हृदय, नारदीय तन्त्र, मुण्डमाला तन्त्र, रामार्चन चन्द्रिका और रुद्रायामल आदि ग्रन्थों में विस्तार से वर्णन है। स्थानाभाव से यहाँ पूरा विवरण दे सकना कठिन है। सारांश यह है कि पुरश्वरण पूरी पवित्रता के साथ समस्त नियमोपनियमों का पालन करते हुए करना चाहिए, जैसे-मिथ्या भाषण, अब्रहमचर्च का परित्याग और बाह्याभ्यन्तर शूचिता तथा कुशशस्या शयन नितान्त आवश्यक है- शयीत कुशशस्यायां शुचिवस्त्रधरः सदा ।शस्यामेकाकी निर्भयः स्वपेत् ॥ असत्यभाषणं वाचं कुटिलां परिवर्जयेत् । वर्जयेद्वीतवाद्यादि श्रवणं नृत्यदर्शनम्देवप्रपूजनम् (हि०वि०को०खं० १३ प० ६४८)। नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् १.१६ में तारक मंत्र रूपी साम के जपपूर्वक पुरश्वरण करने से साधना के सफल होने तथा महाविष्णुरूप हो जाने का उल्लेख है- य एतां महोपनिषदं वेद स कृतपुरश्वरणो महाविष्णुर्भवति महाविष्णुर्भवति (नृ०पूर्व० १.१६)।

१५२. पुराण पुरुष—द्र०- ब्रह्मविद्याखण्ड।

१५३. पुर्यष्टक—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

१५४. पूर्णपुरुष—द्र०-कामकला, कालातीत।

१५५. पूषा—पूषा पोषण के देवता हैं। इहें चारों ओरों में देवत्व प्राप्त हुआ है। पूषा (पूषन्) शब्द संस्कृत की पुष् धातु से निष्पत्र है, जिसका अर्थ पोषक अथवा पुष्ट करने वाला है। ऋग्वेद में पूषा सूर्य की 'मानव पुष्टि प्रदात्री' तथा 'मानव कल्याणकारी शक्ति' के रूप में उपन्यस्त हैं। यास्क मुनि ने पूषा की परिभाषा करते हुए कहा है- अथ यद्रशिमपोषं पुष्यति तत्पूषा भवति (नि० १२.१६) अर्थात् जो पोषण हेतु रथिमयों (किरणों) को पोषकत्व से भर देता है, वह पूषा है। यजुर्वेद में पूषा देवता सूर्य की प्रेरणा से ही विचरण करने वाला बताया गया है- तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान् (यजु० १७.५८)। तैत्तिरीय ब्राह्मण में पूषा को दीर्घायु और वर्चस् प्रदाता बताया गया है- पूष्णः पोषण मह्यं दीर्घायुत्वाय शत शारदाय शतं शरद्धयः आयुषे वर्चसे (तैति० ब्रा० १.२.१.१९)। गायत्री रहस्योपनिषद् में पूषा को गायत्री मंत्र के बारहवें अक्षर का देवता विवेचित किया गया है-द्वादशं पौष्णं (गा०रह० ५)।

१५६. प्रज्ञा—द्र०-ज्ञानखण्ड-प्रज्ञा-प्रज्ञान।

१५७. प्रज्ञानघन—द्र०-संवित्।

१५८. प्रणव—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

१५९. प्रतिप्रस्थाता—द्र०-अतिरात्रयज्ञ।

१६०. प्रतिष्ठा—द्र०-ज्ञानखण्ड।

१६१. प्रदक्षिण (प्रदक्षिणा)— कोश ग्रन्थों में प्रदक्षिण जिसे लोक भाषा में प्रदक्षिणा भी कहते हैं, की व्युत्पत्ति इस प्रकार विवेचित है- प्रगतं दक्षिणमिति (हि०वि०को० खं० १४ प० ५७५) अर्थात् देवपूजन आदि के अवसर पर देवमूर्ति आदि को दाहिनी ओर करके दायें से श्रद्धा-भक्तिपूर्वक उसके चारों ओर घूमना-परिक्रमा करना प्रदक्षिण

कहलाता है। देवता भेद से ये परिक्रमाएँ भिन्न-भिन्न संख्या में की जाती हैं। जैसे स्त्री देवता (देवी) की एक बार, रवि की सात बार, विनायक की तीन बार, केशव की चार बार और शिव की अर्ध परिक्रमा (प्रदक्षिणा) करने का विधान 'कर्मलोचन' ग्रन्थ में इस प्रकार निर्दिष्ट है- एक देव्यां रवौ सप्त त्रीणि कुर्याद्विनायके। चत्वारि केशवे कुर्यात् शिवे चार्द्वप्रदक्षिणम्॥

कालिका पुराण में प्रदक्षिण-के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा गया है कि दक्षिण हस्त को फैलाकर, सिर झुकाकर देवता को दाहिनी ओर कर एक अथवा तीन बार उनकी जो परिक्रमा की जाती है, वह प्रदक्षिण है। इससे समस्त देवगण तुष्ट होते हैं, जो मनुष्य देवी की एक सौ आठ बार प्रदक्षिण करता है, उसके समस्त मनोरथ पूर्ण होते हैं। हरिभक्ति विलास में प्रदक्षिणा (प्रदक्षिण) महिमा इस प्रकार वर्णित है- 'प्रदक्षिणा ये कुर्वन्ति भक्तियुक्तेन चेतसा। न ते यमपुरं यान्ति यान्ति पुण्यकृतं गतिम्' अर्थात् जो नर भक्तिपूर्वक देव प्रदक्षिणा करते हैं, वे यमपुर न जाकर पुण्यकर्मियों की गति को प्राप्त करते हैं। अक्षमालिकोपनिषद् में अक्षमाला-मन्त्र मातृका की प्रदक्षिणा करके नमन करने का निर्देश इन शब्दों में हैं- अथ पुनरुत्थाप्य प्रदक्षिणी कृत्यों नमस्ते भगवति मन्त्रमातुकेऽक्षमालेनमस्ते (अक्ष० १५)।

१६२. प्रयाज—द्र०-अनुयाज।

१६३. प्रसविता—द्र०- ब्रह्मविद्याखण्ड-सूर्य।

१६४. प्रस्तोता—द्र०-ज्ञानखण्ड-ऋत्विज्।

१६५. प्राज्ञ—द्र०-ज्ञानखण्ड।

१६६. प्राणलिङ्गी—द्र०-अर्धनारीश्वर।

१६७. बन्ध—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

१६८. बला-अतिबला— यों तो बला शब्द का प्रयोग किसी आपत्ति, आफत, कष्ट, दुःख, भूत-प्रेत, व्याधि और रोगादि के लिए होता है तथा एक ओषधि-चनस्पति के लिए भी होता है- अतिशयितं बलं यस्याः। अत्यन्त बलाधायिकायांइति ख्यातायां लतायां (वाच०प० १०१)। जो (बला, अतिबला, महाबला और नागबला नाम से चार प्रकार की होती है) शीतवीर्य, मधुर, बलवर्द्धक, कान्तिकारक, स्त्रिधधारक, वायु, रक्तपित्त, रक्तदोष और क्षतविनाशक मानी गई है; किन्तु विशिष्ट अर्थ में यह एक प्रकार की विद्या है (जो ब्रह्म कन्या मानी जाती है)। ऋषि विश्वामित्र ने इस बला और अतिबला नामक विद्या की शिक्षा रामचन्द्र को दी थी। इस सन्दर्भ में वाचस्पत्यम् में उल्लेख है- विश्वामित्रेण रामाय दत्ते अस्त्रविद्याभेदे (वाच० प० १०१)। इस विद्या के प्रभाव से युद्ध के समय योद्धा को भूख-प्यास नहीं लगती, न थकान आती है और न अङ्ग विकृति होती है। वाल्मीकि रामायण के सन्दर्भ में प्रख्यात कोश ग्रन्थ वाचस्पत्यम् में इसके विषय में इस प्रकार उल्लेख है- गृहाण द्वे इमे विद्ये बलामतिबलां तथा। न ते श्रमो जरावाभ्यां भविता नाङ्गवैकृतम्। बलामतिबलां चैव ज्ञानविज्ञान मातरौ। क्षुत्पिपासे च ते राम! नात्यर्थं पीडियिष्यतः (वाच०प० १०१-१०२)। राम और लक्ष्मण दोनों ने इस विद्या को सीखा था इसका भी रामायण में उल्लेख है-जयत्वतिबलो रामो लक्ष्मणश्च महाबल इति रामां। सावित्र्युपनिषद् में बला और अतिबला विद्याओं के ऋषि विराट् पुरुष, छन्द गायत्री और देवता भी गायत्री ही वर्णित हैं-बलातिबलयोर्विराट् पुरुष ऋषिः। गायत्री छन्दः। गायत्री देवता (साविं १४-१५)। यह विद्या तन्त्र प्रयोग के अन्तर्गत एक गूढ़ विद्या है।

१६९. बिन्दु—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

१७०. बुद्धिगुहा—द्र०- ब्रह्मविद्याखण्ड-लक्ष्यत्रय।

१७१. ब्रह्मग्रन्थि—द्र०-रुद्रग्रन्थि।

१७२. ब्रह्मज्ञान—द्र०-ज्ञानखण्ड-ब्रह्मविद्या।

१७३. ब्रह्मद्वार—द्र०-वहियोग।

१७४. ब्रह्मनाड़ी—द्र०-ज्ञानखण्ड-सुषुप्तानाड़ी।

१७५. ब्रह्मपद—द्र०-कामकला।

१७६. ब्रह्मयज्ञ—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

१७७. ब्रह्मविद्या—द्र०-ज्ञानखण्ड।

१७८. ब्रह्मसन्ध्या—कोशग्रन्थों में सन्ध्या शब्द का अर्थ इस प्रकार बताया गया है— सं सम्यक् ध्यायत्यस्यामिति (श०क०ख० ५ पृ० २४१) अर्थात् जिस उपासना में ध्यान सम्यक् रूप से लगे, वह सन्ध्या है। सन्ध्या शब्द सन्धि से बना है, जिसके कई अर्थ हैं, जैसे—दो समयों, दो वर्णों, दो राजाओं, दो युगों की सन्धि आदि। सन्धि काल में ईश्वरोपासना विधिवत् सम्पन्न करने का विधान शास्त्रों में वर्णित है, इसीलिए त्रिकाल (प्रातः, मध्याह्न और सायंकाल) सन्ध्या—ईश्वर उपासना की जाती है। आरुण्युपनिषद् में संन्यासी को त्रिकाल सन्ध्याओं में स्नान करके समाधिस्थ होकर आत्मा में रमण करने का निर्देश दिया गया है— त्रिसंध्यादौ स्नानपाचरेत्। संधिं समाधावात्मन्याचरेत् (आरुणि० २)। सन्धिकाल में ईश्वरोपासना के लिए ब्रह्मसन्ध्या शब्द भी प्रयुक्त होता है। पाशुपत ब्रह्मोपनिषद् में ब्रह्मसंध्या को मानसिक यज्ञ क्रिया और सन्ध्या क्रिया को मानसिक यज्ञ का लक्षण कहा गया है—ब्रह्मसंध्याक्रिया मनोयागः। संध्याक्रिया मनोयागस्य लक्षणम् (पा०ब्र०प०का० १८)। इसका भाष्य करते हुए ब्रह्मयोगी ने तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि आदि महावाक्यों का अनुसरण करते हुए आत्मा-परमात्मा की एकता की अनुभूति की मानसिक क्रिया को ब्रह्मसंध्या कहा है—‘तत् त्वमसि’ ‘अहं ब्रह्मास्मि’ इति प्रत्यक्षप्रब्रह्मणोरैक्यमेव सन्ध्याक्रिया मनोयागः उच्चते। जीव और परमात्मा के ऐक्य की सन्ध्या क्रिया को ही मनोयाग का लक्षण कहा है— मनोयागस्य लक्षणं इत्यत्र— जीवात्मपरमात्मनोः एकत्वज्ञानेन तयोः भेद एव विभग्नः, सा सन्ध्येति—नोदकैर्जायते सन्ध्या न मन्त्रोच्चारणेन तु। सन्धौ जीवात्मनोरैक्यं सा सन्ध्या सद्विरुच्यते (पा०ब्र०प०का० १८ ब्र०भा०) अर्थात् सन्ध्या जल प्रयोग और मन्त्रोच्चारण से नहीं होती। जीवात्मा और परमात्मा में सन्धि होना, दोनों मिलकर एक हो जाना ही सन्ध्या है।

१७९. ब्रह्मसम्पत्ति — द्र०-संवित्।

१८०. ब्रह्मसायुज्य— द्र०-ज्ञानखण्ड -पञ्चविधि मुक्ति।

१८१. ब्रह्माण्ड— द्र०-ज्ञानखण्ड।

१८२. ब्रह्मानन्द— द्र०- ब्रह्मविद्याखण्ड -अद्वयानन्द।

१८३. ब्रह्मानन्दकला— द्र०-त्र्यक्षरी विद्या।

१८४. ब्राह्मणाच्छंसी— द्र०-ज्ञानखण्ड-ऋतिविज्।

१८५. ब्राह्मीस्थिति— योगी की विभिन्न अवस्थाएँ होती हैं। स्थिति भेद से इन्हें अलग-अलग नाम दिये जाते हैं। महोपनिषद् तथा अक्ष्युपनिषद् में कुछ ही नाम भेद से योग की सात भूमिकाओं का उल्लेख है, जिनका वर्णन इसी परिभाषा कोश परिशिष्ट में असंसक्त शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है। इन्हीं भूमिकाओं में जो पदार्थभावना, तुर्यगा, सुषुप्तपद तथा तुर्या नाम वाली अवस्थाएँ हैं, उनसे युक्त साधक जीवन्मुक्त की स्थिति प्राप्त कर लेता है। फिर वह बाह्याचरण करते हुए समस्त लोक-व्यवहारों का निर्वाह करके भी ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ नहीं देखता। स्वयं को ब्रह्म में लीन अनुभव करता हुआ वह सदैव ब्राह्मी स्थिति में रहता है। महोपनिषद् ६.६६-७३ में ब्रह्म को प्राप्त हुए पुरुष की ब्राह्मीस्थिति का सविस्तार वर्णन है। उसमें साधक को निर्देश दिया गया है कि वह आत्मदृष्टि को लक्ष्य करके भोग वासना को त्याग दे और सांसारिक ताप से विमुक्त होकर अन्तरात्मा में प्रतिष्ठित होकर जीवन्मुक्त की तरह भ्रमण करे। ब्राह्मीस्थिति वाले साधक के लिए लोक व्यवहार यथावत् करने का निर्देश देते हुए उपनिषद्कार ने कहा है— बहिः कृत्रिमसंरम्भो हृदि संरम्भवर्जितः। कर्ता बहिरकर्तान्तलोंके विहर शुद्धधीः॥ त्यक्ताहं कृतिराशुद्धधीः (महो० ६.६८-६९) अर्थात् बाह्य वृत्ति से बनावटी क्रोध का अभिनय करते हुए हृदय से क्रोधरहित, बाहर से कर्ता एवं अन्दर से अकर्ता बने रहकर शुद्ध भाव से जगत् में सर्वत्र भ्रमण करना चाहिए। इस स्थिति का आगे वर्णन करते हुए में पूर्णरूपेण वैराग्य धारण करके बाहर से आशावादी बना रहे। उसका कोई मित्र, कोई शत्रु न हो, भाव-अभाव से मुक्त होकर संकल्पों को शान्त करके रागविहीन (वीतराग) होकर सदा आनन्दित रहे, यही ब्राह्मीस्थिति है—उदारः पेशलाचारः सर्वचारानुवृत्तिमान्।एषा ब्राह्मी स्थितिः स्वच्छा निष्कामा विगतामया (महो० ६.७०-७३)। श्रीमद्भगवद्गीता में भी ईश्वर (ब्रह्म) को प्राप्त पुरुष का लक्षण १२.१३-२० तक विस्तार से बताया गया है। यथा—अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥ समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।

शीतोष्णासुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः (गीता० १२.१३-१८) अर्थात् जो समस्त प्राणियों में देवभाव से रहित है, ऐसा भक्त मुझे प्रिय है। इसी प्रकार जो मान-अपमान, सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख में समान भाव वाला तथा क्षमावान् से रहित है, ऐसा(ब्राह्मी स्थिति सम्पन्न) भक्त मुझे प्रिय है।

१८६. भवसागर— द्र०-असंसक्ति ।

१८७. भावनायोग— भावना अन्तःकरण का विषय है। चिन्तन, क्रिया और भावना में भावना उत्पन्न होने का स्थान हृदय अर्थात् अन्तःकरण है। जबकि चिन्तन और क्रियाएँ क्रमशः मस्तिष्क और शरीर द्वारा सम्पन्न होती हैं। यदि हमारा अन्तःकरण पवित्र और निर्मल हो, तो भावना शुद्ध ही उठती हैं और तदनुसार ही विचारणा एवं क्रियाएँ बनती हैं। देवों के आवाहन का मूल शुद्ध भावना ही है। यदि अन्तःकरण सच्ची है, तो भगवान् भी दौड़े चले आते हैं। ध्रुव, प्रह्लाद, मीरा आदि के उदाहरण इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं, इसीलिए शास्त्रकारों ने भावना को भी योग कहा है अर्थात् जिसके द्वारा आत्मा और परमात्मा का योग (मिलन) हो जाये, वह तत्त्व भाव (भावना) ही है। भावनोपनिषद् में दैवीशक्तियों के आवाहन, आसन, पूजा, उपचार विधि में 'भावनायोग' को ही उपचार अथवा पूजा कहा गया है-कर्तव्यमकर्तव्यमिति भावनायुक्त उपचारः (भाव०३)। आगे बाहर-भीतर के रूप ग्रहण की योग्यता को ही देवावाहन, बाह्याभ्यन्तर इन्द्रियों के एकरूप होकर विषय ग्रहण करने को ही आसन, सतोगुण और तमोगुण के एकीकरण को पाद्य और सतत आनन्द स्थिति में रहने तथा इस (ब्रह्मज्ञान) के दान को ही अर्च्य कहा गया है- तस्य बाह्याभ्यन्तःकरणानामेकरूपविषय-ग्रहणमासनम्। रक्तशुक्लपदैकीकरणं पाद्यम्। अर्द्धम् (भाव० ३)। उपर्युक्त सभी क्रियाओं का आधार स्थूल न होकर भावनात्मक ही है; अतः भावना की महत्ता स्पष्ट ही है। भावना को योग के अन्तर्गत रखकर उपनिषद्कार द्वारा उसे 'भावनायोग' की संज्ञा प्रदान करना सर्वथा उचित ही है। इस उपनिषद् में देवपूजन में समस्त क्रियायें भावनापूर्वक करने का निर्देश है, भावना की महत्ता यहाँ तक बताई गई है कि यदि कोई मनुष्य (योगी साधक) तीन मुहूर्त तक भावना परायण रहता है, वह जीवनमुक्त हो जाता है- एवं मुहूर्तत्रयं भावनापरो जीवमुक्तो भवति (भाव०४)।

१८८. भावशून्यता— द्र०-असंसक्ति ।

१८९. भौतिक शरीर (स्थूलशरीर)— द्र०-ज्ञानखण्ड -त्रयशरीर।

१९०. मन्त्रयोग— द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड ।

१९१. महाचक्र-सुदर्शन चक्र— नृसिंहपूर्वतापिन्युपनिषद् में मन्त्रराज आनुष्टुभ द्वारा सम्पूर्ण सुष्ठि की रचना विवेचित है। यह मंत्र अनुष्टुभ छन्द में है, जिसमें चार चरण तथा प्रत्येक चरण में आठ-आठ अक्षर होते हैं, इस प्रकार इसमें कुल बत्तीस अक्षर होते हैं। उपनिषद् में मंत्र के विभिन्न खण्डों की पृथक्-पृथक् विवेचना की गई है। जो संकेत दिये गये हैं, उस आधार पर मंत्रराज आनुष्टुभ या नारसिंह मंत्र (प्रणव सहित) इस प्रकार बनता है- ॐ उग्रं वीरं महाविष्णुं ज्वलन्तं सर्वतोमुखम्। नृसिंहं भद्रं मृत्युमृत्युं नमाम्यहम् (न०पूर्व० २.६ टिं०)। देवों द्वारा प्रजापति ब्रह्मा से महाचक्र के विषय में प्रश्न करने पर उन्होंने बताया कि 'महाचक्र' मंत्रराज आनुष्टुभ-नारसिंह मंत्र से ही बनता है। इसी को सुदर्शन चक्र भी कहते हैं, जिसे भगवान् विष्णु का चक्र भी माना जाता है। पदम पुराण के उत्तर खण्ड १४५ वें अध्याय में वर्णित चक्र भी कहते हैं, जिसे भगवान् विष्णु को दिया था-सुदर्शनचक्रं च सर्वदेवतेजोभिः शिवेन निर्माय है कि सुदर्शन चक्र शिव ने निर्मित करके विष्णु को दिया था-सुदर्शनचक्रं च सर्वदेवतेजोभिः शिवेन निर्माय विष्णवे दत्तं यथोक्तं (वाच०प० ५३१२)। समय-समय पर विभिन्न प्रयोजनों की पूर्ति व दुष्टदलन हेतु वे इसी चक्रवे दत्तं यथोक्तं (वाच०प० ५३१२)। समय-समय पर विभिन्न प्रयोजनों की पूर्ति व दुष्टदलन हेतु वे इसी चक्र का प्रयोग करते हैं। भगवान् नृसिंह विष्णु के ही अवतार हैं, इसलिए यह चक्र उर्ही का माना जाता है। भिन्न-भिन्न चक्र का प्रयोग करते हैं। भगवान् नृसिंह विष्णु के ही अवतार हैं, इसकी शक्ति के परिचायक हैं। छः अरों (छः अक्षर खण्डों से ये अलग-अलग शक्ति वाला बनता है। इसके विभिन्न अरे इसकी शक्ति के परिचायक हैं। छः अरों (छः अक्षरों) वाले 'सुदर्शन चक्र-महाचक्र' में छः ऋतुएँ ही छः अरे हैं। यह सम्पूर्ण चक्र माया द्वारा आवेष्टित है- स होवाच अक्षरों) वाले 'सुदर्शन चक्र-महाचक्र' में छः ऋतुएँ ही छः अरे हैं। यह सम्पूर्ण चक्र माया द्वारा आवेष्टित है- स होवाच प्रजापतिः घटक्षरं वा एतत्सुदर्शनं महाचक्रं तस्मात्पदरं भवति घटपत्रं चक्रं भवति घट् वा ऋतव ऋतुभिः तस्मान्मायया बहिर्वैष्टितं भवति (न०पूर्व० ५.२)। इसके पश्चात् आठ अरों वाला अष्टाक्षर मंत्र का चक्र, बारह अरों वाला द्वादशाक्षर मंत्र का चक्र, सोलह अरों वाला षोडशाक्षर मंत्र का चक्र और बत्तीस अरों वाला द्वात्रिंशदक्षर मंत्र का महाचक्र सुदर्शनचक्र बनता है। ये सभी चक्र मायारूपी नेमि से आवेष्टित रहते हैं। महाचक्र-सुदर्शन के अरे वेद, पते छन्द बताये गये हैं। बत्तीस दलों-अरों वाला महाचक्र जो सुदर्शन चक्र के नाम से भी प्रख्यात है, के नाभि स्थल में

एकाक्षरी 'ॐ' मंत्र के न्यास, चक्र के छः पत्रों-दलों में घडक्षरी मंत्र- सुदर्शन मंत्र 'सहस्रार हुं फट'; चक्र के अष्टदलों में अष्टाक्षरी नारायण मंत्र 'ॐ नमो नारायणा' चक्र के द्वादश दलों में द्वादशाक्षरी वासुदेवमंत्र 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय'; चक्र के सोलह दलों में वर्णमाला के सोलह स्वराक्षरों (अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, त्रृ, ल, लृ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः) और चक्र के बत्तीस दलों में बत्तीस अक्षर वाले उपर्युक्त आनुष्ठुभ मंत्र के न्यास का विधान वर्णित हैं- एतत्सुदर्शनं महाचक्रं तस्य मध्ये नाभ्यां तारकं द्वात्रिंशत्सु पत्रेषु द्वात्रिंशदक्षरं मन्त्रराजं नारसिंहमानुष्ठुभं भवति (नृ०पूर्व० ५.८)। इस मंत्रराज आनुष्ठुभ रूपी महाचक्र-सुदर्शन चक्र के नियमित जप से समस्त सिद्धियों की प्राप्ति, लोकों पर विजय तथा अन्त में परमधाम की प्राप्ति तक का माहात्म्य सविस्तार वर्णित है।

१९२. महात्रिपुरसुन्दरी— द्र०-कामकला।

१९३. महापातक— द्र०- ब्रह्मविद्याखण्ड।

१९४. महाप्रलय— द्र०-कालाग्नि।

१९५. महामुद्रा— द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड- मुद्रा।

१९६. महारोग— द्र०-परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी।

१९७. महाविद्या— द्र०-ऋग्धरी विद्या।

१९८. महाशून्यचक्र— द्र०-नवचक्र।

१९९. महिमा— द्र०-अष्टसिद्धि।

२००. मानसब्रह्म— द्र०-कालातीत।

२०१. मायाजाल— द्र०-ज्ञानखण्ड-अविद्या, माया, अज्ञान।

२०२. मायामयी— द्र०-त्रिगुणमयी माया।

२०३. मार्जन— द्र०-श्राद्ध।

२०४. मुक्ति— द्र०-ज्ञानखण्ड-मुक्ति-मोक्ष।

२०५. मुदिता— योग शास्त्रों में आध्यात्मिक उन्नति की विभिन्न साधनाएँ वर्णित हैं। पातञ्जल योग दर्शन में समाधि पाद के तीनीसवें सूत्र में मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा गुणों के द्वारा चित्त की निर्मलता व प्रसन्नता प्रतिपादित है- मैत्रीकरुणा मुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्प्रसादनम् (पा०यो०स०पा० ३३) अर्थात् सुखी-दुःखी, पुण्यात्मा-पापी पुरुषों के सन्दर्भ में क्रमशः मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा की भावना रखने से चित्त निर्मल और प्रसन्न रहता है। यहाँ मैत्री का अर्थ मित्रता (प्रेम), करुणा का दया (दूसरों के दुःखों को निवृत्त करने की आकांक्षा), मुदिता का हर्ष और उपेक्षा का अर्थ उदासीनता है। उपर्युक्त गुणों को व्यावहारिक धरातल पर धारण करने का अभिप्राय हुआ कि किसी को सुखी समझकर उसके साथ मित्रता (प्रेम) करे, न कि ईर्ष्या। किसी को दुःखी देखकर उसके प्रति करुणा (दया) का भाव जाग्रत् करे कि इसका दुःख कैसे दूर हो, न कि धृणा और तिरस्कार करे। पुण्यात्माओं में उनके श्रेष्ठ कृत्यों, पुण्यों को देखकर उनके प्रति मुदिता (हर्ष-प्रसन्नता) व्यक्त करे। इसी प्रकार पापियों के विषय में उनके पाप कृत्यों के प्रति उपेक्षा (उदासीनता) का भाव करे, न कि उनसे द्वेष करने लगे। किसी सन्त ने कहा भी है— 'पाप से धृणा करो पापी से नहीं।' तात्पर्य यह है कि यदि किसी ने अपने से कुछ अनुचित व्यवहार किया है, तो उस व्यक्ति के प्रति उपेक्षा न करके उसके उस कृत्य की उपेक्षा करे, उसके प्रति द्वेष या धृणा करके अपने मन और चित्त को प्रदूषित क्यों किया जाए? भगवान् कृष्ण ने गीता में अर्जुन को भक्त के लक्षण बताते हुए इन गुणों की ओर संकेत किया है- अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। निर्मो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी (गी० १२.१३)। महोपनिषद् में भी ऋभु-निदाघ संवाद में ऋभु ने निदाघ को सत्त्वगुण में स्थित प्राणी की स्थिति बताते हुए उसे इन्हीं मैत्री आदि गुणों को धारण करने की सलाह दी है-ते नित्यमेवाभ्युदिता मुदिताः ख इवेन्द्रवः।आकृत्यैव विराजन्ते मैत्र्यादिगुणवृत्तिभिःभास्करा इव (महो० ४.१७-२०)।

२०६. मुमुक्षु— द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड-मुनि।

२०७. मूर्ततारक-अमूर्ततारक— सामान्यतया मूर्त का अर्थ शरीरधारी, मूर्तिमान्, निश्चित आकार की कोई वस्तु, आकृति

आदि होता है। इसी अर्थ में मूर्ति शब्द का प्रयोग भी होता है। इसी प्रकार इसके निषेधात्मक अर्थ, आकारहीन, अशरीरी, निराकार आदि के लिए अमूर्त अथवा अमूर्ति शब्द प्रयोग किया जाता है; किन्तु अद्वयतारकोपनिषद्, अथर्वशिर, अथर्वशिख, मंडलब्राह्मण आदि उपनिषदों में तारक ब्रह्म प्रकरण के अन्तर्गत तारक ब्रह्म की दर्शन विधि में मूर्त और अमूर्त शब्दों का प्रयोग विशिष्ट अर्थों में किया गया है। तारक ब्रह्म का स्वरूप तो १०८ उपनिषद् ब्रह्मविद्या खण्ड के परिभाषाकोश परिशिष्ट में 'तारक ब्रह्म-तारक यंत्र' शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है। उसके दर्शन की विधि दो प्रकार की बताई गई है— (अ) मूर्त तारक (ब) अमूर्त तारक। इन तारक विधियों को समझने से पूर्व तारक शब्द के अर्थ को समझ लेना आवश्यक है। प्रथम तो समस्त दुःखों से तरने वाले ब्रह्म को तारक कहते हैं और द्वितीय आँखों (नेत्रों) की पुतलियों (तारों) को भी तारक कहते हैं। जिस प्रकार हम नेत्रों की पुतलियों (तारों) से ब्रह्माण्ड स्थित सूर्य और चन्द्र आदि का दर्शन करते हैं, उसी प्रकार अपने सिर रूपी ब्रह्माण्ड के मध्य में विद्यमान सूर्य एवं चन्द्र का निर्धारण कर उनका अन्तः दृष्टि से दर्शन करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। यही तारक अनुसन्धान कहलाता है— अक्ष्यन्तस्तारयोश्चन्द्रसूर्यप्रतिफलनं तस्मादन्तर्दृष्ट्या तारक एवानुसंधेयः (अद्वयता० ९)। इसी पुरुषार्थ को तारक योग कहते हैं। तारक योग पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध भेद से दो प्रकार का है। पूर्वार्द्ध तारक और उत्तरार्द्ध को अमनस्क (मनःशून्य अवस्था) कहते हैं— तत्तारकं द्विविधं पूर्वार्धतारकमुत्तरार्धममनस्कं चेति (अद्वयता०८)। पूर्वार्द्ध 'तारक' के पुनः दो भेद हैं— १. मूर्त तारक २. अमूर्त तारक (जिनका संकेत ऊपर किया जा चुका है)। इनमें मूर्त या मूर्ति तारक (तारक दर्शन की विधि) वह है, जिसमें इन्द्रियों के अन्त (मनश्कु) में तारक ब्रह्म-प्रकाश का ध्यान किया जाता है तथा अमूर्त या अमूर्ति तारक वह है, जिसमें दोनों भूकुटियों के बाहर एक निश्चित दूरी पर उसका दर्शन किया जाता है— तत्तारकं द्विविधं मूर्तितारकममूर्तितारकं चेति। यदिन्द्रियान्तं तदमूर्तिमत्। यद्भूयुगातीतं तदमूर्तिमत् (अद्वयता० १०)। अन्तः दृष्टि (मनश्कु) से दर्शन करते समय व बाहर भ्रूयुगल से कुछ दूरी पर, दोनों स्थितियों में मन को संयुक्त रखना पड़ता है। मूर्त तारक में मन सहित नेत्रों की अन्तर्दृष्टि से देखा जाता है और अमूर्त तारक में मन सहित भ्रूयुगल से बाहर (एक निश्चित दूरी पर) उस तारक प्रकाश रूप ब्रह्म के दर्शन का अभ्यास किया जाता है— उभयमपि मनोयुक्तमध्यसेत्। मनोयुक्तान्तरदृष्टिस्तारकप्रकाशाय भवति (मं०ब्रा००३० १.३.२)। यह तारक योग का पूर्वार्द्ध मनोयुक्तमध्यसेत्। यह तारक योग का उत्तरार्द्ध तो अमनस्क स्थिति में किया जाता है। इन स्थितियों को अन्तर्लक्ष्य, बहिर्लक्ष्य और मध्यलक्ष्य कहते हैं। जिनका वर्णन १०८ उपनिषद् ब्रह्मविद्या खण्ड के परिभाषा कोश परिशिष्ट में 'लक्ष्यत्रय' शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है, वहाँ देखा जा सकता है।

२०८. मूलकन्द—द्र०-नवचक्र।

२०९. मूलबन्ध—द्र०- ब्रह्मविद्याखण्ड -बन्ध।

२१०. मृगतृष्णा-मृगमरीचिका—मृगतृष्णा और मृगमरीचिका शब्दों का प्रयोग परस्पर पर्यायवाची शब्दों के रूप में होता है। कोश ग्रन्थों में इसको इस प्रकार परिभाषित किया गया है— मृगतृष्णा जलाभासत्वात् मृगाणां तृष्णा है, विद्यतेऽस्यां (हि०वि०को०ख० १८ प० २४४) अर्थात् जल अथवा जल की लहरों की वह मिथ्या प्रतीति मृगतृष्णा है, जो कभी-कभी मरुभूमि में कड़ी धूप (सूर्य की तीव्र रश्मयाँ-मरीचिकाएँ) पड़ने से प्रतीत होती है। गर्भी के समय में वायु की तहों का घनत्व उत्थान के कारण असमान हो जाता है, तब पृथिवी के निकट की वायु अधिक गर्भी पाकर ऊपर वायु की तहों का घनत्व उत्थान के कारण असमान हो जाता है; किन्तु ऊपरी तहें उसे उठने नहीं देतीं। इसलिए वायु की लहरें पृथिवी के समानान्तर बहने लगती को उठना चाहती है; किन्तु ऊपरी तहें उसे उठने नहीं देतीं। मृग इसे देखकर उसी प्रकार भ्रमित हो जाते हैं, जिस प्रकार कोई है, यही लहरें दूर से जल धारावत् दृश्यमान होती हैं। मृग उसे जल रज्जु में सर्प का (अज्ञान के आवरण और विक्षेप शक्तियों द्वारा) आभास पाकर भयभीत हो जाते हैं। मृग उसे जल रज्जु में संगति बिठाते हुए प्रायः लौकिक भोग-सुखों को मृगमरीचिका कहते हैं; क्योंकि उनके मृग-मरीचिका कहते हैं। इसकी संगति बिठाते हुए प्रायः लौकिक भोग-सुखों को मृगमरीचिका कहते हैं; क्योंकि महोपनिषद् प्राप्त होने पर भी शाश्वत शान्ति नहीं मिलती, वरन् मन और अधिक पाने की लालसा में अशान्त हो जाता है। महोपनिषद् में ऋभु-निदाय संवाद में निदाय कहते हैं— हे पिता! हे गुरु! मृगमरीचिका के सरोवर में खड़े होकर भी मुझमें भोग-लिप्सा की स्फुरणा नहीं हो रही है। अतः आप मुझे अतिशीघ्र तत्त्वज्ञानात्मक बोध करायें—स्फुरन्ति हि न भोगाशा

मृगतृष्णासरःस्वपि। अतो मां वै गुरो (महो० ३.५६)।

२११. मृत्युञ्जय—द्र०-अर्धनारीश्वर।

२१२. मेधा—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२१३. यज्ञसूत्र—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२१४. यज्ञस्तोम—द्र०-यज्ञीय उपकण एवं क्रियाएँ।

२१५. यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ-

क. अन्तर्वेदिका— श्रौत यज्ञों के अन्तर्गत प्रायः सभी में यज्ञशाला के अन्दर के निर्माण में विभिन्न प्रकार के कुण्ड, विभिन्न अग्नियों के लिए स्थान, होता, अध्वर्यु, ब्राह्मणाच्छंसी, ब्रह्मा, उद्गाता आदि ऋत्विजों के लिए स्थान के अतिरिक्त 'वेदि' का निर्माण भी किया जाता है। यह प्रायः यज्ञशाला के मध्य में होती है। यज्ञ वैभिन्न से इसका परिमाप पृथक्-पृथक् होता है, जैसे-अग्नि चयन याग सुपर्णचिति में वेदि का अग्रभाग पूर्व दिशा में और पीछे का भाग पश्चिम दिशा में होता है। वेदि की कल्पना एक सुन्दर नारी के रूप में की गई है, इसलिए उसके अंगों की संरचना में सौन्दर्य का विशेष ध्यान रखा जाता है- योषा वै वेदि: (श०ब्रा० १.२.५.१५)। इसका पूर्वी सिरा कम चौड़ा होता है। पश्चिम छोर को अंस कहते हैं। पूर्वी छोर के मध्य-बिन्दु से लेकर उत्तरी भाग के अन्तिम बिन्दु पर्यन्त मध्य के भाग को उत्तर अंस कहते हैं। इसी प्रकार दक्षिण भाग के अन्तिम बिन्दु पर्यन्त मध्य स्थल को दक्षिण अंस की संज्ञा प्रदान की गई है। इस वेदि (वेदिका) के अन्दर के भाग को अन्तर्वेदि या अन्तर्वेदिका कहते हैं; किन्तु इसके विषय में कहीं विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं होता। श्रौत कोश में अग्निष्टोम याग के अन्तर्गत अन्तर्वेदि का उल्लेख इन शब्दों में है- तस्यार्थमन्तर्वेदि स्यादर्थं बहिर्वेदि अथो अपि सर्वमेवान्तर्वेदि स्यात् (श्रौ०को०खं० २ पृ० १७३)। हिन्दी विश्वकोश में अन्तर्वेदि को इन शब्दों में परिभासित किया गया है- 'अन्तर्गता वेदिर्यज्ञभूमिर्यस्मिन् देशे' अर्थात् अपने मध्य परिष्कृत बहुज्ञ भूमि रखने वाला देश। प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् में शरीर यज्ञ के अन्तर्गत विभिन्न यज्ञीय क्रियाओं व यज्ञ भूमि स्थलों का आलङ्कारिक उल्लेख करते हए उपनिषद्कारा ने शरीर को वेदि और नासिका को अन्तर्वेदि कहा है- समानो मैत्रावरुणः शरीरं वेदि: नासिकाऽन्तर्वेदि: समाहिताः (प्रा०हो० २२)।

ख. अभिषेक— अभिषेक शब्द सामान्यतः जल छिड़कने के अर्थ में प्रयुक्त होता है, जो विभिन्न प्रयोजनों के लिए छिड़का जाता है, जैसे- किसी राजा के सिंहासनारूढ़ होने के समय किया जाने वाला अभिषेक राज्याभिषेक कहलाता है। यज्ञादि के अन्त में शान्ति के लिए किया जाने वाला अभिषेक या स्नान, शान्ति अभिषिज्वन या शान्ति अभिषेक कहलाता है। शिवलिङ्ग पर दुष्कार्ता द्वारा अभिषेक करने को रुद्राभिषेक कहते हैं। हिन्दी विश्वकोश खण्ड २ पृ० १४ में अभिषेक शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार निर्दिष्ट है- 'अभिषेचनं अधि-सिच-भावे घञ्' अर्थात् शास्त्रीय विधानपूर्वक शान्ति के लिए सेचन, अधिकार पाने के लिए स्नान, मन्त्र से सिर पर जल छिड़क कर मार्जन, कर्तव्य कर्म के अन्त में शान्ति स्नान, पुरश्वरण के अन्तर्गत मन्त्र द्वारा सिर पर जल छिड़कने का तीसरा काम तथा मन्त्र दीक्षा ग्रहण करते समय दस प्रकार के संस्कारों में पाँचवाँ संस्कार अभिषेक कहलाता है। वाजपेय, सौत्रामणी आदि यागों में अभिषेक का वर्णन प्राप्त होता है। का०श्रौ०सू० १९.४.१४ में सौत्रामणी याग के अन्तर्गत वसाहोम के पश्चात् अवशिष्ट वसा से यजमान का अभिषेक करने का निर्देश इन शब्दों में उल्लिखित है- सर्वसुरभ्युन्मृदितम्, शेषैरभिषिज्ज्वति। इसी प्रकार वाजपेय याग में भी हवन के उपरान्त अवशिष्ट चरु से अभिषेक का विधान शतपथ ब्राह्मण में वर्णित है- अथैनं परिशिष्टेनाभिषिज्ज्वति (श०ब्रा० ५.२.१.१२)। उपनिषदों में शिवलिङ्ग पर (रुद्राभिषेक) अभिषेक करने तथा गुरु अभिषेक और महेश्वर के चरणमूर्त से समस्त पापों के धूल जाने का वर्णन है- लिङ्गाभिषेकं निर्माल्यं गुरोभिषेकतीर्थं महेश्वरपादोदकं जगन्मालिन्यं क्षालयन्ति (रुद्र०)।

ग. अवभृथ स्नान— किसी यज्ञ के अन्त में किये जाने वाले स्नान को अवभृथ स्नान कहते हैं, इसमें कुछ कर्मकाण्ड भी समाविष्ट रहते हैं। इसे प्रायश्चित्त स्नान भी कहते हैं। हिन्दी विश्वकोश खण्ड २ पृ० २९० में अवभृथ शब्द की निष्पत्ति इस प्रकार निरूपित है- 'अव अवसाने बिभर्ति पोषयति यज्ञम्' अर्थात् प्रधान यज्ञ समाप्त होने पर दूसरे यज्ञ का आरम्भ, दीक्षान्त यज्ञ, होम विशेष, इसे ही अवभृथ इष्टि भी कहते हैं। यह अवभृथ इष्टि या याग जलाशय पर यजमान द्वारा सप्तवीक सम्पन्न किया जाता है, जिसे अध्वर्यु आदि ऋत्विज् सम्पन्न कराते हैं, तत्पश्चात् अध्वर्यु यजमान दम्पति को जलाशय में स्नान के लिए उतारता है। वहाँ उनके स्नान करते समय भी मन्त्रोच्चारणपूर्वक विभिन्न क्रियाएँ सम्पन्न कराता है, यही अवभृथ स्नान है। अभिप्राय यह है कि अवभृथ याग अथवा अवभृथ इष्टि के समय किया जाने वाला स्नान

वधायउपकरण

अवभृथ स्नान कहलाता है। अवभृथ स्नान के उपरान्त वस्त्र धारण करते हैं-अवभृथवत्स्नात्वा वासोऽपासनम् (ब्रा०श्रौ० १९.५.१६)। इसके पश्चात् यजमान यज्ञशाला में आकर आहवनीय में और पत्नी गार्हपत्य में समिधाधान करते हैं-समिधमादायाहवनीयेऽभ्यादधाति (का०श्रौ० १५.१.१९)। तत्पश्चात् यजमान आदित्येष्टि, मैत्रावरुणी पयस्येष्टि, सान्तपनीयेष्टि आदि विहित इष्टियाँ सम्पन्न करके यज्ञ के शेष कार्य सम्पन्न करते हैं। प्राणाग्निहोत्रोपनिषद् में शरीर यज्ञ का वर्णन करते हुए शरीर के इन्द्रियों व गुणों आदि को ही यज्ञ की विभिन्न क्रियाएँ-उपकरण निरूपित किया गया है, जैसे-अहिंसा को इष्टकाएँ, त्याग को दक्षिणा तथा मृत्यु को ही अवभृथ स्नान कहा है- अहिंसा इष्ट्यः त्यागो दक्षिणा अवभृथं मरणात् समाहिताः (प्रा०हो० २२)।

- घ.** आज्यभाग— कोशग्रन्थों में आज्य भाग शब्द की व्याख्या इस प्रकार निर्दिष्ट है- 'आज्यस्य भागः' अर्थात् धृत का एक देश, धी का कोई हिस्सा, धृत की वैदिक आहुति आदि। आज्य की वैदिक आहुति का व्यावहारिक स्वरूप यह है कि ऋषवेदी जिस आज्य आहुति को सुवा द्वारा उत्तराभिमुख होकर अग्नि के निमित्त समर्पित करते हैं, उसे आज्य भाग कहते हैं। दक्षिण की ओर सोमदेव के निमित्त प्रदान की जाने वाली आहुति भी आज्य भाग ही कहलाती है। यजुर्वेदी लोग अग्नि के उत्तर-पूर्वार्द्ध में 'अग्रये स्वाहा' कहकर तथा दक्षिण- पूर्वार्द्ध में 'सोमाय स्वाहा' कहकर जो आहुति प्रदान करते हैं, उसे भी आज्य भाग ही कहा जाता है। इन दोनों मन्त्रों के अन्त में इदमग्न्ये, इदं सोमाय का उच्चारण पात्र में आज्य भाग रखते हुए किया जाता है। कात्यायन श्रौत सूत्र में पौर्णमास याग के क्रम में उल्लेख है कि आज्य भाग (आज्याहुति) होतुवरण और पञ्च प्रयाज के बाद ही किया जाता है। इसके पश्चात् प्रधान याग स्विकृदद्याग आदि सम्पन्न किये जाते हैं। आज्य भाग की विस्तृत प्रक्रिया कात्यायन यज्ञ पद्धति विमर्श १९८८ संस्करण के पृ० १४ पर देखी जा सकती है। आज्य रखने के पात्र को आज्यस्थाली कहते हैं। आज्याहुति हेतु आज्यस्थाली में से चार सुवा आज्य (धृत) जुहू में, आठसुवा उपभूत में और चार सुवा धृता में भरने का उल्लेख भी कात्यायन श्रौत सूत्र ग्रन्थ में है- सुवेणाज्यग्रहणं चतुर्जुह्वा। अष्टावृप्तभृति। धृतायाज्व जुहूवत् (का०श्रौ० २.७.९-१०,१५)। प्राणग्रिहोत्रपनिषद् में शरीर यज्ञ के अन्तर्गत दाहिने हाथ को सुवा और बायें हाथ को आज्यस्थाली कहा गया है- दक्षिणहस्तः सुवः सव्य आज्यस्थाली (प्रा०हो० २२)। इसी प्रकार नेत्रों को आज्य भाग तथा गले (गर्दन) को धारा कहा गया है- चक्षुषी आज्यभागौ ग्रीवाधारा समाहिताः (प्रा०हो० २२)।

ड़: आज्यस्थाली—इ०-आज्यभाग।

च. द्रोणकलश— यज्ञीय कार्यों में विभिन्न प्रकार के पात्र-उपकरण प्रयुक्त होते हैं। द्रोणकलश का प्रयोग प्रायः उन यज्ञों में होता है, जिनमें सोम का उपयोग किया जाता है। द्रोणकलश विकङ्कृत काष्ठ (जिसे कटाई, किंकिणी और बंज कहते हैं, जिसके फल बेर के समान खट्टे-मीठे, पत्तियाँ व डालें कंटीली होती हैं, जिससे सुवा का निर्माण भी होता है।) से हैं, इसी प्रकार कात्यायन श्रौत सूत्र में भी द्रोण कलश के सोमपात्र होने का संकेत है- आहवनीयं गच्छन्त्यादाय इसी प्रकार कात्यायन श्रौत सूत्र में भी द्रोण कलश के सोमपात्र होने का संकेत है- आहवनीयं गच्छन्त्यादाय ग्रावद्रोणकलशसोमपात्राणि (का०श्रौ० ८.७.४)। द्रोणकलश नामक पात्र में सोमरस छाना जाता है। प्राणग्रिहोत्रपनिषद् में शरीर यज्ञ के अन्तर्गत यज्ञीय क्रियाओं और उपकरणों के आलंकारिक वर्णन में उपनिषद्कार ने मूर्धा को द्रोणकलश की संज्ञा प्रदान की है- शरीरं वेदिः नासिकाऽन्तर्वेदिः मूर्धाद्रोणकलशः पादो रथःसमाहिताः (प्रा०हो० २२)।

छ. यूप— श्रौत यागों में विभिन्न प्रयोजनों के अनुसार यूप का प्रयोग किया जाता है। पशु यागों में पशु बन्धन के लिए इसका प्रयोग किया जाता है। जबकि अग्निष्ठोम में यजमान दीक्षा प्रकरण में यूपच्छेदन किया की जाती है- दीक्षासु यूपच्छेदनं, दीक्षासु महावीर संभरणं प्रथम दिन एव (द०प०प०२४७)। यूप पलाश (ढाक), बिल्व, खदिर, देवदार आदि काष्ठों के बनाये जाते हैं, जो ३, ५ से लेकर २१ अरति (हाथ) तक लम्बे होते हैं। उपर्युक्त अग्निष्ठोम याग में प्रयुक्त होने वाला यूप पलाश या खदिर का होता है, जिसकी लम्बाई ५ अरति (हाथ) होती है-पलाशं बहुलपर्णमशुष्काग्रमूर्धसकलशाखंकरोत्युपरवर्जम् (का०श्रौ० ६.१.८,२६)। वाजपेय यज्ञ में यजमान और यजमान पत्नी द्वारा नेष्टा और अध्वर्यु के सहयोग से यूपरोहण करने का विधान है। यजमान यूप की इतनी ऊँचाई तक चढ़ता है कि उसका सिर यूप से अधिक ऊँचा हो जाये-शिरसायूपमुज्जिहीते (का०श्रौ० १४.५.१०)। ऊँचाई तक चढ़ता है कि उसका सिर यूप से अधिक ऊँचा हो जाये-शिरसायूपमुज्जिहीते (का०श्रौ० २०.४.१६)। प्रत्येक यूप २१ अरति लम्बा अश्वमेध यज्ञ में इक्कीस यूप प्रयुक्त होते हैं- एकविंशतिर्यूपाः (का०श्रौ० २०.४.१६)। प्रत्येक यूप २१ अरति लम्बा

होना चाहिए। प्रत्येक यूप में एक-एक पशु नियोजन और प्रोक्षण होता है। अध्वर्यु प्रतिप्रस्थाता को यूप के निकट पशु लाने का त्रैष (आदेश) करते हैं, पशु आने पर अध्वर्यु उसका यूप में नियोजन और प्रोक्षण करते हैं— पशवे वै यूपमुच्छयन्ति (शत०ब्रा० ३.७.२.४)। यूप के खण्ड को यूप शक्ल कहते हैं, जिसे वज्ररूप कहा जाता है—वज्रो वै यूपशक्लः (शत०ब्रा० ३.८.१.५)। यूप की महत्ता बताते हुए यूप लक्षण परिशिष्टकार ने लिखा है— यथैवात्मा तथा यूपो यूपे ह्यात्माप्रतिष्ठितः। आत्मा वै यजमानस्य यूपत्वमनुगच्छति (य०प० ४)। प्राणग्रिहोत्रोपनिषद् में शरीर यज्ञ के अन्तर्गत ओंकार को यूप की संज्ञा प्रदान की गई है—ओंकारो यूपः आशा रशना (प्रा०हो० २२)।

ज. **स्तुवा**— इससे यज्ञाग्नि में आज्य (घृत) की आहुति प्रदान की जाती है। इसे स्तुव और स्तुवा भी कहते हैं। यह एक अरति लम्बा और आगे घृत लेने हेतु अङ्गुष्ठ पर्वमात्र गर्त वाला होता है। यह विकङ्कृत काष्ठ से निर्मित होता है। विकङ्कृत काष्ठ से स्तुवा बनने के कारण अमरकोश में इस काष्ठ का एक नाम स्तुवा वृक्ष भी है। इसके अन्य पर्यायिकाची शब्दों में स्वादुकण्टक, ग्रन्थिल, मधुपणी, किङ्गिणी, व्याघ्रपात, स्तुवाद्युम आदि हैं। प्रख्यात कोश ग्रन्थ शब्द कल्पद्रुम में इसे बद्रीसदृश सूक्ष्मफलवृक्ष कहा गया है, जिससे यह बेर की प्रजाति का प्रतीत होता है। भाव प्रकाश में इसे सर्वदोषजित् काष्ठ औषधि रूप में वर्णित करते हुए ग्रन्थकार ने लिखा है— स एव यज्ञवृक्षश्च कण्टकी व्याघ्रपादपि। विकङ्कृतफलं पञ्चं मधुरं सर्वदोषजित् (श०क०खं० ४ प० ३७०)। स्तुवा खदिर काष्ठ से भी निर्मित होता है। इसका उल्लेख का०श्रौ० में इस प्रकार है—खादिरः स्तुवः (का०श्रौ० १.३.३३)। प्राणग्रिहोत्रोपनिषद् (२२) में शरीर यज्ञ के अन्तर्गत दक्षिण हस्त को स्तुव या स्तुवा कहा गया है— पादो रथः दक्षिणहस्तः स्तुवः।

झ. **सूक्तवाक्**— दर्शपौर्णमास आदि श्रौत यागों में (स्वस्तिवाचन-कल्याणकारी वाचन क्रियाओं के अन्तर्गत) सूक्तवाक् और शंयोर्वाक् या शंयुवाक् पाठ किये जाते हैं। आहवनीय कुण्ड के निकट अध्वर्यु पलाश समिधा से बनी पश्चिमी परिधि को स्पर्श करके आग्नीध से आश्रावण (संवाद) करता है। तदुपरात्त अध्वर्यु होता को सूक्तवाक् मंत्र- इदं द्यावापृथिवी (ह०प० १.१३) आदि पाठ करने की त्रैष (आज्ञा) देता है। इसके पश्चात् होता सूक्तवाक् का पाठ करता है। इसी प्रकार आग्नीध और अध्वर्यु के क्रमशः 'संवदस्व' और 'आगानग्रीत' कहने पर अध्वर्यु होता को शंयुवाक् अथवा शंयोर्वाक् (शुभवचन) पढ़ने का त्रैष करता है— संवदस्वागानग्रीदगञ्छावय श्रौषद् (का०श्रौ० ३.६.१५), तच्छंयोरावृणीमहे (शां० श्रौ० १.१४.२१)। होता इस मंत्र 'तच्छंयो०' से शंयोर्वाक् पाठ करता है। यह मंत्र शंयुवाक् संजक है। कात्यायन श्रौत सूत्र में यह उल्लेख इस प्रकार है—शंयवन्तं भवति (का०श्रौ० ३.७.१०) प्राणग्रिहोत्रोपनिषद् में शरीर यज्ञ प्रकरण के अन्तर्गत दाँत और ओष्ठों को सूक्तवाक् और तालु को शंयोर्वाक् बताया गया है—दन्तोष्ट्रौ सूक्तवाकः तालुः शंयोर्वाकः समाहिता (प्रा०हो० २२)।

ज. **शंयोर्वाक्—द्र०—सूक्तवाक्।**

ट. **यज्ञस्तोम**— स्तोम शब्द प्रायः स्तुति के अर्थ में प्रयुक्त किया जाता है। इसी कारण वैदिक संहिताओं में देवों के प्रति स्तोम (स्तुतियाँ) ही संगृहीत हैं। वैसे स्तुति के अतिरिक्त इसके पर्यायिकाची शब्द-गुणगान, यज्ञ, समूह और राशि आदि भी हैं। सामग्रान के अन्तर्गत स्तुतिपरक छन्दों को स्तोम कहा जाता है—यदत्रैचि तदेत्याऽइति स्तोमो वा एष तस्य साम्प्रो यद्ययं सामोपास्मह इति (जै०ब्रा० १.४.३.६)। यज्ञों में देवों के निमित्त किये जाने वाले गुणगान और स्तुतियों को यज्ञस्तोम कहा जाता है। महोपनिषद् में उल्लेख है कि सृष्टि के प्रारम्भ में एकमात्र नारायण ही थे। उनको एकाकी रहना उचित न लगा, तब उन्होंने अपने ही अन्दर स्थित विराट् पुरुष का संकल्प पूर्वक ध्यान किया, वह ध्यान ही यज्ञस्तोम हुआ।....एको है—नारायण आसीन ब्रह्मा.....। स एकाकी न रमते। तस्य ध्यानान्तःस्थस्य यज्ञस्तोममुच्यते (महो० १.१-४)। अभिप्राय यह है कि सृष्टि यज्ञ-सृष्टि विस्तार में यह ध्यान रूपी स्तुति ही यज्ञस्तोम कहलाई।

ठ. **धिष्यय**—कोशग्रन्थों में धिष्यय इस प्रकार परिभासित है— धिष्यय धृणीति प्रगल्भो भवतीति (ह०वि०को०खं० ११ प० २३१)। इसके अनुसार धिष्यय के कई अर्थ हैं, जैसे—स्थान, जगह, गृहधर, अग्नि, नक्षत्र, शक्ति, उल्काभेद, प्राणभिमानी देव आदि। उपर्युक्त अर्थों में से स्थान, गृह, अग्नि वाले अर्थों में ही धिष्यय शब्द प्रयुक्त होता है कि 'धिष्य' प्राचीन अग्निष्टोम आदि यागों में यज्ञशालान्तर्गत सदोमण्डप में विशिष्ट खर स्वरूप (कुण्डस्वरूप) बनाये जाते थे। अग्निचयन आदि यागों में इन पर ईटों (इष्टकाओं) का चयन भी किया जाता था—धिष्ययान्निवपति (श०ब्रा० ९.४.३.१)। धिष्यय आठ प्रकार के थे—आग्नीध्रीय, होत्रीय, प्रशास्त्रीय, ब्राह्मणाच्छंसीय, पौत्रीय, नेत्रीय,

अच्छावाकीय और मार्जलीय। इनमें महावेदि के उत्तरी एवं दक्षिणी ओर आग्रीशीय और मार्जलीय धिष्य निर्मित किया जाता है। सदोमण्डप के पूर्वी द्वार की पश्चिम दिशा में एक प्रक्रम (कदम) स्थान छोड़ने के उपरान्त पृष्ठया के ऊपर होत्रीय धिष्य निर्मित किया जाता है। इसी के उत्तर में क्रमशः इसी के समानान्तर ब्राह्मणाच्छंसीय, पौत्रीय, नेष्टीय और अच्छावाकीय धिष्यों का निर्माण किया जाता है। होत्रीय धिष्य के उत्तर में चार अरति और डेढ़पग की दूरी पर प्रशास्त्रीय (अथवा मैत्रावरुणीय) धिष्य बनाया जाता है। समस्त धिष्यों का परिमाप अठारह अंगुल चतुष्कोण अथवा मण्डलाकार तथा छः अंगुल ऊँचा होता है। प्रत्येक दो धिष्यों की दूरी अठारह अंगुल होनी चाहिए। ब्राह्मण ग्रन्थों में धिष्य के रूप में बने स्थल-वेदी या कुण्ड विशेष पर विशिष्ट आहुतियाँ प्रदान करने का भी विधान मिलता है। शतपथ ब्राह्मण ४.३.४.७ में अग्निष्ठोम याग के अन्तर्गत उल्लेख है कि अधर्व्यु आग्रीशीयशाला की धिष्य (धिष्य) पर आज्य से आहुति प्रदान करके शेष आज्य से अन्य धिष्यों पर आहुति दे-प्रचरणीति स्मुभवति। तस्यां चतुर्गृहीतमान्यं गृहीत्वाऽधर्व्युः शालाकैर्धिष्यान्व्याघारयति। गरुडोपनिषद् में गरुड़देव की स्तुति करते हुए उनके नामों और खुरों को धिष्य स्थित अग्नि की संज्ञा प्रदान की गई है- सुपर्णोऽसि धिष्याया शफा यजूषि नाम- (गरुड० ११)।

२१६. यन्त्र—सामान्यतः यन्त्र शब्द का प्रयोग उपकरण के अर्थ में किया जाता है और इसी अर्थ में यह शब्द सर्वाधिक प्रचलित भी है; किन्तु कोश ग्रन्थों में इसके कई अर्थ हैं। हिन्दी विश्वकोश में यन्त्र की व्युत्पत्ति इस प्रकार उपन्यस्त है- यन्त्रयच्छत्यत्रेति यमइति त्र। इसके अनुसार यन्त्र शब्द- पात्रभेद, नियन्त्रण, अग्नियन्त्र, (तोप या बन्दूक) दारुयन्त्रादि, लकड़ी की कल (मशीन) और देवादि अधिष्ठान आदि अर्थों में प्रयुक्त होता है। आध्यात्मिक प्रयोजनों में यन्त्र देवता का अधिष्ठान (स्थापन) करके ही देवता की पूजा करनी चाहिए। यन्त्र सोने, चाँदी, ताप्र और भोजपत्रों पर उस-उस देवता के मन्त्र के बीज मन्त्रों आदि से लिखे जाते हैं। भिन्न-भिन्न देवताओं के अनुसार यन्त्र लेखन की सामग्री बदल जाती है। जैसे-केशर, गोलोचन (गोरोचन), अंगूर, कस्तूरी और चन्दन आदि द्रव्यों द्वारा स्वर्ण कलम से यन्त्र लिखने का विधान है-काश्मीररोचना द्राक्षा मृगेभमदचन्दनैः। विलिखेद्वेमलेखन्या यन्त्राणि तानि देशिकः (तन्त्रसार से संकलित-हिं०विं०को० खं० १८ पृष्ठ ४८९)। उपयोगिता के आधार पर यन्त्र के दो भेद निर्दिष्ट हैं- १. यन्त्र धारण २. पूजायन्त्र। जो यन्त्र लिखकर पहनते हैं, उसे धारण यन्त्र तथा जिस यन्त्र को अंकित कर उससे देवता की पूजा की जाती है, उसे पूजा यन्त्र कहते हैं। यन्त्र बनाते समय उसके कई संस्कार करने होते हैं, जिनका विस्तृत वर्णन तन्त्रसार जैसे तन्त्र ग्रन्थों में है। ये यन्त्र-दुर्गा यन्त्र, लक्ष्मी यन्त्र, त्रिपुरा यन्त्र, श्रीविद्या यन्त्र, गणेश यन्त्र, गोपाल यन्त्र, शिव यन्त्र, मृत्युज्य यन्त्र, नृसिंह यन्त्र, काली यन्त्र, तारा यन्त्र, स्वस्तिक यन्त्र, गायत्री वीसा यन्त्र और राम यन्त्र आदि होते हैं। रामपूर्वतापिन्युपनिषद् में राम की अर्चना यन्त्र के पूजनपूर्वक करने का उल्लेख है; क्योंकि यन्त्र के बिना की गई पूजा से देवता प्रसन्न नहीं होते-सोऽभयस्यास्य देवस्य विग्रहो यन्त्रकल्पना। विना यन्त्रेण चेत्यूजा देवता न प्रसीदति (रामपूर्व० १.१३)। आयुर्वेदिक औषधियों के निर्माण में भी कई प्रकार के यन्त्रों का प्रयोग होता है; पर ये यन्त्र लिखे हुए नहीं, वरन् उस प्रक्रिया के द्योतक हैं, जिनसे विभिन्न औषधियाँ तैयार की जाती हैं- जैसे बालुका यन्त्र, दोला यन्त्र, स्वेदन यन्त्र, भूधर यन्त्र आदि। इसीप्रकार खगोल विज्ञान में ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति देखने के लिए विभिन्न यन्त्रों का निर्माण किया जाता है, जैसे- गोल यंत्र, स्वयंबाहगोल यन्त्र, शंकु यन्त्र, यष्टि यन्त्र, नाड़ीवलय यन्त्र, फलक यन्त्र, धनुर्यन्त्र आदि।

२१७. यूप—द्र०- यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाँ।

२१८. योग—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२१९. योगनिद्रा—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

२२०. योगात्मा—द्र०-ज्ञानखण्ड-योग।

२२१. योगी—द्र०-ज्ञानखण्ड-योग।

२२२. राजयोग—द्र०-ब्रह्मविद्या खण्ड।

२२३. रुद्र—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड-त्र्यम्बक।

२२४. रुद्रग्रन्थि—योगशास्त्रों में कुण्डलिनी जागरण की प्रक्रियाँ विस्तार से वर्णित हैं। योग कुण्डल्युपनिषद् में योगभ्यास से कुण्डलिनी बोध प्रकरण में प्राण प्रवाह के ऊर्ध्वगामी बनने और प्राण-अपान दोनों के कुण्डलिनी में मिलने से उसकी

उष्णता से तम होकर वायु के निरन्तर दबाव से कुण्डलिनी के सीधी होकर सुषुमा मुख में प्रवेश करने का वर्णन है— प्राणस्थानं ततो वह्नि: प्राणापानौ च सत्त्वरम् । मिलित्वा कुण्डलीं यातिसुषुमा वदनान्तरे (१.६५-६६) । इसके उपरान्त कुण्डलिनी शक्ति ग्रन्थित्रय भेदन करके सहस्रार में गमन करती है । ये तीन ग्रन्थियाँ ब्रह्मग्रन्थि, विष्णुग्रन्थि और रुद्रग्रन्थि नामों से जानी जाती हैं । कुण्डलिनी क्रमशः इन तीनों का भेदन करके ऊर्ध्वगमन करती है । सर्वप्रथम वह 'ब्रह्मग्रन्थि' जिसे मूलाधार चक्र या ब्रह्मचक्र में स्थित मानते हैं एवं जो रजोगुण से उत्पादित है, का भेदन करके सुषुमा के मुख में विद्युत् शिखा की भाँति तीव्रता से ऊर्ध्वगमन करती है— ब्रह्मग्रन्थिं ततो भित्त्वा रजोगुणसमुद्भवम् । सुषुमा वदने शीघ्रं विद्युलेखेव संस्फुरेत् (यो०कु० १.६७) । योगराजोपनिषद् में भी प्रथम चक्र जिसमें ब्रह्मग्रन्थि विद्यमान है, को मूलाधार या ब्रह्मचक्र कहा गया है— प्रथमं ब्रह्मचक्रं स्यात् त्रिरावृत्तं भगाकृति (यो०रा० ५) । इसके पश्चात् कुण्डलिनी हृदय चक्र (अथवा अनाहत चक्र) स्थित 'विष्णुग्रन्थि' का भेदन करती है— विष्णुग्रन्थिं प्रयात्युच्चैः सत्त्वरं हृदि संस्थिता (यो०कु० १.६८) । विष्णुग्रन्थि भेदन के उपरान्त साधक को परमानन्द की अनुभूति होने लगती है । यह तथ्य सौभायलक्ष्म्युपनिषद् में इस प्रकार है— विष्णुग्रन्थेस्ततो भेदात्परमानन्दसम्भवः (सौ०ल० २.७) । इसके पश्चात् कुण्डलिनी शक्ति ऊर्ध्वगमन करती हुई रुद्रग्रन्थि जो दोनों भौंहों के बीच आज्ञाचक्र में विद्यमान है, का भेदन करती हुई चन्द्र स्थान में पहुँच जाती है— ऊर्ध्वं गच्छति यच्चान्ते रुद्रग्रन्थिं तदुद्घवम् । भूवोर्मध्यं तु संभिद्य याति शीतांशुमण्डलम् (यो०कु० १.६८-६९) । इस प्रकार इन तीनों ग्रन्थियों में क्रमशः ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र की शक्तियों का वास माना गया है । जो उत्पादन, पालन और संहार के देवता हैं । जो साधक उपर्युक्त क्रियाएँ करता है, उसके अन्दर सत्रवृत्तियों का उत्पादन, उनका पालन-संवर्धन और दुष्प्रवृत्तियों का दमन स्वाभाविक ढंग से होता रहता है ।

गीताप्रेस गोरखपुर द्वारा प्रकाशित 'नित्यकर्म पूजा प्रकाश' ग्रन्थ में प्राणायाम प्रक्रिया के अन्तर्गत पूरक, कुम्भक और रेचक करते समय क्रमशः चतुर्भुज विष्णु का ध्यान नाभिक्षेत्र में, चतुर्मुख ब्रह्मा का ध्यान हृदय क्षेत्र में और श्वेत वर्ण शंकर का ध्यान ललाट क्षेत्र में करने का सचित्र उल्लेख है । यद्यपि उपर्युक्त कुण्डलिनी द्वारा ग्रन्थित्रय भेदन के क्रम में और इस प्राणायाम प्रक्रिया में देवों के स्थल व नाम के क्रम में कुछ भेद तो अवश्य है; पर इतना निश्चित है कि शरीर में इन तीनों शक्तियों का वास तो है ही । यौगिक क्रियाओं द्वारा इनका लाभ तो लिया ही जा सकता है ।

२२५. रुद्राक्ष—द्र०-अर्धनारीश्वर ।

२२६. लक्ष्यत्रय—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड ।

२२७. लययोग—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड ।

२२८. लीलाविग्रह—द्र०-कालातीत ।

२२९. वषट्—द्र०-ज्ञानखण्ड -वषट्कार-हत्तकार ।

२३०. वह्नियोग— भारतीय योग शास्त्र में विभिन्न प्रकार की साधनाओं का वर्णन है, जिनमें कुण्डलिनी जागरण की साधना अति महत्वपूर्ण है । इसकी सिद्धि से साधक सर्व समर्थ हो जाता है । कुण्डलिनी महाशक्ति की साधना में साधक को विभिन्न आयामों से गुजरना पड़ता है, जिनमें विविध आसन, प्राणायाम, बन्ध, मुद्राएँ आदि सम्मिलित हैं । इसी क्रम में वहियोग (अग्नियोग) की सिद्धि को कुण्डलिनी साधना में महत्वपूर्ण सोपान माना गया है । योगचूड़ामण्युपनिषद् में उपनिषद्कार ने लिखा है— कुण्डलिनी महाशक्ति कन्द (उपस्थ के ऊपर और नाभि से नीचे) के ऊपर आठ कुण्डलियों की आकृति में व्याप्त होकर (अष्ट प्रकृति वाली होकर) ब्रह्म द्वार (सुषुमा) के मुख को ढक कर वहीं प्रसुसावस्था में रहती है, जो अग्नियोग (प्राणायाम प्रक्रिया) द्वारा जाग्रत् होकर प्रकाश रूप में मन और प्राण वायु के साथ सुषुमा नाड़ी के अन्दर होकर सुई की तरह ऊर्ध्वगमन करती है—कन्दोध्वं कुण्डलीशक्तिरष्ठा कुण्डलाकृतिः ।येन द्वारेण गन्तव्यं ब्रह्मद्वारमनामयम् । मुखेनाच्छाद्य तदद्वारं प्रसुमा परमेश्वरी । प्रबुद्धा वह्नियोगेन मनसा मरुता सह । सूचीवद् गात्रमादाय व्रजत्यूर्ध्वं सुषुमया (यो०च० ३६-३९) । उक्त मन्त्रों में वर्णित 'वह्नियोग' सम्भवतः सूर्यभेदी प्राणायाम की प्रक्रिया ही है; क्योंकि इसमें सूर्यचक्र जाग्रत् होकर आन्तरिक अग्नि प्रदीप होती है । सूर्यभेदी प्राणायाम में भी यही भावना की जाती है कि नाभिस्थित सूर्यचक्र से अग्नि के समान तेज लपटें उठ रही हैं, वे सुषुमा नाड़ी (ब्रह्मद्वार), फेफड़ों, हृदय और कण्ठ आदि अवश्यवांकों को तेजस्वी बना रही हैं । चूँकि कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्मद्वार (सुषुमा) के मुख को अवरुद्ध करके उस पर प्रसुस है और उसके जागरण में वहियोग (अग्नियोग) की भूमिका महत्वपूर्ण है,

इससे स्पष्ट है कि सूर्यभेदी प्राणायाम ही अग्नियोग सिद्ध करने का माध्यम है। हठयोग प्रदीपिका में कुण्डलिनी साधना के अन्तर्गत भानु के आकुञ्जन और अग्नि के वशवर्ती होने का उल्लेख है—भानोराकुञ्जनं कुर्यात्कुण्डलीं चालयेत्तः।कुतः (हठ०प्र० ३.११६)।

२३१. वहिशिखा— वहिशिखा का सामान्य अर्थ अग्नि की शिखा अर्थात् अग्नि की ज्योति अथवा ज्वाला है। कोशग्रन्थों में वहिशिखा की व्युत्पत्ति इस प्रकार विवेचित है—वहिरिव शिखा यस्याः (हि०वि०को० ख० २१ पृ० २३)। इसके अनुसार वहिशिखा लाङ्गलिया, कलिहारी (कलियारी नामक विष), धातकी, धव का पेड़, प्रियङ्गु, गजपिप्पली या गजपीपल आदि को कहते हैं; किन्तु औपनिषदिक सन्दर्भ में इसका प्रयोग विशिष्ट अर्थ में किया गया है। चतुर्वेदोपनिषद् में ऋग्, यजु, साम और अथर्ववेद की उत्पत्ति विराट् पुरुष द्वारा विवेचित है। उस सहस्रशीर्ष, सहस्राक्ष विराट् पुरुष की स्थिति शरीर में बताते हुए उपनिषद्कार ने वहिशिखा को इस प्रकार निरूपित किया है— विराट्पुरुष, कमलकोश के समान हृदय में अधोमुख होकर एक कोश के रूप में लटका है, जो शक्ति सम्पन्न है, उसके मध्य में श्रेष्ठ अग्नि (ज्योति-प्रकाश) स्थित है, जिसकी ज्वाला चतुर्मुखी है, उसके ही बीच में 'वहिशिखा' (अग्नि की ज्योति) है, जो अणीय पर अवस्थित है, उसी अग्नि ज्योति अथवा वहिशिखा अथवा श्रेष्ठ शिखा के मध्य में वह विराट् पुरुष परब्रह्म स्थित है—पद्मकोशप्रतीकाशं लम्बत्याकोशसन्निभम्। हृदये चाप्यथोमुखंतस्य मध्ये वहिशिखा अणीयोर्ध्वा व्यवस्थिता। तस्याः शिखाया मध्ये परमात्मा व्यवस्थितः (च०वेट० ४-६)। ऐसा प्रतीत होता है कि यह वहिशिखा हृदय स्थित परम ज्योति ही है, जिसे परमात्मा-परब्रह्म आदि कहते हैं।

२३२. वाक्सिद्धि—द्र०-परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी।

२३३. वाजपेय यज्ञ—द्र०- अतिरात्र यज्ञ।

२३४. वाणी—द्र०-परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी।

२३५. विचारणा—द्र०-असंसक्ति।

२३६. विचारनूमिका—द्र०-असंसक्ति।

२३७. विदेहमुक्ति—द्र०-असंसक्ति।

२३८. विनियोग—द्र०- ब्रह्मविद्याखण्ड।

२३९. विरजा— हिन्दी विश्वकोश में विरजा को वृक्ष, प्रेमिका, तीर्थ एवं नाड़ी के रूप में विवेचित किया गया है, यथा—१.

कपित्थानी नामक वृक्ष २. यथाति की माता का नाम विरजा ३. शुक के पुत्र ऋक्ष वानर की पत्नी, जो विरजा प्रजापति की पुत्री थी। इसने सूर्य एवं इन्द्र से सुग्रीव एवं बाली को जन्म दिया। ४. श्रीकृष्ण की एक प्रेमिका। ब्रह्मवैरत पुराण के अनुसार—एकबार श्री कृष्ण राधा को न देखकर विरजा के पास चले गये। यह सूचना मिलते ही राधा वहाँ पहुँची। श्री कृष्ण तो अन्तर्धान हो गये, विरजा को शाप देकर राधा ने नदी बना दिया। नदी के रूप में यह दाक्षिणात्य के महिसुर राज्य के अन्तर्गत महिसुर जिले की एक नदी के रूप में है। कावेरी नदी के दाहिने किनारे वालमुरि बाँध द्वारा इसका अस्तित्व प्रकट हुआ है। इसे कौषीतकिब्राह्मणोपनिषद् (अध्याय १.४) में भी नदी के रूप में विवेचित किया गया है—स आगच्छति विरजां नदीं तां मनसैवात्येति अर्थात् वह (साधक) विरजा नदी के तट पर आकर उस नदी को भी संकल्प मात्र से लाँघ जाता है। गायत्री रहस्योपनिषद् में इसे गायत्री महामन्त्र की चौबीस शक्तियों में से एक शक्ति के रूप में कहा गया है— प्रह्लादिनी प्रज्ञा विश्वभद्रा विलासिनी प्रभा शान्ता मा कान्तिः स्पर्शा दुर्गा सरस्वती विरुद्धपा विशालाक्षी शालिनी व्यापिनी विमला तमोऽपहारिणी सूक्ष्मावयवा पद्मालया विरजा विश्वरूपा भद्रा कृपा सर्वतोमुखीति कहा गया है— प्रह्लादिनी प्रज्ञा विश्वभद्रा विलासिनी प्रभा शान्ता मा कान्तिः स्पर्शा दुर्गा सरस्वती विरुद्धपा विशालाक्षी के चतुर्विशतिशक्तयो निगद्यन्ते (गा०रह० ६)। क्षुरिकोपनिषद् के मं०क्र० १६ में इडा, पिंगला, सुषुप्ता आदि नाड़ियों के सदृश इसे भी नाड़ी के रूप में कहा गया है— 'सुषुप्ता तु परे लीना विरजा ब्रह्मरूपिणी' अर्थात् सुषुप्ता नाड़ी परम तत्त्व में लीन रहती है और विरजा नाड़ी तो ब्रह्मरूपा है। इस प्रकार से उपनिषदों में यह 'विरजा' नदी, नाड़ी एवं गायत्री की चौबीस शक्तियों में से एक शक्ति के रूप में प्रतिपादित है।

२४०. विराट्—द्र०- स्वराट्-विराट्।

२४१. विरुद्धपाक्ष—द्र०-अर्धनारीश्वर।

२४२. विश्व—द्र०-ज्ञानखण्ड-प्राज्ञ एवं ब्रह्मविद्याखण्ड-विज्ञानात्मा।

२४३. विष्णुग्रन्थि—द्र०-सुद्रग्रन्थि।

२४४. वीतराग— साधना की एक उच्चतम स्थिति, जिसमें राग-द्वेषादि समस्त वासनाओं का समापन हो जाता है। प्रख्यात कोशग्रन्थ हिन्दी विश्वकोश में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार वर्णित है— 'वीतो रागो विषयवासना यस्य' (हि०वि०को० खं० २१ प० ७५५) अर्थात् जिसकी रागादि समस्त विषयवासनाएँ समाप्त हो गयी हैं, वह वीतरागी है। जिसने राग या आसक्ति का सम्यक् रूप से परित्याग कर दिया हो, उसे ही वीतराग योगी कहा गया है। भगवान् बुद्ध को भी वीतराग के नाम से जाना जाता है। जैनों के प्रधान महावीर का नाम भी वीतराग है। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् श्री कृष्ण ने अर्जुन को समझाते हुए कहा है— जो मनुष्य राग, भय एवं क्रोधादि से रहित अनन्यभाव से मेरे आश्रित हो जाते हैं, ऐसे वे ज्ञानरूप तप से पवित्र हुए मेरे ही स्वरूप को प्राप्त हो जाते हैं। यथा— वीतरागभयक्रोधा ममया मामुपाश्रिताः। बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः (गी०४.१०)। योग सम्बन्धी उपनिषदों में भी उपनिषद्कार ने वीतराग का विस्तृत विवेचन किया है। जाबालदर्शनोपनिषद् में इसकी इस प्रकार विवेचना की गयी है— क्षीणेऽज्ञाने महाप्राज्ञ रागादीनां परिक्षयः। रागाद्यसंभवे प्राज्ञ पुण्यपापविमर्दनम्। तयोर्नाशे शारीरेण न पुनः संप्रयुज्यते (जा०दर्श० ६.५०-५१) अर्थात् अज्ञान के नष्ट हो जाने पर राग-द्वेषादि का भी विनाश हो जाता है। राग आदि विषयों के न रहने पर पाप-पुण्य का भी विलय हो जाता है और पुण्य-पाप के न रहने से ज्ञानी मनुष्य को पुनः शरीर नहीं धारण करना पड़ता है। महोपनिषद् के छठे अध्याय के ६७ वें मन्त्र में वीतराग का विवेचन इस प्रकार किया गया है— "अन्तः संत्यक्तसर्वाशो वीतरागो विवासनः। बहिः सर्वसमाचारो लोके विहर विज्वरः" अर्थात् (हे मनुष्यो!) सभी तरह की आशाओं को हृदय से निकालकर वीतराग तथा वासनारहित होकर बाह्य मन से सभी सांसारिक रीति-रिवाजों का सम्यकरूप से पालन करते हुए जगत् में तापविहीन होकर विचरण करो। इस प्रकार हम देखते हैं कि साधना आत्मसाक्षात्कारयोग की चरम स्थिति की प्राप्ति के लिए साधक में वीतराग का गुण नितान्त आवश्यक है। 'वीतरागी' बने बिना कोई भी जीवन के इस चरमलक्ष्य (भगवत्साक्षात्कार) को नहीं प्राप्त कर सकता। महोपनिषद् के छठे अध्याय में वीतराग का विस्तार से विवेचन किया गया है।

२४५. वेदत्रयी— वेद ज्ञान के असीम भाण्डागार कहे गये हैं। वेद विश्व के सर्वाधिक प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। वर्तमान में इनकी संख्या चार-ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद एवं अर्थवेद है। पूर्वकाल में 'वेद' शब्द का प्रयोग संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक एवं उपनिषद् सहित सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय के लिए होता था; किन्तु अब केवल संहिता के लिए ही वेद शब्द का प्रयोग होता है। संहिता अर्थात् मंत्र भाग भी पहले एक ही था। इसके पश्चात् इस मंत्र भाग के यज्ञों की आवश्यकतानुसार तीन विभाग किये गये, जो 'वेदत्रयी' कहलाये। स्तुतिपरक मंत्रों के संग्रह का नाम 'ऋग्वेद संहिता' यज्ञों की व्यवस्था से सम्बन्धित गद्यमय मंत्र अथवा वाक्यों के संग्रह का नाम 'यजुर्वेद संहिता' और उच्चस्वर में गायन किये जाने वाले मन्त्रों के संग्रह का नाम 'सामवेद संहिता' कहा गया। यही वेदों की तीन धाराओं के रूप में प्रख्यात हैं। इस प्रकार स्तुतिपरक (ऋच्यते स्तूयते इति ऋचा), गद्यात्मक (गद्यात्मको यजुः) एवं गायन परक (गीतिषु सामाख्या) होने से तीन धाराओं के रूप में विभाजित ये वेदत्रयी के रूप में प्रख्यात हैं। कालान्तर में प्रतिपाद्य विषय क्रम के अनुसार वेदव्यास जी ने वेदों को चार भागों में प्रविभक्त किया (वेदान् विव्यास इति वेदव्यासः) वे चार विभाग हैं— देवपरक स्तुतियाँ, यज्ञ, सामगान और सुखशान्तिदायी विविध प्रयोग। इन्हीं को आधार मान कर ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अर्थवेद का नामकरण हुआ। इसी को वेद चतुष्टयी कहा गया। सीतोपनिषद् के मन्त्र क्रमांक ३२ में वेदत्रयी को भगवान् विष्णु की वाणी के रूप में व्यक्त किया गया है, जो वैखानस ऋषि के हृदय से प्रादुर्भूत हुई, यथा— वैखानस ऋषे: पूर्व विष्णोर्वाणी समुद्भवेत्। त्रयीरूपेण संकल्प्य इत्थं देही विजृम्भते।

२४६. वेदान्त—द्र०-ज्ञानखण्ड-वेद-वेदान्त।

२४७. वैराग्य—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२४८. वैश्वदेव—वृहत् हिन्दी कोश में वैश्वदेव का अर्थ इस प्रकार अभिहित किया गया है— सभी देवों से सम्बन्ध रखने वाला, विश्वदेव के उद्देश्य से किया हुआ होम, यज्ञ; उत्तरापाठा-नक्षत्र। प्रसिद्ध कोश ग्रन्थ हिन्दी विश्व कोश के खण्ड २२ में इस प्रकार कहा गया है—विश्वदेवस्यायं विश्वदेव-अण्। विश्वदेव-सम्बन्धीय होमादि।

मनुस्मृति के तृतीय अध्याय में मनु ने कहा है- द्विजों को प्रत्येक दिन संस्कृत अग्नि में वैश्वदेव के उद्देश्य से सिद्ध अर्थात् पके हुए अन्न के द्वारा विधिपूर्वक हवन करना चाहिए। इसी अध्याय में वैश्वदेव होम की विधि का विस्तृत विवेचन भी किया गया है। गायत्री रहस्योपनिषद् के अन्तर्गत पाँचवीं कण्डिका में वैश्वदेव को गायत्री महामन्त्र के बीसवें अक्षर 'नः' का देवता कहा गया है-..... विंशं वैश्वदेवम्।

२४९. वैष्णवी माया— द्र०-त्रिगुणमयी माया।

२५०. व्योमचक्र— द्र०-नवचक्र।

२५१. शंयोर्वाक्— द्र०-यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ।

२५२. शक्तिचालिनी मुद्रा—योगशास्त्रों में मुद्राओं की संख्या दस (इदं हि मुद्रादशकं जरामरणनाशनम्-हठ०प्र० ३.७) बतलाई गई है। इन मुद्राओं का यौगिक क्रियाओं के जागरण में महत्वपूर्ण स्थान है। शक्तिचालिनी मुद्रा इन्हीं के अन्तर्गत आती है। इसका उपयोग योगीजन कुण्डलिनी महाशक्ति को जाग्रत् करने में करते हैं। 'पातञ्जल योग प्रदीप' में इस मुद्रा को इस तरह विवेचित किया गया है- 'सिद्ध या पद्मासन से बैठकर हाथों की हथेलियाँ पृथ्वी पर जमा दे। बीस-पच्चीस बार धीरे-धीरे दोनों नितम्बों को पृथ्वी से उठा-उठा कर ताढ़न करे। तत्पश्चात् मूलबन्ध लगाकर नासिका के दोनों छिद्रों से अथवा वाम से या फिर जो स्वर चल रहा हो, उस नासिका छिद्र से पूरक करके प्राणवायु को अपान वायु से संयुक्त करके जालन्धरबन्ध लगाकर शक्ति के अनुसार कुम्भक करे। कुम्भक के समय अश्विनी मुद्रा करे अर्थात् गुदा प्रदेश का आकर्षण-विकर्षण करता रहे। इसके बाद जालन्धरबन्ध खोलकर यदि दोनों नासिका छिद्रों से पूरक किया हो, तो दोनों से अथवा वाम से या पूरक से विपरीत नासिका छिद्र से रेचक करे और विकाररहित हो एकाग्रतापूर्वक स्थित हो जाये।' धेरण्ड संहिता में इस मुद्रा को करते समय उक्त क्रिया के साथ बालिश्त-भर चौड़ा, चार अङ्गुल लम्बा, कोमल, धेत एवं सूक्ष्म वस्त्र नाभि पर कटि सूत्र से आबद्ध कर समस्त शरीर पर भस्म मलने का उल्लेख है। प्रख्यात योग ग्रन्थ हठयोग प्रदीपिका के तृतीय उपदेश के श्लोक संख्या १०४ से लेकर ११३ तक में शक्तिचालिनी का विशद विवेचन किया गया है। इसमें शक्तिचालिनी को कुण्डलिनी का पर्याय कहा है। यहाँ पर कुण्डलिनी के सात पर्याय शब्द इस प्रकार कहे गये हैं- कुटिलाङ्गी, कुण्डलिनी, भुजङ्गी, शक्ति, ईश्वरी, कुण्डली, अरुन्धती। योगकुण्डल्युपनिषद् में उपनिषद्कार ने यौगिक क्रियाओं द्वारा इसी कुण्डलिनी को जाग्रत् करने का वर्णन किया है। इस उपनिषद् में शक्तिचालिनी मुद्रा को कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत् करने में सहायक कहा है। सरस्वती चालन को भी इसी का पर्याय कहा गया है अर्थात् सरस्वती चालन द्वारा भी कुण्डलिनी जागरण की वही प्रक्रिया सम्पन्न होती है, जो शक्तिचालिनी मुद्रा द्वारा सम्पन्न होती है। इसी तथ्य का उल्लेख योगकुण्डल्युपनिषद् (१.१०) में इस प्रकार किया गया है- 'यस्याः संचालने नैव स्वयं चलति कुण्डली' अर्थात् जिस (सरस्वती चालन) के संचालन से कुण्डलिनी स्वयं गतिशील हो जाती है। इसी उपनिषद् के मन्त्र क्रमांक ९ में सरस्वती चालन को कुछ विद्वज्जनों ने अरुन्धती कहा है- 'अरुन्धत्येव कथिता पुराविद्विः सरस्वती'। इस मुद्रा के सिद्ध होने पर योगी के समस्त रोगों का शमन एवं उत्तम स्वास्थ्य की प्राप्ति हो जाती है। यह मुद्रा कुण्डलिनी शक्ति को जाग्रत् करने में अत्यधिक सहायक कही गयी है।

२५३. शब्द ब्रह्म—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

२५४. शास्त्रवब्रत—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

२५५. शास्त्रवीमुद्रा—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

२५६. शिव-शक्ति—द्र०-अर्धनारीश्वर।

२५७. शीतलीप्राणायाम—योगदर्शन में प्राणायाम की महत्ता का वर्णन विस्तार से मिलता है। योग ग्रन्थों में प्राणायाम की संख्या लाभगा १६ बतलायी गई है, उनमें से प्रमुख ९ प्राणायाम ही आजकल प्रचलित हैं। इन्हीं ९ प्राणायामों के अन्तर्गत शीतली प्राणायाम का भी उल्लेख मिलता है। उनके नाम इस प्रकार हैं लोम-विलोम, सूर्यभेदन, उज्जायी, शीतकारी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा एवं प्लाविनी प्राणायाम। शीतली प्राणायाम का उल्लेख गोरक्ष संहिता व धेरण्ड संहिता में कुम्भक के रूप में इस प्रकार किया गया है- सहितः सूर्यभेदश्च उज्जायी शीतली तथा। भस्त्रिका भ्रामरी मूर्छा केवली चाष्टकुम्भकाः (गोरक्ष सं० १९५, धेर०सं०) अर्थात् क्रिया भेद से कुम्भक प्राणायाम के आठ भेद इस प्रकार हैं- सहित, सूर्यभेदी, उज्जायी, शीतली, भस्त्रिका, भ्रामरी, मूर्छा एवं केवली। शीतली प्राणायाम में

सर्वप्रथम दोनों नथुनों को बन्द करते हैं। ओठों को कौए की चोंच के समान बनाकर जिहा को उनमें से थोड़ा सा बाहर निकालते हैं। इसके बाद मुख द्वारा शनैः—शनैः वायु अन्दर खींचते हैं। यथाशक्ति कुम्भक करके दोनों नथुनों से धीरे-धीरे वायु बाहर निकाल देते हैं। यही शीतली प्राणायाम कहा गया है। यह शीतल प्रकृति का होता है। रूप-लावण्य में वृद्धि करता है। योग के प्रख्यात ग्रन्थ हठयोग प्रदीपिका के द्वितीय उपदेश के ५७-५८ वें श्लोक में भी शीतली प्राणायाम की क्रिया व गुणों का वर्णन मिलता है।

योगकुण्डल्युपनिषद् के २१ वें मन्त्र में उपनिषद्कार ने इस शीतली प्राणायाम को कुम्भक के अन्तर्गत इस प्रकार कहा है—‘सूर्योजायी शीतली च भस्त्री चैव चतुर्थिका। भेदैरेव समं कुम्भो यः स्यात्सहितकुम्भकः’ अर्थात् सूर्य भेदन, उज्जायी, शीतली एवं भस्त्रिका इन चार प्रकार के भेद से युक्त कुम्भक ‘सहित कुम्भक’ कहलाता है। इसी उपनिषद् के ३०-३१ वें मन्त्र में इसके गुणों एवं विधि का उल्लेख इस प्रकार किया गया है—‘जिह्वया वायुमाकृष्य पूर्ववत्कुम्भकादनु। शनैस्तु घाणरन्ध्राभ्यां रेचयेदनिलं सुधीः। गुल्मप्लीहादिकान्दोषान्ध्रयं पित्तं ज्वरं तृष्णाम्। विषाणि शीतली नाम कुम्भकोऽयं निहन्ति च’ अर्थात् शीतली प्राणायाम में जिह्वा द्वारा वायु को खींचकर पूर्व की भाँति कुम्भक करके नासिका से वायु को धीरे-धीरे निकालना चाहिए। इसके करने से प्लीहा, गुल्म, पित्तज्वर, तृष्णा आदि रोग नष्ट हो जाते हैं।

२५८. शुभेच्छा—द्र०-असंसक्ति।

२५९. श्रुंगार कला—द्र०-कामकला।

२६०. श्रद्धा—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२६१. श्राद्ध—कोश ग्रन्थों में श्राद्ध शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार निर्दिष्ट है—श्रद्धा प्रयोजनमस्य (हि०वि०को०खं० २३ पृ० २८५)। जिसका अभिप्राय यह है कि शास्त्रविधानोक्त पितृकर्म (पितरों के निमित्त जो कार्य किया जाता है) को श्राद्ध कहते हैं अर्थात् श्रद्धापूर्वक पितरों के उद्देश्य से अन्नादि का दान ही श्राद्ध है। श्राद्ध तत्त्व नामक ग्रन्थ में इसका उल्लेख इन शब्दों में है—‘संस्कृतव्यञ्जनाव्यञ्च पयोदधिवृत्तान्वितम्। श्रद्धया दीयते यस्मात् श्राद्धं तेन निगद्यते’ (श्रा० त०, हि०वि०को०खं० २३ पृ० २८५) अर्थात् संस्कृत(शुद्ध)अन्न व्यञ्जनादि को दुग्ध, दही और धी से संयुक्त करके पितरों के उद्देश्य से (उन्हें आत्मिक शान्ति प्रदान करने के लिए) श्रद्धापूर्वक दिया जाता है, इसलिए यह श्राद्ध, कर्म कहलाता है। स्थिति भेद से यह बारह प्रकार का होता है, जिसे नित्य श्राद्ध, नैमित्तिक श्राद्ध, काम्य श्राद्ध, वृद्धिश्राद्ध, सपिण्ड श्राद्ध, पार्वण श्राद्ध, गोष्ठीश्राद्ध, शुद्धवर्थ श्राद्ध, कर्माङ्गश्राद्ध, दैविक श्राद्ध, यात्रार्थ श्राद्ध (अथवा तीर्थ श्राद्ध) और पुष्ट्यवर्थ श्राद्ध नामों से जाना जाता है। इनमें प्रतिदिन किये जाने वाले श्राद्ध को नित्य श्राद्ध, किसी उद्देश्य विशेष से किये जाने वाले श्राद्ध को नैमित्तिक श्राद्ध, किसी विशिष्ट कामना के लिए किये गये श्राद्ध को काम्य श्राद्ध, वृद्धि(धनादि में वृद्धि)के उद्देश्य से किये जाने वाले को वृद्धि श्राद्ध, पिण्ड और अर्ध्य मिश्रित कर किये जाने वाले श्राद्ध को सपिण्डश्राद्ध, अमावस्या अथवा किसी निश्चित पर्व विशेष में किये जाने वाले श्राद्ध को पार्वण श्राद्ध, पितरों की तृतीय के निमित्त गोष्ठ में किये जाने वाले श्राद्ध को गोष्ठी श्राद्ध, शुद्धि के निमित्त किये जाने वाले श्राद्ध को शुद्धवर्थश्राद्ध, गर्भाधान-सीमान्तोन्यत्र आदि संस्कारों में जो श्राद्ध करते हैं, उसे कर्माङ्गश्राद्ध, देवताओं के उद्देश्य से किये जाने वाले श्राद्ध को दैविक श्राद्ध, तीर्थादि देशनातर भ्रमण के समय किये जाने वाले श्राद्ध को यात्रार्थ श्राद्ध (अथवा तीर्थ श्राद्ध) तथा शरीर की पुष्टि और अर्थोपार्जन के लिए किये जाने वाले श्राद्ध को पुष्ट्यवर्थ श्राद्ध कहते हैं। श्राद्ध की तरह तर्पण भी एक तृतिकारक क्रिया है। हिन्दी विश्वकोश में इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार विवेचित है ‘तर्पणतृप-प्रीणने’ अर्थात् तृतीय, प्रीणन सन्तुष्ट होने की क्रिया। इसके और भी कई अर्थ हैं; पर इसका प्रयोग प्रायः जलदान देकर, देवर्षि, पितृ, मनुष्य आदि को तृप्त करने के अर्थ में किया जाता है। स्नान के तीन प्रकार नित्य, नैमित्तिक और काम्य होते हैं। तर्पण भी उसका आवश्यक अंग है। तीनों स्नान करते समय तर्पण आवश्यक है। श्राद्ध और तर्पण का नाम प्रायः एक साथ आता है, इसका कारण यही है कि दोनों ही तृप्त-सन्तुष्ट करने वाली क्रियाएँ हैं। श्राद्ध-तर्पण की तरह ही मार्जन भी एक क्रिया है, जो अन्तर्बाह्य परिष्करण के लिए की जाती है। मार्जन का सीधा अर्थ है धो-माँजकर साफ करना, शोधन करना। इसीलिए पूजा अनुष्ठानादि में कुशादि से जल छिड़कर मंत्र पढ़ते हुए मार्जन क्रिया करके दोषक्षालन किया जाता है। तुलस्युपनिषद् में वर्णन है कि बिना तुलसी के ज्ञान, दान, जप, तीर्थ, श्राद्ध, तर्पण, मार्जन तथा देवार्चन आदि नहीं करना चाहिए- यज्ञ दानं जपं तीर्थं श्राद्धं वै देवतार्चनम्। तर्पणं मार्जनं चान्यन्न कुर्यात्तुलसीं विना (तुलसी०- १४)।

२६२. श्रीचक्र—द्र०-त्र्यक्षरीविद्या।
 २६३. श्रीबीज—द्र०-त्र्यक्षरीविद्या।
 २६४. श्रीविद्या—द्र०-त्र्यक्षरीविद्या।
 २६५. षट्चक्र—द्र०-ज्ञानखण्ड-सप्तचक्र।
 २६६. षडंगन्यास—द्र०-अङ्गन्यास।
 २६७. षड्गुण-षट्सम्पत्ति—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड-उपरति।
 २६८. षोडशी याग—द्र०-अतिरात्र यज्ञ।
 २६९. संवत्सर—द्र०-ज्ञानखण्ड।
 २७०. संवर्तक अग्नि—द्र०-कालाग्नि।

२७१. संवित्—सम्-विद्—क्षिप् से निर्मित संवित् शब्द वहुअर्थी है, जिसके अङ्गीकार ज्ञान, सम्भाषा, क्रियाकारी, आचार, संकेत आदि कई अर्थ होते हैं। आध्यात्मिक सन्दर्भ में यह प्रायः चेतना, चैतन्य ज्ञान और सम्यक् आध्यात्मिक ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त होता है। महोपनिषद् में सच्चिदानन्द परब्रह्म के दर्शन करने का साधन बताते हुए उपनिषद्कार ने जगत् में रहते हुए निर्विकार भाव से अनात्मा (आत्मा के अतिरिक्त सभी) का परित्याग करके सदैव आत्म चैतन्य (निरन्तर चैतन्य ज्ञान- संवित्) में रमण करने का निर्देश दिया है— अनात्मतां परित्यज्य निर्विकारो जगत्स्थितौ। एकनिष्ठतयाऽन्तःस्थः संविन्मात्रपरो भव। (महो० ४.८३)। इसका उदाहरण देते हुए कहा गया है कि जिस प्रकार मरुस्थल में भ्रमपूर्वक दिखाई देने वाला जल वस्तुतः स्थल ही रहता है, ठीक उसी प्रकार जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति से युक्त इस संसार को आत्मचिन्तन (सर्वत्र आत्मदर्शन) के द्वारा चिन्मय (चैतन्य) ही समझना चाहिए— मरुभूमौ सर्वं चिन्मात्रं स्वविचारतः (महो० ४.८४)। इस चैतन्य रूप संवित् (ज्ञान) की अखण्डाकार वृत्ति का जो अभ्युदय होता है अर्थात् उस चैतन्य ज्ञान की अनवरत अनुभूति होती है, उसी को 'ब्रह्म सम्पत्ति' भी कहा गया है, जैसा कि पाशुपतब्रह्मोपनिषद् के भाष्य में उल्लिखित है—'स्वेण रूपेण स्वामात्रमवशिष्यत इति या संविद्खण्डाकारवृत्तिरुदेति सेयं ब्रह्मसम्पत्तिं करोतीति (पा०ब्र०३०का० १ ब्र०भा०)। इसी उपनिषद् में यजांग को भी 'ब्रह्म सम्पत्ति' कहा गया है। यहाँ यजांग का तात्पर्य परमात्मतत्त्व के अनुसन्धान में संलग्न अन्तर्ज्ञ नामक 'सम्यक् ज्ञान' है— यही ब्रह्म सम्पत्ति का हेतु है। जैसा कि उपनिषद् भाष्यकार ब्रह्मयोगी जी ने कहा है— (तद्ब्रह्म) अनुसन्धानात्मकान्तर्यज्ञाभिधानाङ्गं सम्यक् ज्ञानमंगिब्रह्मसम्पत्तिहेतुः (पा०ब्र०प०का०२२ ब्र०भा०)। सर्वं खल्विदं ब्रह्म आदि महावाक्यों का यही तत्त्वार्थ है कि सबको (जड़-चेतन सभी को) परमात्मा और आत्मा के अतिरिक्त कुछ भी न समझे। यही आत्मदृष्टि है। इसी से 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का तथ्य व्यवहार में उत्तरता है और सबसे अपने समान अर्थात् वैसा ही व्यवहार किया जाता है, जैसा हम औरं से अपने लिए चाहते हैं। फिर—'सीय राम मय सब जग जानी, करहुँ प्रणाम जोरि जुग पानी' का तत्त्वदर्शन गले उत्तरता है और ब्रह्म के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दीखता। श्रीमद्भगवद्गीता में भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को सब भूतों में अपने को स्थित बताकर इस तथ्य की पुष्टि की है—सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः। सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते (गी० ६.३१)। इसी से एक श्लोक पूर्व में उन्होंने अपने को सबमें और सबको सर्वथा वर्तमानोऽपि स योगी मयि वर्तते (गी० ६.३१)। इसी से एक श्लोक पूर्व में उन्होंने अपने को सबमें और सबको अपने में देखने वाले के लिए कहा है कि मैं कभी उसके लिए अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिए अदृश्य नहीं होता— अपने में देखने वाले के लिए कहा है कि मैं कभी उसके लिए अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिए अदृश्य नहीं होता— यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति (गी० ६.३०)। इस प्रकार यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति। तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति (गी० ६.३०)। इस प्रकार उस परमात्मा को तत्त्वतः जानने वाले तत्त्वनिष्ठ सर्वत्र उसे ही देखते हैं। उसके जन्म और कर्मों को दिव्य मानते हुए देह त्यागकर पुनः जन्म नहीं लेते—जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः। त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन (गी० ४.९)। गीता के अनुसार भगवान् को तत्त्व से जानने का अर्थ उनकी अष्टा प्रकृति (जिसका वर्णन अलग से अपराशक्ति शीर्षक के अन्तर्गत किया जा चुका है) और अपराशक्ति (चैतन्यशक्ति) से ही इस सृष्टि का आविर्भाव हुआ है। उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, यह समझना और उसी के अनुसार व्यवहार करना है। अक्ष्युपनिषद् में वर्णित है कि प्रकृति से निर्मित समस्त प्रपञ्च जड़ हैं और आदि, मध्य तथा अन्तवाला होने से दुःखदाई है, अतः अपने को सदैव चैतन्य आत्मा (चिदात्मा) मानकर तत्त्वनिष्ठ रहना चाहिए अथवा तत्त्वज्ञान में अवस्थित रहना है, चाहिए—आदिमध्यावसानेषु दुःखं सर्वमिदं यतः। तस्मात् सर्वं परित्यज्य तत्त्वनिष्ठो भवानघ (अक्षिं० २.४६.४७)।

इसी उपनिषद् में योग की सातवीं भूमिका विदेहमुक्ति की चर्चा करते हुए उपनिषद्कार ने कहा है कि तत्त्वनिष्ठ बनकर स्वयं को अन्धकार से अतीत, समस्त आभासों से रहित, आनन्दस्वरूप, निर्मल, शुद्ध मन, वाणी से अगोचर, प्रज्ञानघन [(धनप्रज्ञ जीव की तीन संज्ञाओं विश्व, प्राज्ञ और तैजस में विश्व, बहिष्प्रज्ञ, तैजस अन्तःप्रज्ञ और प्राज्ञ घन प्रज्ञ है) अर्थात् अज्ञानोपहित चैतन्य, आनन्द की अनुभूति करने वाला चैतन्य आत्मा] आनन्दस्वरूप ब्रह्म हूँ, ऐसी भावना करे-आनन्दमलं शुद्धं मनोवाचामगोचरम्। प्रज्ञानघनमानन्दं ब्रह्मास्मीति विभावयेत् (अक्षि० ४८)।

२७२. संस्कार—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२७३. सच्चिदानन्द—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२७४. सत्त्वापत्ति—द्र०-असंसक्ति।

२७५. सदाशिव—द्र०-अर्धनारीश्वर।

२७६. सदगुरु—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

२७७. सनातन ब्रह्म—द्र०-कालातीत।

२७८. सन्ध्या—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड।

२७९. सरस्वती चालन—द्र०-शक्तिचालिनी मुद्रा।

२८०. सर्वान्तर्यामी—यह शब्द ईश्वर के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है। हिन्दी विश्व कोश के अनुसार-जो सबके अन्तर्मन की बात जानते हैं, जो समस्त भूत-प्राणियों के अन्तःकरण में विद्यमान रहते हैं, उन्हें ही सर्वान्तर्यामी कहते हैं। गीता में भी भगवान् ने अर्जुन को संबोधित करते हुए कहा है कि मैं (ईश्वर) ही समस्त भूतों (प्राणियों) के हृदय क्षेत्र में प्रतिष्ठित रहता हूँ। यथा- ईश्वरः सर्वभूतानां हृदेशोऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया (गी० १८.६१) इसी तरह श्वेताश्वर उपनिषद् के अध्याय ६ के ग्यारहवें मन्त्र में सर्वत्र संव्यास रहने वाली ईश्वर की सत्ता को सभी प्राणियों के अन्तःकरण में स्थित कहा है- 'एको देवः सर्वभूतेषु गृष्ठः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा। कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च (६.११) अर्थात् सम्पूर्ण भूतों में वह एक ही देव प्रतिष्ठित है, वह सर्वव्यापक, सर्वभूतान्तरात्मा, सबके कर्मों का अधिष्ठाता, सभी प्राणियों में वास करने वाला, सबका साक्षी, पूर्ण चैतन्य, विशुद्धरूप एवं निर्गुण स्वरूप वाला ईश्वर है। नृसिंह पूर्वतापिन्युपनिषद् के १.१२ में भी यही शब्द ऋत एवं सत्य स्वरूप भगवान् नृसिंह के विशेषण के रूप में प्रयुक्त किया गया है। यहाँ पर नृसिंह भगवान् को परब्रह्म पुरुष, सर्वान्तर्यामी एवं सर्वव्यापी परमात्मा के रूप में विवेचित किया गया है।

२८१. सविकल्पक समाधि—द्र०-ज्ञानखण्ड -समाधि।

२८२. सविता—द्र०-ज्ञानखण्ड।

२८३. सविशेष ब्रह्म—द्र०-कालातीत।

२८४. सहजसमाधि— योग के ग्रन्थों में समाधि के दो रूपों का वर्णन मिलता है। प्रथम अष्टाङ्ग योग की चरमावस्था वाली स्थिति जो सविकल्प और निर्विकल्प दो रूपों में बताई गई है। द्वितीय इस औपचारिक साधना से भिन्न सहज ढंग से प्राप्य समाधि। जो कि सामान्य जीवन क्रम को अपनाकर कोई असामान्य साधना उपक्रम न करते हुए, साधारण कार्यों को नियमित रूप से करते हुए जीवन लक्ष्य को प्राप्त कर लेना। कबीरदास जी ने इसी अवस्था को जीवन में अनुभव करते हुए कहा है- 'साधो सहज समाधि भली'। इसी सहजावस्था का उल्लेख महोपनिषद् के चतुर्थ अध्याय के ६१ वें एवं ६२ वें मन्त्र में इस प्रकार किया गया है- 'उदितौदायौसौन्दर्यवैराग्यसगर्भिणी। आनन्दस्यन्दिनी यैषा समाधिरभिधीयते॥ दृश्यासंभवबोधेन रागद्वेषादितानवे। रतिर्बलोदिता याऽसौ समाधिरभिधीयते'। अर्थात् जो सुन्दर औदार्य एवं वैराग्य-रस से ओत-प्रोत आनन्दमय अवस्था की प्राप्ति होती है, उसे ही समाधि कहा जाता है। जब यह ज्ञात हो जाता है कि दृश्य पदार्थों की सत्ता है ही नहीं और राग-द्वेष आदि सम्पूर्ण दोपांकों की समाप्ति पूरी तरह से हो जाती है, तब उस समय अभ्यास बल के द्वारा जो एकाग्र-रति (आनन्द) प्रकट होती है, उसे ही समाधि कहते हैं। इन दोनों मन्त्रों में समाधि की जो अवस्था वर्णित है, वह अष्टाङ्गयोग में प्रतिपादित समाधि से भिन्न है। यहाँ समाधि की जिस स्थिति का उल्लेख किया गया है, उसे 'सहज समाधि' की संज्ञा प्रदान की जा सकती है। सामान्य साधक के लिए यह सहज समाधि ही श्रेष्ठ है। समाधि की औपचारिक प्रक्रिया का विशद वर्णन १०८ उपनिषद् 'ज्ञानखण्ड' के परिशिष्ट में किया जा चुका है।

२८५. सहजावस्था— सामान्य जीवन क्रम को व्यवस्थित बनाने के लिए योग का प्रादुर्भाव हुआ। योग-साधना की पराकाष्ठा ही सहजावस्था कहलाती है। यह योग की ऐसी अवस्था है, जिसमें साधक हर स्थिति में समान बना रहता है, जैसे- मान-अपमान, सर्दी-गर्मी, खान-पान, रहन-सहन, जाति-पाँति, जीवन-क्रम के हर उतार-चढ़ाव में। यह अवस्था साधक के पूर्व जन्म के श्रेष्ठ संस्कारों व इस जन्म में महान् पुरुषों और गुरुकृपा से ही प्राप्त होना संभव है। गीता का समत्व योग, ब्राह्मी स्थिति एवं स्थित- प्रज्ञ आदि इस सहजावस्था के उदाहरण हैं। उपनिषद्कार ने महोपनिषद् में इस अवस्था का विशद विवेचन किया है। वहाँ कहा गया है कि बन्धन एवं मोक्ष के दो ही कारण हैं; पहला ममता युक्त होना, दूसरा ममता हीन होना- द्वे पदे बध्यमोक्षाय निर्ममेति ममेति च। ममेति बध्यते जन्मनिर्ममेति विमुच्यते (महो० ४.७२)। जब व्यक्ति मोह-ममता से परे हो जाता है, उसमें बोध (ज्ञानप्राप्ति) की क्षमता उत्पन्न हो जाती है और समस्त कर्मों (काम्यकर्मों) से विरत हो जाता है, तब वह स्वयमेव सहजावस्था प्राप्त कर लेता है-उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः। योगिनः सहजावस्था स्वयमेवोपजायते (महो० ४.७८)। इस अवस्था को अत्यधिक दुर्लभ बतलाया गया है। उच्चतम योग की स्थिति होने पर अथवा महान् गुरु की जब कृपा हो, तभी सहजावस्था की स्थिति बनती है- 'दुर्लभा सहजावस्था सदगुरोः करुणां विना' (महो० ४.७७) अर्थात् सदगुरु की अनुकम्पा के अभाव में सहजावस्था को प्राप्त करना अत्यन्त दुष्कर है। उनकी करुणा से ही इस अवस्था की प्राप्ति संभव है।

२८६. सहस्रदल कमल—द्र०-ज्ञानखण्ड -समचक्र ।

२८७. सामीप्य—द्र०-ज्ञानखण्ड -पञ्चविधि मुक्ति ।

२८८. सायुज्य—द्र०-ज्ञानखण्ड -पञ्चविधि मुक्ति ।

२८९. सारूप्य—द्र०-ज्ञानखण्ड -पञ्चविधि मुक्ति ।

२९०. सालोक्य—द्र०-ज्ञानखण्ड -पञ्चविधि मुक्ति ।

२९१. सावित्री—द्र०-ज्ञानखण्ड ।

२९२. सावित्री विद्या—द्र०-ज्ञानखण्ड -सावित्री ।

२९३. सिद्ध-सिद्धि—द्र०- अष्टसिद्धि ।

२९४. सुदर्शनचक्र—द्र०-महाचक्र-सुदर्शनचक्र ।

२९५. सुषुप्तिं—द्र०-असंसक्ति ।

२९६. सुषुप्त पद भूमिका—द्र०-असंसक्ति ।

२९७. सुषुप्ता—द्र०-ज्ञानखण्ड-सुषुप्ता नाड़ी ।

२९८. सूक्तवाक्—द्र०-यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ ।

२९९. सूक्ष्म शरीर—द्र०-ज्ञानखण्ड-त्रय-शरीर ।

३००. सूर्योकाश—द्र०-ब्रह्मविद्याखण्ड-व्योमपञ्चक ।

३०१. सौभाग्यलक्ष्मी विद्या—द्र०-ऋक्षरी विद्या ।

३०२. स्तोम—द्र०-त्रिवृत् स्तोम ।

३०३. स्थूल प्रकृति—स्थूल प्रकृति को जानने से पूर्व प्रकृति को जानना आवश्यक है। कोशग्रन्थों के अनुसार-प्रकृति के मुख्य अर्थ निम्नवत् हैं- स्वभाव, मूल अथवा प्रधान गुण जो सदैव बना रहे। भगवान् की मायाख्या शक्ति को भी प्रकृति कहा गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में परा एवं अपरा भेद से दो प्रकार की प्रकृति का वर्णन मिलता है। सत्त्व, रज एवं तमोगुण की साम्यावस्था का नाम ही प्रकृति है। सांख्य दर्शन के अनुसार-प्रकृति ही जगत् का मूल अथवा बीज है। प्रकृति द्वारा ही विश्वब्रह्माण्ड का प्राकट्य हुआ। शास्त्रानुसार-आत्मा (पुरुष) से भिन्न आब्रह्मस्तम्बपर्यन्त समस्त जगत् प्रकृति द्वारा ही विश्वब्रह्माण्ड का प्राकट्य हुआ। योगचूडामण्युपनिषद् में परमात्मा की इसी स्थूल प्रकृति के द्वारा शरीर रूपी जगत् के प्राकट्य का उल्लेख प्रकृति है। योगचूडामण्युपनिषद् में परमात्मा की इसी स्थूल प्रकृति के द्वारा शरीर रूपी जगत् के प्राकट्य का उल्लेख सक्रियता में विशेष भूमिका निभाते हैं, यथा- ज्ञानेन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय, ज्ञान के विषय, पंच-प्राण, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार

स्तुवा

आदि। उपनिषदकार लिखते हैं—पंचभूतसमवायः शरीरम्। ज्ञान कर्मेन्द्रियैर्ज्ञानविषयैः प्राणादिपंचवायुमनो—
बुद्धिचित्ताहंकारैः स्थूलकल्पितैः सोऽपि स्थूलप्रकृतिरित्युच्यते (यो०च० ७२)।

३०४. स्तुवा—द्र०—यज्ञीय उपकरण एवं क्रियाएँ।

३०५. स्वप्न भूमिका—द्र०—असंसक्ति।

३०६. स्वयंभुव—द्र०—ज्ञानखण्ड-स्वयम्भू-परिभू।

३०७. स्वर—वेदों में तीन प्रकार के स्वरों का उल्लेख है— प्रथम उदात्त, द्वितीय अनुदात्त और तृतीय स्वरित। ध्वनित या शब्दित होने के कारण इन्हें स्वर कहते हैं। उपनिषदों के अन्तर्गत छान्दोग्य २.२२.५ एवं तैत्तिरीय १.२.१ में स्वर अ, आ आदि ध्वनियों का बोधक कहा गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों में इसे आदित्य, प्राण, पशु, श्री, प्रजापति एवं अनन्त के रूप में वर्णित किया गया है, यथा—‘य आदित्यः स्वर एव सः’ (जै०उ०ब्रा० ३.३३.१), ‘प्राणाः स्वरः’ (तां० ब्रा० ७.१.१०) इत्यादि। हिन्दी वर्णमाला में ११ स्वर इस प्रकार हैं— अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ए, ऐ, ओ एवं औ। संगीत शास्त्र के अन्तर्गत भी सात स्वरों का वर्णन मिलता है। ये सात स्वर इस प्रकार हैं— षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत एवं निषाद। उपनिषद् (योग चूड़ामणि उपनिषद्) में जिस ‘स्वर’ का विवेचन है, वह एक अलग विषय है। वह है साधना के क्षेत्र में ‘स्वर’ (श्वास-प्रश्वास) प्रक्रिया का विशेष योगदान। इसका प्रचलित नाम प्राणायाम है। प्राणायाम की क्रिया नासिका के बायें-दायें छिद्रों से श्वास ग्रहण करने, रोकने और निकालने से सम्बन्ध होती है। नासिका के बायें-दायें छिद्र से श्वास-प्रश्वास पर विशेष नियन्त्रण करना स्वर-साधना कहा जाता है। बायें छिद्र से ग्रहण की गई वायु ‘चन्द्र स्वर’ तथा दायें स्वर से ग्रहण की गई वायु ‘सूर्य स्वर’ के अन्तर्गत मानी जाती है। इसी को क्रमशः इड़ा स्वर और पिंगला स्वर भी कहा जाता है। योग के ग्रन्थों में स्वर-साधना का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। योग चूड़ामणि उपनिषद् के रचयिता ने भी इसका उल्लेख करते हुए कहा है—अभ्यास क्रम में सर्वप्रथम दायीं नासिका ‘चन्द्रअंश’ से श्वास खींचकर रेचक करते हुए अभ्यास करे, फिर दायीं नासिका ‘सूर्यअंश’ से श्वास खींचकर रेचन का अभ्यास करना चाहिए। जब दोनों स्वरों की संख्या (चन्द्र-सूर्य) समान हो जाए, तब अभ्यास बन्द कर देना चाहिए-चन्द्रांशेन समभ्यस्य सूर्यांशेनाभ्यसेत् पुनः। या तुल्या तु भवेत्संख्या ततो मुद्रां विसर्जयेत् (यो०च० ६७)।

३०८. स्वराद्-विराद्— जो स्वयं दीर्घिमान्, प्रकाशमान हो और निरन्तर दूसरों को आलोकित करता हो, वही स्वराद् है तथा जो सबसे विशाल हो, जिसमें सबका समावेश हो जाए, उसे ‘विराद्’ कहा जा सकता है; परन्तु ये दोनों शब्द यहाँ ‘छन्द’ के प्रकरण में प्रयुक्त हुए हैं। छन्दः शास्त्र के अनुसार-वैदिक छन्दों के अन्तर्गत स्वराद् एवं विराद् की भी गणना होती है। ये दोनों वैदिक छन्द विशेष के रूप में प्रख्यात हैं। जिस छन्द के प्रत्येक द्विपाद में आठ अक्षर एवं एक पाद में दशाक्षर हों, उसे ही स्वराद् (स्वराज्) कहते हैं (हि०वि०को०पु० सं० ५९५)। छन्दः शास्त्र के तृतीय अध्याय के पृष्ठ १९ में विराद् का लक्षण इस प्रकार से वर्णित है— ‘दशकास्त्रयो विराद्’ (ऋ० सर्वा० ६) अर्थात् दश अक्षरों के तीन पादों वाले वैदिक छन्द का नाम विराद् (विराज्) है। वेद-उपनिषदादि ग्रन्थों में ‘विराद्’ की एक समग्र एवं विशिष्ट अवधारणा भी है। जिसे ‘विराद् पुरुष’ के नाम से जाना जाता है। प्रसिद्ध पुरुषसूक्त (ऋ० १०.१९०; यजु० ३१वें अध्याय) में उस विराद् पुरुष का व्यापक स्वरूप प्रकट हुआ है। १०८ उपनिषद् ‘ज्ञानखण्ड’ के परिशिष्ट में इसका विस्तृत विवरण देखा जा सकता है। गायत्री रहस्योपनिषद् के चौथे-पाँचवें मन्त्र में इन दोनों छन्दों को परब्रह्म के रूप में विवेचित किया गया है—स्वराद् विराद् वषट् ब्रह्मरूपेति (गा०ह० ४-५)।

३०९. स्वाधिष्ठान चक्र—द्र०—नवचक्र।

३१०. स्वेदज—द्र०—ब्रह्मविद्याखण्ड -कला।

३११. हठयोग—द्र०—ब्रह्मविद्याखण्ड।

३१२. हिरण्यगर्भ—द्र०—ज्ञानखण्ड।



मन्त्रानुक्रमणिका - साधनाखण्ड

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अकर्तृकमरज्जं च गगने	महो० ५.४४	अत्रैते श्रोका भवन्ति	त्रिंब्रा० २.१
अकार उकारो मकारश्चेति	यो०चू० ७४	अथ कस्मादुच्यते	नृ०पूर्व० २.९
अकारे तु लयं प्राप्ते	ध्या०बि० १०	अथ कस्मादुच्यते ज्वलन्तम्	नृ०पूर्व०२.११
अकारोकारमकार	गा०रह० ४	अथ कस्मादुच्यते नामामीति	नृ०पूर्व०२.१७
अक्षसूत्राङ्गुशधरा	सर०रह० ३८	अथ कस्मादुच्यते नृसिंहमिति	नृ०पूर्व०२.१३
अक्ष्यन्तस्तारयोश्वन्द्र	अद्व०ता० ९	अथ कस्मादुच्यते भद्रमिति	नृ०पूर्व०२.१५
आगम्या वचसां शान्ता	अक्षि० २.४१	अथ कस्मादुच्यते भीषणम्	नृ०पूर्व०२.१४
अग्निरूपा अत्रपानादि	सीता० १५	अथ कस्मादुच्यते महाविष्णु...	नृ०पूर्व०२.१०
अग्निवायुसूर्यरूपा	गा०रह० ५	अथ कस्मादुच्यते मृत्युमृत्युम्	नृ०पूर्व०२.१६
अघोरबीजमन्त्रेण	रुद्र०जा० २४	अथ कस्मादुच्यते सर्वतोमुखम्	नृ०पूर्व०२.१२
अङ्गचेष्टार्पणं बलिः	द०मू० २३	अथ कस्मादुच्यतेऽहमिति	नृ०पूर्व०२.१८
अङ्गानां मर्दनं कृत्वा	ध्या०बि० ७१, यो०कु० ४१	अथ कानि त्रीणि वलयानि	नृ०षट० ३
अङ्गानि मात्राणि	पा०ब्रा० १.१७	अथ कानि नामानि भवन्ति	नृ०षट० २
अङ्गुष्ठतर्जनीभ्यां तु	यो०कु० १.१२	अथ कालाग्निरुद्रः प्रोवाच	रुद्र० जा० ४७
अङ्गुष्ठमात्रमात्मानं	यो०कु० ३.२६	अथ कालाग्निरुद्रं	रुद्र०जा० ४६
अङ्गुष्ठादि स्वावयव....	त्रिंब्रा० २.१२१	अथ कालाग्निरुद्रं भगवन्तं	काल०रु० २
अङ्गैः प्रथमाऽवृत्तिः	सौ०ल० १.६, १०	अथ कालाग्निरुद्रोपनिषदः	काल०रु० १
अचक्षुः श्रोत्रमत्यर्थं	पा०ब्रा० २.२९	अथ किं बाह्यं वलयम्	नृ०षट० ६
अचिरादेव तत्प्राप्तिः	त्रिंब्रा० २.१४५	अथ किं मध्यमं	नृ०षट० ५
अजपानाम गायत्री	यो०चू० ३३	अथ किमान्तरं वलयम्	नृ०षट० ४
अजाग्रत्स्वप्रनिद्रस्य	महो० ५.५०	अथ तां पञ्चभिर्भाईरमृतैः	अक्ष० ४
अज्ञस्यार्धप्रबुद्धस्य	महो० ५.१०५	अथ तुलस्युपनिषदं	तुलसी० १
अज्ञानात्तु चिदाभासो	यो०कु० ३.३०	अथ ते अपि संत्यज्य	महो० ५.१६
अज्ञानोपहतो बाल्ये	महो० ६.२३	अथ द्वात्रिंशदरं	नृ०पूर्व० ५.६
अज्ञासिंषं पूर्वमेवम्	महो० २.१७	अथ द्वादशारं द्वादशपत्रं	नृ०पूर्व० ५.४
अणोरणीयान्महतो	शरभ० २१	अथ ध्यानम् वज्राङ्गं	लांगूल० ३
अण्डाकृति तिरश्चं च	त्रिंब्रा० २.५९	अथ नारायणः	महो० १.८
अतः पौरुषमाश्रित्य	महो० ४.१०३	अथ नित्यो नारायणः	नारा० २
अतः संकल्पसिद्धेयं	महो० ४.१२२	अथ पञ्चदशा ऋगात्मकस्य	सौ०ल० १.३
अतश्चात्मनि कर्तृत्वम्	महो० ४.१४	अथ पुनरुत्थाप्य	अक्ष० १५
अतसीपुष्टि संकाशं	ध्या०बि० ३०	अथ पुनरेव नारायणः	महो० १.७
अतिबाह्यं तथा बाह्यम्	महो० २.७३	अथ पुरुषो ह वै	नारा० १
अतिमोहकरी माया मम	शरभ० २४	अथ प्रजापतिर्गुहं	अक्ष० १
अतिशून्यो विमर्दश्च	सौ०ल० २.८	अथ बहिलक्ष्यलक्षणं	अद्व० ता० ६
अतीतः सर्वभावेभ्यो	महो० ६.५६	अथ भगवन्तं देवा	सौ०ल० १.१
अतुले त्वतुलायां हि	तुलसी० ५	अथ मध्यलक्ष्यलक्षणं	अद्व०ता० ७
अतो निदाघ तत्त्वज्ञ	महो० ५.१७०	अथ वागीश्वरी धाम	यो०कु० २.३२
अत्राप्यावृत्तिनाशेन	सर०रह० ५७	अथवा सर्वकर्तृत्वम्	महो० ६.५
अत्रैते मन्त्ररहस्यश्रोका	द०मू० ६	अथ व्योमानिलानल....	त्रिंब्रा० १.९

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अथ षोडशारं षोडशपत्रं	नृ०पूर्व० ५.५	अधमे द्वादश मात्रा	यो०चू० १०४
अथ सनक्तुमारः पप्रच्छ	काल०रु० ४	अधमे व्याधिपापानां	त्रि०ब्रा० २.१०६
अथ सावित्री गायत्रा	नृ०पूर्व० ४.८	अधमे स्वेदजननं	यो०चू० १०५
अथ सूर्यथर्वाङ्गिरसं	सूर्य० १	अधश्च चुबुकं मूलं	यो०कु० २.३४
अथ ह वै स्वयंभूर्ब्रह्मा	पा०ब्र० १.१	अधस्तात्कुञ्चनेनाशु	यो०कु० १.५२
अथ ह सांकृतिरादित्यं	अक्षि० २.१	अधिष्ठानं समस्तस्य	रुद्रह० ४८
अथ ह सांकृतिर्भगवान्	अक्षि० १.१	अधिष्ठानमनौपम्यम्	पा०ब्र० २.२८
अथ हैतानि नामानि	राधा० ३	अधिष्ठानमनौपम्याम...	महो० ४.८६
अथ हैनं कालाग्निरुद्रं	रुद्र०जा० १	अधोगतिमपानं वै	यो०कु० ०१.४२
अथ हैनं देवा ऊरुनवं	सौ०ल०३.१	अध्यात्म ब्रह्मकल्प	पा०ब्र० २.२
अथ हैनं देवा ऊरुस्तुरीया	सौ०ल००२.१	अध्यात्ममधिदैवं च	सर०रह० १६
अथ हैनं पैप्पलादो	शरभ० १	अध्यात्मरतिरासीनः	महो० २.४७
अथ हैनं भगवन्तं	रुद्र०जा० २६	अनन्तवासुकितक्षक	गरुड० २४
अथाकाशोऽन्तःकरण ...	त्रि०ब्रा० १.५	अनन्तस्यात्मतत्त्वस्य	महो० ५.१७८
अथातःसर्वोपनिषत्सारं	प्रा० हो० १	अनन्योद्वेगकारीणि	अक्षि० २.६
अथातो गायत्री.....	गा०रह० २	अनया तीक्ष्णया तात	महो० ६.३२
अथातोऽद्य तारको	अद्व०ता० १	अनया दुरहंकृत्या	महो० ५.९४
अथातो ब्रह्मजिज्ञासेति	सीता० ९	अनया विद्यया योगी	यो०कु० २.१६
अथातो महोपनिषदं	महो० १.१	अनया सदृशं पुण्यं	ध्या०बि० ६५
अथातो वीरशक्तिश्चतुर्भुजा	सीता० ३७	अनया सदृशी विद्या	यो०चू० ३४
अथात्मनिर्णयं	ध्या०बि० ९३-१	अनाख्यत्वादगम्यत्वान्मनः	महो० २.३
अथापरं प्रवक्ष्यामि	महो० ५.१	अनाख्यमनभित्यकं	यो०कु० ३.२५
अथापिधानमस्यमृतत्वा	प्रा०हो० १३	अनागतानां भोगानाम्	महो० ५.१७१
अथाष्टारमष्टपत्रं	नृ०पूर्व० ५.३	अनात्मतां परित्यज्य	महो० ४.८३
अथाहं संप्रवक्ष्यामि	यो०कु० ०२.१	अनावित्येष बाह्यात्मा	प्रा०हो० १७
अथेत्थं भूततन्मात्रवेष्टितं	महो० ५.१५२	अनाहतं तु यच्छब्दं	ध्या०बि० ३
अथैवं स्तुतिभिः	गो०पूर्व० ४६	अनाहतं विशुद्धिं च	यो०कु० ३.१०
अथो य इषुधिस्तवरे	नी०रुद्र० २.८	अनिरुद्धं हरि योगी	त्रि०ब्रा० २.१४३
अथो ये अस्य सत्वानः	नी०रुद्र० २.३	अनुपनीतशतमेकमेकेन	नृ०पूर्व० ५.१९
अथोवाच याश्च मृत्योः	अक्ष० १३	अनुरक्तिः परे तत्त्वे	त्रि०ब्रा० २.२९
अथोवाच ये देवाः	अक्ष० ६	अनेकाकारखचित्तम्	त्रि०ब्रा० २.१५४
अथोवाच ये देवा अन्तरिक्ष ..	अक्ष० ७	अनेजदेकं मनसो	गो०पूर्व० ४८
अथोवाच ये देवा दिविषदः	अक्ष० ८	अनेन क्रमयोगेन	अक्षि० २.२५
अथोवाच ये ब्रह्मविष्णु ...	अक्ष० १०	अनेशत्रस्येषव	नी०रुद्र० २.७
अथोवाच ये मन्त्रा या	अक्ष० ११	अन्तः प्रणवनादाख्यो	पा०ब्र० २.३
अथोवाच ये शैवा वैष्णवाः	अक्ष० १२	अन्तःशीतलया बुद्ध्या	महो० ६.४३
अथोवाच ये सांख्यादितत्त्वं..	अक्ष० ११	अन्तः संव्यक्तसर्वाशो	महो० ६.६७
अदितिर्घजनिष दक्ष	देवी० १३	अन्तरात्मा भवेद्वृह्मा	रुद्रह० १२
अदृष्टपारपर्यन्ते प्रथमं	महो० ५.१६०	अन्तरास्थां परित्यज्य	महो० ६.१
अद्वैतं परमानन्दं	रुद्रह० ४७	अन्तर्दृश्ययोर्भेदं	सर०रह० ५३
अद्वैते स्थैर्यमायाते	अक्षि० २.३१	अन्तर्बाह्यलक्ष्ये दृष्टै	अद्व०ता० १२

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अन्तर्मुखतया तिष्ठन्बहिर्वृत्ति..	अक्षिं २.३६	अरुणकमलसंस्था	सौ०ल० १.४
अन्तर्याम्यात्मना	सर०रह० १९	अरुद्धमथवा रूढं	महो० ५.१४
अन्तर्लक्ष्यजलज्योतिः	अद्व०ता० १३	अरेषु भ्रमते जीवः	त्रिंब्रा० २.६१
अन्तर्वैराग्यमादाय	महो० ६.७१	अरैर्वा एतत्सुबद्धं	नृ०पूर्व० ५.७
अन्तश्चरसि भूतेषु	प्रा०हो० ८	अर्थादर्थान्तरं चित्ते	महो० ५.५
अन्तेऽनन्तं समारोप्य	सौ०ल० २.११	अर्धचन्द्रसमाकारं	त्रिंब्रा० २.१३७
अन्ते पञ्चाक्षराण्येवं	रामपूर्व० ४.४६	अर्धमात्रात्मकं कृत्वा	ध्या०बि० ३९
अन्तपतेऽन्तस्य नो	प्रा०हो० ६	अलभ्यिर्योगतत्त्वस्य	यो०कु० १.६१
अन्यथा क्लिश्यते	यो०कु० २.२५	अल्पं कालं मया दृष्टम्	महो० ५.१६
अपमृत्युमतिक्रम्य	त्रिंब्रा० २.१०४	अल्पकालभयाद्वाहान्	यो०चू० ९२
अपरं संत्यजेत्सर्वं	यो०कु० ३.४	अल्पमूर्त्रोऽल्पविष्टश्च	त्रिंब्रा० २.१०७
अपश्यं ...अवरोहन्तं	नी०रुद्र० २.१	अवकाशा विधूत दर्शन	त्रिंब्रा० १.७
अपश्यं त्वावरोहन्तं	नी०रुद्र० १.१	अव त्वं माम्। अव	गण० ४
अपश्यत्सर्गवृन्दानि	महो० ५.१६१	अवबोधं विदुर्जनं	महो० ५.२३
अपानप्राणयोरैक्यं	यो०चू० ४७	अवष्ट्रभ्य धरां सम्यक्	त्रिंब्रा० २.४७
अपानमूर्ध्वमुत्कृष्य	ध्या०बि० ७५	अविद्या यावदस्यास्तु	महो० ४.११२
अपानाद् द्व्यह्नुलाद्	त्रिंब्रा० २.६६	अविद्या विद्यमानैव	महो० ४.११०
अपाने चोर्ध्वंगे याते	यो०कु० १४३	अवृक्षवृक्षरूपासि	तुलसी० ४
अपाने मूलकन्दाख्यं	यो०रा० ६	अवेदनं विदुर्योगं	अक्षिं २.३
अपुत्राणां पुत्रदं च	रामपूर्व० ४.६६	अशंकितापि संप्राप्ता	महो० ५.७२
अपेक्ष्य नामरूपे द्वे	सर०रह० ५९	अशब्दमस्पर्शमरूपम्	यो०कु० ३.३५
अप्यविद्यपानान्महतः	महो० ३.२०	अशूरेण हताः शूरा	महो० ३.५४
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं	ध्या०बि० १५	अशेषेण परित्यागो	महो० २.३९
अप्राप्तं हि परित्यज्य	महो० ४.३६	अशेषेण सर्वं तु यः	महो० ४.७६
अब्जकाण्डं जगद्वीजं	कृष्ण० २४	अश्रुतो बुध्यते ग्रन्थः	सर०रह० ४५
अब्जपत्रमधः पुष्पम्	ध्या०बि० ३३	अश्वमेधो महायज्ञकथा	पा०ब्रा० १.३१
अब्यवद्धृतमर्यादा	महो० ४.२०	अष्टपत्रं तु हत्पद्मं	ध्या०बि० २६
अभक्ष्यस्य निवृत्या	पा०ब्रा० २.३६	अष्टप्रकृतिरूपा सा	त्रिंब्रा० २.६३
अभ्यासं बहुजन्मान्ते	यो०कु० २.७	अष्टमं ब्रह्मरस्त्रं	यो०रा० १६
अभ्यासं मेलनं चैव	यो०कु० २.५	अष्टाक्षरः प्रथमः पादो	नृ०पूर्व० २.३
अभ्यासं लभते	यो०कु० २.६	अष्टादशामी कथिता	रामपूर्व० १.९
अभ्यासासवासनाशक्त्या	यो०कु० ३.१८	अष्टावृष्टसहस्रे द्वे	कृष्ण० १३
अमुं पञ्चपदं मन्त्रमावर्तयेत्	गो०पूर्व० ४७	अष्टोत्तरशतैर्मालामुपवीतं	रुद्र०जा० १९
अमूर्तो वर्तते नादो	ध्या०बि० १०२	असंकल्पनमात्रैकसाध्ये	महो० ४.१७
अमृतमस्यमृतोपस्तरणम्	प्रा०हो० १०	असंकल्पनशास्त्रेण छिन्नं	महो० ४.११
अमृतेऽमृतरूपासि	तुलसी० २	असंवेदनमाशान्तम्	महो० ५.४७
अमृतोदधि संकाशं	यो०चू० ९६	असंसर्गाभिधामन्यां	अक्षिं २.१५
अम्बितम इति मन्त्रस्य	सर०रह० ३३	असङ्गः सच्चिदानन्दः	सर०रह० ६२
अयं सोऽहमिदं	महो० ४.९४	असङ्गसुखसौख्येन	अक्षिं २.१८
अयं सोऽहमिदं तन्म इति	महो० ५.१३	असौ यस्तात्रो अरुण	नी०रुद्र० १.९
अयं सोऽहमिदं तन्म इति	महो० ५.७०	अस्तितालक्षणा सत्ता	पा०ब्रा० २.४४

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
अस्ति भाति प्रियं रूपं	सर०रह० ५८	आजानुपादपर्यन्तं	त्रिंब्रा० २.१३५
अस्त्यनस्तमितो	महो० ४.५६	आत्मानं परमात्मान ...	रुद्रह० ११
अस्य जीवत्वमारोपात्	सर०रह० ५५	आत्मानमरणं कृत्वा	ध्या०बि० २२
अस्य त्रैजोक्य वृक्षस्य	रुद्रह० १३	आदाय मैथिलीमद्य	रामपूर्व० ४.२५
अस्य बीजं तमःपिण्डं	त्रिंब्रा० २.८	आदाय विहरनेवं	महो० ६.७४
अस्य मध्येऽस्ति हृदयं	त्रिंब्रा० २.७	आदिक्षान्ताङ्कसरेषु	रामपूर्व० ४.४८
अस्य शारीरयज्ञस्य	प्रांहो० २२	आदित्याद्वायुजुर्याते	सूर्य० ५
अस्य शारीर...यूप ...	प्रांहो० २१	आदेहमध्यकट्यन्तम्	त्रिंब्रा० २.१३८
अस्याः परं प्रपश्यन्त्याः	महो० ४.११३	आदौ शमदमप्रायैर्गुणैः	महो० ५.१०४
अस्याः श्रीमहागरुडब्रह्म ..	गरुड० २	आधिभौतिकदेहं तु	यो०कुं० १.७७
अस्याः संकल्पमात्रेण	ध्या०बि० ६४	आनन्दममलं शुद्धं	अक्षिं० २.४८
अहंकारकलायुक्तं	महो० ५.१५३	आनुष्ठुभो मन्त्राजः	द०मू० १८
अहंकारमयीं व्यक्त्वा	महो० ६.४५, २.४५	आ नो दिव इति	सर०रह० ९
अहंकारवशादापद.....	महो० ३.१६	आपः पुनन्तु पृथिवीं	प्रांहो० ९
अहंकारवशाद्यन्मया	महो० ३.१७	आपत् यथाकालं	महो० २.४३
अहंकाराभिमानेन जीवः	त्रिंब्रा० २.१६	आपदः क्षणमायान्ति	महो० ३.५३
अहंकारो विनिर्णेता	महो० ५.१२५	आपादमस्तकमहं	महो० ६.५५
अहं जगद्वा सकलं	महो० ६.५८	आपो वा इदमासन्	नृ०पूर्व० १.१
अहं त्वं जगदित्यादौ	महो० ४.५४	आयुः पल्लवकोणाग्र...	महो० ३.९
अहं पञ्च भूतान्यपञ्च	देवी० ३	आवेदितोऽसौ याष्टीकैः	महो० २.२१
अहं ब्रह्मेति नियतं	महो० ४.७२	आशया रक्ततामेति	महो० ६.७६
अहंभावं परित्यज्य	सौ०ल० २.१३	आशाव्याशास्वप्यथ	रामपूर्व० ५.५
अहं रुद्रेभिर्वसुभिः	देवी० ४	आश्रिते जठरद्वारे	त्रिंब्रा० २.१२६
अहं सर्वमिदं विश्वं	महो० ५.८९	आसनं प्राणसंरोधः	ध्या०बि०४१, यो०चू० २
अहं सोमं त्वष्टरं	देवी० ५	आसनानि च तावन्ति	ध्या०बि० ४२
अहन्तांशे क्षते शान्ते	महो० ५.७	आसनेन रूजं हन्ति	यो०चू० १०९
अहमेव जगत्त्रयस्यैकः	पा०ब्रा० १.५	आसामन्तःस्थिता	महो० ५.२६
अहमेषां पदार्थानामेते	महो० ६.४१	आस्थामात्रमनन्तानां	महो० ५.८५
अहश्च रात्रिं पक्षं	त्रिंब्रा० २.१२०	इच्छामात्रमविद्येयं	महो० ४.११४
अहो न चित्रं यत्सत्यं	महो० ४.१३०	इच्छाशक्तिसंत्रिविधा	सीता० १२,३५
अहो तु चित्रं पदोत्थैः	महो० ४.१३१	इडया वायुमापूर्य	ध्या०बि० २०
अहोत्रात्रादयो मत्संवर्धिताः	पा०ब्रा० १.७	इडा च पिङ्गला चैव	त्रिंब्रा० २.७०
आकाशं बाह्यशून्यत्वात्	महो० २.५	इडपिङ्गलासुषुप्राः	ध्या०बि० ५५
आकाशभावनामच्छां	महो० ५.१४७	इतरेषां तु न्दमधेः	त्रिंब्रा० २.६७
आकाशमेकं सम्पूर्णं	रुद्रह०५१, पा०ब्रा० २.३५	इतश्चेतश्च सुव्यागं	महो० ३.१८
आकाशशत भागाच्छा	महो० ५.१०१	इति तस्य पुना रसनमिति	गो०पूर्व० ११
आकुञ्जनेन तं प्राहुर्मल...	यो०कुं० १.६४	इति मानसोपचारैः	लांगूल० ४
आकृत्यैव विराजन्ते	महो० ४.१९	इति शक्तिमयं चेतो	महो० ५.१२८
आक्षिसो भुजदण्डेन	यो० वू० २७	इति सप्तविधो मोहः	महो० ५९
आख्यातं खेचरीबीजं	यो०कुं० २.१८	इत्थंभूतमतिः शास्त्रगुरु ...	अक्षिं० २.१४
आचार्यो वेदसम्पन्नो	अद्व० ता० १४	इत्यधोर्धर्जः शुक्लं	यो०कुं० १.७५

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
इत्यन्तर्निश्चयं त्यक्त्वा	महो० ६.४२	उभयोः संगमादेव	ध्या०बि० ८१
इत्यादिचेष्टनं प्राणः	त्रिंश्चा० २.८४	उभाभ्यामकरं नमो	नी०सूद्र० २.४
इत्याह भगवान्	तुलसी० १६	उमारुद्रात्मिका: सर्वाः	रुद्रह० ९
इत्येवं निश्चयं विप्राः	सर०रह० ४६	उमाशंकरयोगो यः स	रुद्रह० १०
इदं रहस्यं परममीश्वरेणापि	रामपूर्व० ४.६७	ॐ अग्निरिति भस्म	रुद्र० २
इदं वस्त्वति विश्वासं	महो० २.१३	ॐ अथातशक्षुषी	चा० १
इदं सर्वात्मकं यन्त्रं	रामपूर्व० ४.६५	ॐ अथातो महोपनिषदमेव	च०वेद० १
इदमथर्वशीर्षं योऽधीते	देवी० २९	ॐ अस्य श्री अनन्तघोर	लांगूल० १
इदमथर्वशीर्षमिश्वाय	गण० १७	ॐ आत्मा परशिवद्वयो	रुद्र० ३
इन्द्रियैर्बध्यते जीवः	यो०चू० ८४	ॐ आदौ नम उच्चार्य	द०म० ७
इमं संसारमखिलम्	महो० ५.१३३	ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म	सूर्य० ७
इमां कथमहं हन्मि	महो० ५.११५	ॐ क्षिप स्वाहा	गरुड० ८
इमां विज्ञाय सुधया	त्रिपुरा० ७	ॐ देवा ह वै सत्यं	नृ०षट० १
इमां सप्तपदं ज्ञानभूमिं	महो० ५.२१	ॐ नमो भगवते	गरुड० ३.१०
इमामस्य प्राशं जहि	नी०सूद्र० ३.४	ॐ नमो भगवते आदित्याय	चा० ३
इयं महोपनिषत्तैर्पुर्या	त्रिपुरा० १६	ॐ नमो भगवते कालाग्निः	लांगूल० ८
इयमस्मिन् स्थितोदारा	महो० ३.८	ॐ नमो भगवते चण्डप्रताप	लांगूल० ५
ईकाररूपिणी सोमामृता	सीता० ५	ॐ नमो भगवते चिन्तामणि	लांगूल० ६
ईप्सितानीप्सिते न स्तो	महो० २.४६	ॐ नमो विश्वस्वरूपाय	गो०पूर्व० ३४
उकारः सात्त्विकः शुक्लो	ध्या०बि० १३	ॐ नित्यं शुद्धं बुद्धं	यो०चू० ७२
उकारे तु लयं प्राप्ते	ध्या०बि० ११	ॐ नृसिंहाय विद्धाहे	नृ०पूर्व० ४.१३
उग्रं प्रथमस्याद्यं	नृ०पूर्व० १.९	ॐ प्रणो देवी सरस्वती	सर०रह० ८
उच्चैःपदाय परया	महो० ५.१७५	ॐ प्रणो देवीस्यस्य	सर०रह० ६
उड्डियाणं तदेव स्यात्तत्र	ध्या०बि० ७६	ॐ ब्रह्मावर्ते महाभाण्डीर	द०म० १
उड्डियाणोऽप्ययं बन्धो	ध्या०बि० ७७	ॐ भूः नमो भगवते	लांगूल० २
उत त्व इति मन्त्रस्य	सर०रह० ३०	ॐ भूर्भुवः सुवः	सूर्य० २
उत त्वा विश्वा भूतानि	नी०सूद्र० २.२	ॐ भूर्लक्ष्मीभुर्वर्लक्ष्मीः	नृ०पूर्व० ४.११
उत्थितानुत्थितात्	महो० ६.२१	ॐ विश्वरूपं धृणिनं	चा० २
उत्पत्स्यन्तेऽपि चैवान्ये	महो० ५.१३७	ॐ त्रां त्रीं श्रूं त्रैं त्रौं त्रः	लांगूल० ९
उत्पत्रशक्तिबोधस्य	महो० ४.७८	ॐ स्वस्ति सिद्धम्	गा०रह० १
उदगदक्षिणयोः स्वस्य	रामपूर्व० ४.३२	ॐ ह्रीं ॐ ह्रीमित्युपनिषद्	त्रिपुरा० १७
उदरादक्षिणम्	यो०चू० ४९	ॐ ह्रीं त्रीं कल्मीं ग्लां	लांगूल० ७
उदारः पेशलाचारः	महो० ६.७०	ऊर्ध्वं शिरः पिण्डम्	महो० ५.१५६
उदारचरितानां तु	महो० ६.७२	ऊर्ध्वज्ञलज्ञलनं	त्रिपुरा० ४
उदितौदार्यसौन्दर्य ..	महो० ४.६१	ऊर्ध्वशक्तिनिपातेन	यो०रा० २१
उद्गरे नाग आख्यातः	यो०चू० २५	ऊर्ध्वोरुपरि चेद्धते	यो०कु०१.५
उद्घाटयेत्कवाटं तु	यो०चू० ३९	ऊर्वोरुपरि वै धते	त्रिंश्चा० २.३९
उद्गेगानन्दरहितः	महो० २.५७	ऋग्यजुः सामाथर्वाणः	नृ०पूर्व० १.४
उपवीतलक्षणसूत्रब्रह्मगा	पा०ब्रा० १.१६	ऋचो अक्षरे परमे	बहवृ० ९
उपाङ्गमयनं चैव	सीता० २८	ऋग्युकायः समासीनः	त्रिंश्चा० २.५०
उपादेयानुपतनं	महो० ४.२४	ऋतं सत्यं परं ब्रह्म	नृ०पूर्व० १.१२

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
ऋतमात्मा परं ब्रह्म	महो० ४.४५	एवं पुनः पुनः कार्यं	त्रिंश्चारा० २.१८
ऋषयः ऊचुः कथं	सर०रह० ३	एवं पृष्ठेन मुनिना	महो० २.१६
ऋषयो ह वै	सर०रह० १	एवं प्रकारेण बहुधा	शरभ० १६
एकं चरणमन्यस्मिन्	त्रिंश्चारा० २.३७	एवं भूतं जगदाधारभूतं	रामपूर्व० ५.८
एकं ब्रह्म चिदाकाशं	महो० ५.५६	एवं मुहूर्त्रयं	भाव० ४
एकं वा सर्वयतेन	महो० ४.३	एवं रूपपरिज्ञानं	रुद्रह० ५०
एकं सिद्धासनं प्रोक्तं	यो०चू० ३	एवं रूपा परा विद्या	पा०ब्रा० २.३२
एकं शिवो नित्यस्तो	शरभ० ३३	एवं वर्षयत्रयं कृत्वा	यो०कु० २.४२
एकदन्तं चतुर्हस्तं	गण० ११	एवं विद्वान् कृतकृत्ये	साविं० १५
एकदन्ताय विद्याहे	गण० १०	एवं विशोध्य तत्त्वानि	त्रिंश्चारा० २.१६३
एकदा सोऽमलप्रज्ञो	महो० २.१४	एवं वै प्रणवस्तिष्ठेद्यस्तं	यो०चू० ७९
एकात्मकमखण्डं तदित्यन्तः	महो० ५.११८	एवं समध्यसेद्वायुं	यो०कु० ३.१३
एकादशपदा वा	नृ०पूर्व० २.७	एवं सर्वाणि भूतानि	ध्यांबि० ६
एकादशमुखं त्वक्षं	रुद्र०जा० ३९	एवं स्वरूपविज्ञानं	पा०ब्रा० २.३४
एका स आसीत्रथमा	त्रिपुरा० ३	एवमङ्गीकरोच्छ्वः	शरभ० १८
एकाहमात्रं कुर्वाणः	त्रिंश्चारा० २.१०२	एवमात्मा यथा यत्र	महो० ४.४३
एकोदण्डद्वयं मध्ये	यो०रा० २०	एवमादीन्यरिष्टानि	त्रिंश्चारा० २.१२८
एको विष्णुर्महद्भूतं	शरभ० २७	एवमुद्देशतः प्रोक्तं	रामपूर्व० ४.४०
एतच्चतुष्टयं विद्धि	यो०रा० ३	एवमेकाक्षरं मंत्रं यतयः	देवी० २१
एतत्पैप्लादं महाशास्त्रं	शरभ० ३९	एष एत्यवीरहा रुद्रो	नी०सुद्र० १.३
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं	ध्यांबि०६३	एष एव मनोनाशः	महो० ४.१०९
एतत्सुदर्शनं महाचक्रं	नृ०पूर्व० ५.८	एषात्मशक्तिः । एषा	देवी० १५
एतदथर्वशिरो योऽधीते	गण० १६	एषा वै हरेः सर्वेश्वरी	राधा० २
एतद्विज्ञानमात्रेण	पा०ब्रा० २.७	एषा हि चञ्चलास्पन्द...	महो० ४.९९
एतद्विष्णोः परमं पदं	गो०पूर्व० २१	एषा हि जीवन्मुक्तेषु	महो० ५.३५
एतशाढीमहाचक्रं	यो०चू० १८	एषा हि परिमृष्टान्तः	अक्षिं० २.२८
एतस्मा एव पञ्चपदाद्	गो०पूर्व० २४	ऐं अम्बितमे नदीतमे	सर०रह० ३५
एतस्यैव यजनेन	गो०पूर्व० २६	ऐं चत्वारि वाक् परिमिता	सर०रह० २३
एतामहं भावमयीम्	महो० ६.४०	ओकारं यो न जानाति	ध्यांबि० १४
एते नाडीसहस्रेषु वर्तन्ते	ध्यांबि०५८	ओकाराध्वनिनादेन	ध्यांबि० २३
एतेषां नवचक्राणामेकैकं	यो०रा० १९	ओकारप्रभवा देवा	ध्यांबि० १६
एतेषां प्रथमः प्रोक्तः	महो० ६.५९	ओङ्कारेणान्तरितं ये	गो०पूर्व० २३
एतेषां लक्षणं वक्ष्ये	यो०कु० १.३	ओङ्काराणं कुरुते	यो०चू० ४८
एनं मनोमणिं ब्रह्मन्	महो० ५.८३	ओमङ्कार मृत्युंजय	अक्ष० ५
एवं क्रमेण षाण्मासं	यो०कु० २.३१	ओमथोर्ध्वं मन्थन	राधा० १
एवं जीवो हि	महो० ५.१२७	ओमित्यग्रे व्याहरेत्	नारा० ३
एवं त्रिपुण्ड्रविधिं भस्मना	काल०रु० ९	ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म	ध्यांबि० ९
एवं द्वादशाङ्गानि	त्रिंश्चारा० १.८	ओमित्येतदक्षरमिदं	नृ०पूर्व० ४.३
एवं द्वारं समाश्रित्य	यो०चू० २१	ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं	नृ०पूर्व० २.५
एवं ध्यायति यो नित्यं	गण० १४	ओर्मीं ब्रह्मविद्यामावास्यायां	गरुड० १२
एवं नाडीमयं चक्रं	ध्यांबि० ५४	ओर्मीं सचरति	गरुड० ९

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
ओमीरों नमो भगवते	गरुड० ६	कामेन विषयाकाङ्क्षी	यो०कु० ३.३
कः सविता का सावित्री	सावि० १	कामो योनिः कामकला	देवी० १४,त्रिपुरा०८
कः सविता का सावित्री आदित्यः	सावि०६	कारणत्वेन चिच्छकत्या	रामपूर्व० २.२
कः सविता का सावित्री चन्द्रः	सावि०७	कार्यं विष्णुः क्रिया	रुद्रह० १४
कः सविता का सावित्री पुरुषः	सावि० ९	कालरात्रिं ब्रह्मस्तुता	देवी० ११
कः सविता का सावित्री मनः	सावि०८	कालश्च कलनोद्युक्तः	अक्षि० २.२४
कः सविता का सावित्री यज्ञः	सावि० ४	कालिन्दी जलकल्लोल..	गो०पूर्व० १०
कः सविता का सावित्री वरुणः	सावि० २	कालेन स्फुटतामेत्य	महो० ५.१५७
कः सविता का सावित्री वायुरेव	सावि०३	किं तत्परमरहस्यशिव..	द०मू० ३
कः सविता.....स्तनयितुः	सावि०५	किं ध्यानं किं दैवतं	नृ०पूर्व० १.५
कंसवंश विनाशाय	गो०पूर्व० ३८	किमप्यव्यपदेशात्मा	महो० २.६७
कद्वम्ललवणं तिक्तममृष्टं	महो०२.५४	कुक्षुटासनबन्धस्थो	त्रिंब्रा० २.४२
कण्ठचक्रं चतुरङ्गुलम्	सौ०ल० ३.५	कुक्षिमेहनपार्श्वं च	त्रिंब्रा० २.१२५
कण्ठसंकोचनं कृत्वा	ध्या०बि०१.१	कुण्डलिन्या तथा योगी	ध्या०बि० ६८
कथितेयं महामुद्रा	यो०च० ७०	कुण्डलिन्या समुद्भूता	यो० च० ३५
कदम्बगोलकाकारं	त्रिंब्रा० २.१५७	कुण्डलीबोधकं पुण्यं	यो०कु० १.३८
कनिष्ठिकाङ्गुल्याङ्गुष्ठेन	प्रांहो० ११	कुण्डल्येव भवेच्छकिस्तां	यो०कु० १.७
कदमध्ये स्थिता नाडी	त्रिंब्रा० २.६८	कुम्भकं पूर्ववल्कृत्वा	यो०कु० १.३७
कन्दस्थानं मनुष्याणां	त्रिंब्रा० २.५८	कुम्भकान्ते रेचकादौ	यो०कु० १.४७
कन्दुका इव हस्तेन	महो० ५.१४३	कुम्भकेन हृदि स्थाने	ध्या०बि० ३१
कन्दोर्ध्वं कुण्डली शक्तिः	ध्या०बि० ७३	कुरुद्वयं च तत्पार्श्वं	रामपूर्व० ४.४२
कन्दोर्ध्वं कुण्डलीशक्तिः	यो०च० ३६,४४	कुर्वन्नभ्यासमेतस्यां	अक्षि० २.३७
कपालकुहरे जिह्वा	यो०च० ५२	कृकरः क्षुतयोः कर्ता	त्रिंब्रा० २.८७
कपालशोधने वापि	यो०कु० १.२५	कृत्वा दूरतरे नूनमिति	अक्षि० २.२६
कम्पनं वपुषो यस्य	त्रिंब्रा० २.१०५	कृत्वा मृदुलशूक्षण	रामपूर्व० ५.२
कम्बुकण्ठी सुताग्रोष्ठी	सर०ह० ३९	कृत्वा संपुटितौ करौ	ध्या०बि०६९,यो०कु० ४०
करणानि समाहृत्य	त्रिंब्रा० २.११५	कृपया भगवान्विष्णुं	शरभ० ८
कर्मणा वर्तते कर्मी	त्रिंब्रा० २.१५	कृपार्थं सर्वभूतानां	कृष्ण० ९९
कलेवरमहंकारगृहस्थस्य	महो० ३.२८	कृशोऽहं दुःखबद्धोऽहं	महो० ४.१२३
कल्पं क्षणीकरोत्पन्नः	महो० ४.६८	कृषिर्भूवाचकः शब्दो	गो०पूर्व० १
कल्पान्तपवना वान्तु	महो० ४.९६	कृष्णं तं विप्रा बहुधा	गो०पूर्व० १५
कल्पितेयमविद्येयम्	महो० ४.१२६	केचिच्चासंख्यजन्मानः	महो० ५.१३८
कल्पे व्याकरणं शिक्षा	सीता० २७	केचिच्चिदोगतः पिण्डा	त्रिंब्रा० २.६
कश्यपोलूखलः ख्यातो	कृष्ण० २१	केचिच्छृणौषधीवृक्ष	महो० ५.१४०
कस्तवायं जडो मूको	महो० ४.१२९	केचिदकर्कन्दुवरुणाः	महो० ५.१३९
कस्य शुश्रूषणान्तिर्यं	रुद्रह० २	केचिद्विश्वलाः ककुभः	महो० ५.१४२
कातकं फलमासाद्य	महो० ५.६६	केचिन्महेन्द्रमलय ...	महो० ५.१४१
कामनामा किरातेन	महो० ३.४५	केन नवरञ्चरूपो	भाव० २
कामाद्याश्वित्तगा	सर०रह० ६१	केयूरकट्के सूत्रं	रुद्र०जा० २१
कामिका कामका	रामपूर्व० ४.६२	केवलं केवलाभासं	महो० ४.११९
कामिका पञ्चमूलान्त ...	रामपूर्व० ४.६१	केवलं साक्षिरूपेण	रुद्रह० ४२

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
केवलं सुसमः स्वच्छो	महो० २.२७	गायत्रीत्रिष्टुष्टगत्य ..	गा०रह० ६
केशकज्जलधारण्यो	महो० ३.४३	गायत्री वा इदं सर्वं	नृ०पूर्व० ४.१२
केशव कलेशहरण	गो०पूर्व० ४५	गारुडब्रह्मविद्यां	गरुड० १
केशान्तमूर्धं क्रमति	यो०कुं० २.३५	गुणत्रयसमुद्भूतग्रथिथ	यो०कुं० १.३९
केसरे चाषपत्रे च	रामपूर्व० ४.४५	गुदं नियम्य गुल्फाभ्यां	यो०कुं० २.३८
कोशमाशाभुजङ्गानां	महो० ५.१६६	गुरुभक्ताय दान्ताय	शरभ० ३७
कोऽहं कथमिदं चेति	महो० ४.२१	गुरुभक्तिसमायुक्तः	अद्व०ता० १५
क्रिया इच्छा तथा ज्ञानं	यो०चू० ८६	गुरुरेव परं ब्रह्म	अद्व०ता० १७
क्रियाकर्मेण्यकर्तृणां	रामपूर्व० १.१२	गुरुरेव पराकाष्ठा	अद्व०ता० १८
क्रियायोगमथेदानां	त्रिंब्रा० २.२४	गुरुवाक्यसमाभिन्ने	यो०कुं० ३.१७
क्रियाशक्ति स्वरूपं	सीता० २०	गुरुशास्त्रोक्तमार्गेण	महो० ४.२५
क्रीडते बालको भूत्वा	कृष्ण० १८	गुरुस्तस्मै परां विद्यां	रुद्रह० ३६
क्लौरेण जडतां याता	महो० ३.१९	गुरुपदेशलभ्यं च	यो०कुं० २.२१
क्रोधं क्रोणाग्रान्तरेषु	रामपूर्व० ४.४४	गुलफौ च वृषणस्याधः	त्रिंब्रा० २.४५
क्लीं यद्वाग्वदन्ति	सर०रह० २६	गुल्फं जलोदरः प्लीहा	यो०कुं० १.१८
क्लचित्प्रकृतिरित्युक्तं	महो० ५.१३१	गुल्मदेशसमीपे च	यो०कुं० १.४९
क्लचिद्वन्धः इति ख्यातं	महो० ५.१३२	गुल्मप्लीहादिकान्दोषान्क्षयं	यो०कुं० १.३१
क्लचिद्वा विद्यते यैषा	महो० ३.३७	गुशब्दस्त्वन्धकारः	अद्व०ता० १६
क्लचिन्मनः क्लचिद्वृद्धिः	महो० ५.१३०	गृहीततृष्णाशबरी	महो० ६.३१
क्लैतानि न्यस्यानि	नृ०षट्० ७	गोकुलं वनवैकुण्ठं	कृष्ण० ९
क्षणमायाति पातालं	महो० ३.२४	गोपगोपाङ्गनावीतं	गो०पूर्व० ९
क्षमा धृतिर्मिताहारः	त्रिंब्रा० २.३३	गोपरूपो हरिः	कृष्ण० १०
क्षयकुष्ठ गुदावर्तं	यो०चू० ६९	गोप्यो गाव ऋचस्तस्य	कृष्ण० ९
क्षीरोदार्णवशायिनं	नृ०पूर्व० १.१०	ग्रन्थतश्चार्थतश्चैव	यो०कुं० २.९
क्षुधा क्रोधिन्यमोघा	रामपूर्व० ४.५९	ग्रहणे विषुवे चैवमयने	रुद्र०जा० ४४
खगरञ्जुवदित्येतद्यो	ध्या०बि० ६१	ग्राम्यासु जडचेष्टासु	अक्षिं० २.५
खेचराधिपतिर्भूत्वा	यो०कुं० २.१७	ग्राहाभावे मनः प्राणो	त्रिंब्रा० २.१६४
खेचर्या मुद्रितं येन	यो०चू० ५७	घटाकाशमठाकाशौ	रुद्रह० ४३
खेदोलासविलासेषु	महो० ६.३	घटिकाविशतिस्तस्माद्	त्रिंब्रा० २.१४१
गकारः पूर्वरूपम्	गण० ९	चक्षुः पश्यति	पा०ब्र० २.९
गगनं पवने प्राप्ते	यो०चू० ११५	चतुरस्तमुपर्यग्रेधो	ध्या०बि० ४७
गगनो मम त्रिशक्ति	पा०ब्र० १.९	चतुर्णामिपि भेदानां	यो०कुं० १.४०
गणक ऋषिः निचृदग्गायत्री	गण० ९	चतुर्दशमुखं चाक्षं	रुद्र०जा० ४२
गणादिं पूर्वमुच्चार्यं	गण० ७	चतुर्भिः क्लेशनं	त्रिंब्रा० २.९५
गदा च कालिका साक्षात्	कृष्ण० २३	चतुर्भिश्च द्वाभ्यां	शरभ० २८
गन्धर्वनगरस्यार्थं	महो० ५.१६७	चतुर्मुखं तु रुद्राक्षं	रुद्र०जा० ३०
गमगमास्थं गमनादि	ध्या०बि० २४	चतुर्मुखमुखाभ्योजवनहंस..	सर०रह० ३६
गर्भजन्मजरामरणं	अद्व०ता० ३	चतुष्पथ समायुक्त...।	ध्या०बि० १४
गलितद्वैतनिर्भासो	अक्षिं० २.३५	चत्वारि वागिति मन्त्रस्य	सर०रह० २१
गाढतामिससंशान्त्यै	द०म० २९	चन्द्रमण्डल संकाश....	गरुड० ७
गान्धारी हस्तिजिह्वा	ध्या०बि० ५३, यो०चू० १७	चन्द्रांशेन समभ्यस्य	यो०चू० ६७

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
चन्द्रार्कमध्यमा	यो०कु० ३.७	जडतां वर्जयित्वैकां	महो० ५.५१
चरतां चक्षुरादीनां	यो०चू० १२०	जनको नाम भूपालो	महो० २.१९
चरन्ति दशनाडीषु	त्रिंब्रा० २.७८	जन्तोर्यथावदेवेयं	अक्षि० २.१९
चले वाते चलो	यो०चू० ८९	जन्मपल्वलमत्स्यानां	महो० ३. ४६
चातुर्होत्रप्रधानत्वात्	सीता० २३	जन्मस्थितिविनाशेषु	महो० २.५९
चितश्चित्रं चिदाकाराद्बिद्धते	रुद्रह० ४५	जन्मान्तरप्रा विषया	महो० ३.५५
चितो रूपमिदं ब्रह्मन्	महो० ५.१२४	जपं च मथनं चैव कृत्वा	यो०कु० २.४४
चितं कारणमर्थानां	महो० ३.२१	जयन्तीसम्भवो वायुश्वरो	कृष्ण० २०
चितं चरति खे	यो०चू० ५५	जरा मरणमापच्च राज्यं	महो० २.५५
चित्तमेव हि संसारे	महो० ४.६६	जरामृत्युगदप्नो यः	यो०कु० २.३
चित्तशुद्धौ क्रमाज्ञानं	पा०ब्र० २.३७	जागरितस्थानो बहिः प्रज्ञः	नृ०पूर्व० ४.४
चित्तस्य निश्चलीभावो	त्रिंब्रा० २.३१	जाग्रतः प्रत्ययाभावं	महो० २.१०
चित्ताकाशं चिदाकाशम्	महो० ४.५८	जाग्रत्वप्रे व्यवहरन्त्सु	यो०कु० ३.२९
चित्ते तदेकतानता	द०मू० २२	जाग्रद्वृत्तिं विजानीयात्	त्रिंब्रा० २.१५०
चित्स्वरूपवत्तन्मयं	पा०ब्र० १.२१	जाग्रनेत्रद्वयोर्मध्ये	यो०चू० ८२
चित्स्वरूपोऽहमिति	अद्व० ता० २	जाङ्घभावविनिर्मुक्तमलं	यो०कु० १.७८
चिदचैत्या किलात्मेति	महो० ६.७८	जातास्त एवं जगति	महो० ३.१४
चिदणोः परमस्यान्तःकोटि	महो० २.४	जानकी देहभूषाय	रामपूर्व० ४. १४
चिन्तानलशिखा दग्धं	महो० ५.१३४	जानन्ति तेऽमृतफलकाः	पा०ब्र० १.२६
चिन्तानिचयचक्राणि	महो० ३.७	जानूपरि ललाटं तु	त्रिंब्रा० २.५१
चिन्तामध्येत्य भगवान्	महो० ५.१५९	जायते प्रियते लोको	महो० ३.४
चिन्मयस्याद्वितीयस्य	रामपूर्व० १.७	जायाभवविनिर्मुक्तिः	यो०कु० १.७९
चिन्मयेऽस्मिन्महाविष्णौ	रामपूर्व० १.१	जालन्धरे कृते बन्धे	यो०चू० ५१
चिन्मात्रं चैत्यरहितम्	महो० २. ६८	जिज्ञासार्थं शुकस्य	महो० २.२२
चरं संदर्शनाभावात्	महो० ५.१७	जिह्व्या वायुमाकृत्य	यो०कु० १.३०
चेतनोऽसौ प्रकाशत्वात्	महो० २.६	जिह्वाग्रादर्शने त्रीणि	त्रिंब्रा० २.१२७
चेतसा संपरित्यज्य	महो० ४.८	जिह्वामर्कटिकाक्रान्त...	महो० ३.३०
चेतसो यदकर्तृत्वं	महो० ४.७	जीव एव दुरात्मासौ	महो० ५.९३
चैत्यानिर्मुक्तचिद्रूपं	महो० ६.८२	जीवन्मुक्तपदं व्यक्त्वा	महो० २.६३, यो०कु० ३.३४
चैत्यानुपातरहितं	महो० ४.११६	जीवन्मुक्ता न मञ्जित्ति	महो० ५.३७
चोदयित्रीति मन्त्रस्य	सर०रह० १५	जीवला नघारिषां	प्रांहो० ५
छित्ताऽविद्यामहाग्रस्थिं	रुद्रह० ३७	जीववाची नमो नाम	रामपूर्व० ४.१
छित्ता स्वात्मनि	महो० ५.१८४	जीवस्य तण्डुलस्येव	महो० ५.१८६
छित्राभ्रमण्डलं व्योम्नि	महो० ४.९५	जीवात्मनः परस्यापि	त्रिंब्रा० २.१६१
जगज्जालपदार्थात्मा	महो० ६.५७	जीवेश्वरादिरूपेण	महो० ४.७३
जगत्प्राणायात्मनेऽस्मै	रामपूर्व० ३.२	ज्ञात्वा यतेत कैवल्य	त्रिंब्रा० २.१२२
जगत्सर्वमिदं मिथ्या	त्रिंब्रा० २.३०	ज्ञानं देहि पदं पश्चाद्विजायां	द०मू० १२
जगदात्मतया भाति	पा०ब्र० २.४१	ज्ञानभूमिः शुभेच्छाच्या	महो० ५.२४
जगदादित्यो रोचते	पा०ब्र० १.२८	ज्ञानयोगः स विज्ञेयः	त्रिंब्रा० २.२७
जगाम शिखरं मेरोः	महो० २.७५	ज्ञानसंकल्प निश्चय ...	त्रिंब्रा० १.६
जगामार्गदनुजो	रामपूर्व० ४.२३	ज्ञानेनैव हि संसार विनाशो	रुद्रह० ३५

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
ज्योतिरुपं च तन्मध्ये	यो०रा० ११	तत्र त्रयीमयं शास्त्रमाद्यं	सीता० २१
ज्योतिर्मयं तदग्रं	यो०चू० ८१	तत्र ध्यात्वा शुचि ज्योतिः	यो०रा० १३
ज्योतिषं च यथा	रुद्रह० ३०	तत्र नाड्यः समुत्पन्नाः	ध्या०बि०५१, यो०चू० १५
ज्वलतामतिदूरेऽपि सरसा	महो० ३.४४	तत्र वर्षसहस्राणि	महो० २.७६
ज्वलनाधातपवनाधातैः	यो०कु० १.८५	तत्र शीतांशुसंजातं	यो०कु० १.७०
ज्वलितोऽपि यथा बिन्दुः	यो०चू० ५९	तत्र सूर्योऽग्निर्नाम	प्रा०हो० १९
तं गुहः प्रत्युवाच	अक्ष०२	तत्रात्मायं तुरीयस्य	त्रि०ब्रा० २.१५२
तं मुने सर्वभावेन	यो०कु० २.४	तत्राश्रुबिन्दवो जाता	रुद्र०जा० ५
तं होवाच भगवान्	रुद्र०जा०२, काल०रु० ३	तत्रैते श्रोका भवन्ति	रुद्र०जा० ३, २७
तच्च जालन्धरं ज्ञेयं	यो०रा० १७	तत्रोन्मदाभिः कान्ताभिः	महो० २.२५
तज्जपालभते पुण्यं	रुद्र०जा० ८	तत्साधने द्वयं मुख्यं	यो०कु० १.८
तडित्सु शरदप्रेषु	महो० ३.३२	तत्सिद्ध्यै लक्ष्यत्रयानुसंधानः	अद्व०ता० ४
तण्डुलस्य यथा चर्म	महो० ५.१८५	तत्सुखासनमित्युक्तम्	त्रि०ब्रा० २.५२
ततः कालवशादेव	त्रि०ब्रा० २.१८	तत्स्त्र्यम्। यद्यनन्तक	गरुड० १३
ततः पद्मासनं बद्धा	यो०कु० १.३२	तथा तत्परमं विद्धि	यो०कु००२.२०
ततः प्रवर्तते वाणी	सर०रह० ४४	तथा०दिशन्त्याभिचार	सीता० २४
ततः प्रवेशयामास	महो० २.२४	तथा ध्यानेन वैराग्यम्	रामपूर्व० १.५
ततः प्रवेशयामास जनकः	महो० २.२३	तथा सति कथं माया	पा०ब्र० २.१७
ततः संमेलकादौ च	यो०कु० २.२६	तथा सर्वग्रहाणोश्च	सर०रह० ५६
ततः सहस्रदृग्वहिः	रामपूर्व० ४.३८	तथेत्यवोचद्वगवान्	सौ०ल० १.२
ततः सिंहासनस्थः	रामपूर्व० ४.३०	तथैव तस्य मन्त्रस्य	रामपूर्व० ४.११
ततः स्तिमितगम्भीरं	महो० २.६५	तथैव रभसा शुक्लं	यो०कु० १.७२
ततः ओषधयोऽत्रं च	त्रि०ब्रा० २.५	तथैव रामबीजस्थं	रामपूर्व० २.३
ततस्तादृग्गुणगतं	महो० ५.१५१	तथैव स्वशरीरस्थं	यो०कु० १.३५
तते ब्रह्मघने नित्ये	महो० ६.१३	तथैवात्मात्मशक्त्यैव	महो० ५.१२०
ततो जालन्धरो बन्धः	ध्या०बि० ७८	तथैवान्नमये कोशे	त्रि०ब्रा० २.१२
ततो देवः प्रीतो भवति	नृ०पूर्व० ४.१६	तदक्षमुत्तमं विद्यात्तद्वार्यं	रुद्र०जा० १७
ततो यातौ वहयपानौ	यो०कु० १.४४	तदखिलं किमिति	त्रि०ब्रा० १.४
ततो विशुद्धं विमलं	गो०पूर्व० ३२	तदत्र गाथा: -यस्य	गो०पूर्व० ३०
तत्किमेतम्भाग	महो० २.३५	तदधस्तौ तालवृत्तकरौ	रामपूर्व० ४.३४
तत्तद्रूपमनुप्राप्य ददाति	पा०ब्र० २.१४	तदभेदेन मन्त्रप्रेढनं	द०म० २१
तत्तारकं द्विविधं	अद्व०ता० ८.१०	तदभ्यासप्रदातारं	यो०कु० २.१३
तत्त्वतश्च शिवः साक्षात्	रुद्रह० ४४	तदात्मा राजते तत्र	ध्या०बि० १०४
तत्त्वदृष्ट्या तु नास्त्येव	पा०ब्र० २.१९	तदा दुःखादिभेदो	पा०ब्र० २.२४
तत्त्वावबोध एवासौ	महो० ४.१२	तदा प्राणापानयोरैक्यं	ध्या०बि० ९३-१५
तत्त्वाविचारपाशेन	द०म० ३०	तदा ब्रह्मार्गलं	यो०कु० २.४१
तत्पीठकणिकायां	सौ०ल० १.५	तदा रामः क्रोधरूपी	रामपूर्व० ४.२७
तत्पीठम्। अष्टपत्रं	सौ०ल० १.९	तदासौ प्रथमामेका	अक्षि० २.९
तत्पुरुषं पुरुषो	महो० १.६	तदाहुरेके यस्य	गो०पूर्व० २९
तत्र गत्वा च तेनोक्तविद्यां	यो०कु०२.१५	तदाहुरेको ह वै	महो० १.२
तत्र चक्रं द्वादशारं	त्रि०ब्रा० २.६०	तदिह श्रोका भवन्ति	गो०पूर्व० ८.१९

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
तदु होचुः कः कृष्णः	गो०पूर्व० ४	तस्मान्तियमकर्त्तहमिति	महो० ४.१६
तदु होवाच ब्राह्मणः	गो०पूर्व० ३	तस्मान्मुक्षुभिर्नैव	महो० ४.७५
तदु होवाच हैरण्यो	गो०पूर्व० ७	तस्मिस्तु तीव्रसंवेगाद्	महो० ५.१५४
तदेतत्सुदर्शनं महाचक्रं	नृ०पूर्व० ५.१०	तस्मिन्दृष्टे महायोगे	यो०चू० ११
तदेतदृचाभ्युक्तं	नृ०पूर्व० ४.९.५.९.२१	तस्मिन्तित्ये तते शुद्धे	महो० ४.१२०
तदेतदृषिणोक्तं निदर्शनं	नृ०पूर्व० ३.४.६	तस्मिन्निरस्तनिःशेष	महो० ४.६०
तदेष श्रोकः क्लीमित्ये ..	गो०पूर्व० १३	तस्मिन् पुरुषाश्वर्तुर्दश	महो० १.५
तदैवैनामनुगता	महो० ५.१२३	तस्मिन्सुविदिते सर्वं	रुद्रह० २७
तद्विद्विद्विदशलं	रामपूर्व० ४.४७	तस्मै स होवाच	शरभ० २
तद्ब्रह्मानन्दमद्वन्द्वं	महो० ४.७०	तस्य कोटिशतं पुण्यं	रुद्र० जा० ७
तद्वक्ता ये लब्ध्यकामाश्च	रामपूर्व० ५.१०	तस्य चञ्चलता वैषा	महो० ४.१०१
तद्भामात्रमिदं विश्वमिति	महो० २.७	तस्य ध्यानान्तःस्थस्य	महो० १.४
तद्वद्राक्षे वाग्विषये	रुद्र०जा० ४८	तस्य मध्यगतं देवं	ध्याऽबि० २८
तद्वा एतत् परमं	नृ०पूर्व० ५.२०	तस्य मध्ये महानर्चिः	महो० १.१३
तद्विष्णोः परमं पदं	गो०पूर्व० २७	तस्य मध्ये वहिशिखा	च०वेद० ५
तन्नाभिमण्डलं चक्रं	ध्याऽबि० ४९	तस्य श्रीखेचरी सिद्धिः	यो०कुं० २.२३
तन्नाभिमण्डले चक्रं	यो०चू० १३	तस्य संवत्सरादूर्ध्वं	त्रिंब्रा० २.१२३
तन्मध्ये प्रोच्यते	यो०चू० ८	तस्य ह वा उग्रं प्रथमं	नृ०पूर्व० २.६
तन्मध्ये प्रोच्यते योनिः	ध्याऽबि० ४५	तस्य हैतस्य पञ्चाङ्गानि	नृ०पूर्व० २.२
तन्मध्ये बीजमालिख्य	रामपूर्व० ४.४१	तस्या शिखाया मध्ये	महो० १.१४, च०वेद० ६
तन्मूला बहवो नाइः	त्रिंब्रा० २.७५	तस्याः षडङ्गं कुर्वीत	यो०कुं० २.३८
तपः प्रभृतिना यस्मै	महो० २.४२	तस्या एव द्वितीयः पादो	साविं० ११
तपस्विषु बहुज्ञेषु	महो० ४.३४	तस्या एव प्रथमः पादो	साविं० १०
तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्द..	गो०पूर्व० ३३	तस्या एव ब्रह्मा	बहव० २
तमो मायात्मको रुद्रः	पा०ब्र० १.१०	तस्या एष तृतीयः पादः	साविं० १२
तथा त्वं विश्वतो	नी०रुद्र० २.९	तस्या वाचः परो देवः	यो०कुं० ३.२०
तयोरादौ समीरस्य	यो०कुं० १.२	तस्यास्वादवशाच्चित्तं	यो०कुं० १.७३
तयोरादौ सरस्वत्याश्चालनं	यो०कुं० १.९	तस्यैवं स्तुवतो नित्यं	सर०रह० ४३
तरवोऽपि हि जीवन्ति	महो० ३.१३	तां जीवरूपिणीं	यो०रा० ७
तर्कतश्च प्रमाणाच्च	रुद्रह० ४६	तां तीक्ष्णशृंखलां विद्धि	महो० ६.५२
तस्माच्छ्वनैः शनैः	यो०कुं० २.४०	तां दृष्ट्वा तदधीशेन	रामपूर्व० ४.२८
तस्मात्कृष्ण एव परमो	गो०पूर्व० ४९	तां ध्यात्वा सर्वसिद्धीनां	यो०रा० १०
तस्मात् त्र्यंशकमाख्यातं	यो०कुं० २.१९	तानुवाच ब्रह्मा यत्तस्य	गो०पूर्व० १८
तस्मात्संचालयेन्त्रित्यं	यो०कुं० १.१७	तानुवाच ब्राह्मणः	गो०पूर्व० ५
तस्मात्सर्वं परित्यज्य	अक्षिं० २.४७	तापत्रयसमुद्भूतजन्ममृत्युं	शरभ० १७
तस्मात्सर्वप्रयत्नेन	यो०कुं० २.१४	तापापहारिणीं देवीं	देवी० १९
तस्मादन्योन्यमात्रित्य	त्रिंब्रा० २.४	तामग्निवणां तपसा	देवी० ९
तस्मादृयासयोगेन	त्रिंब्रा० २.२२	तामसी दैत्यपक्षेषु	कृष्ण० ५
तस्मादिदं साममध्यगं	नृ०पूर्व० १.१६	तालुचक्रं तत्रामृतधारा	सौ०ल०३.६
तस्मादुद्दीयणाख्योऽयं	यो०कुं० १.४८	तालुमूलं च मूलं च	त्रिंब्रा० २.१२२
तस्मादेनं नित्यमावर्तयेत्	गो०पूर्व० २८		

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
तालमूलं समुक्तव्य	यो०कु० २.२८	तैलधारामिवाच्छिन्न	ध्या०बि० ३७
तावज्जीवो भ्रमत्येवं	यो०चू०१४, ध्या०बि० ५०	त्यक्ताहं कृतिराश्वस्त ...	महो० ६.६९
तावत्संसारभृगुषु	महो० ४.१११	त्यक्त्वा सदसदास्थां	महो० ६.५४
तावदासनमुत्सेधे	त्रिंब्रा० २.९९	त्यागादानपरित्यागी	महो० ६.१५
तावतं च पुनः कालं	त्रिंब्रा० २.११९	त्रयोदशमुखं त्वक्षं	रुद्र०जा० ४१
तावनिशीव वेताला	महो० ५.७८	त्रिकोणं तत्पुरं	यो०चू० १०
तासां स्वर्गापवर्गार्थं	महो० ५.१६३	त्रिणाचिकादियोगान्ता	महो० ४.७४
तिलानां तु यथा तैलं	ध्या०बि० ७	त्रिधा रेखा भवत्यालाटात्	काल०रु० ५
तिष्ठनाच्छन्	महो० ६.३४	त्रिमुखं चैव रुद्राक्षम्	रुद्र०जा० २९
तिसः पुरस्त्रिपथा	त्रिपुरा० १	त्रियंगानि शिखा त्रीणि	पा०ब्र० २.५
तिस्तश्च नाडिकास्तासु	त्रिंब्रा० २.११८	त्रिशतं त्वधमं पञ्चशतं	रुद्र०जा० २२
तुन्दस्थजलमत्रं च	त्रिंब्रा० २.८३	त्रिशिखी ब्राह्मणः	त्रिंब्रा० १.१
तुन्दे तु ताणं कुर्याच्च	यो०कु० १.१५	त्रिस्थानं च त्रिमार्गं च	ध्या०बि० ३६
तुर्यविश्रान्तियुक्तस्य	महो० ४.४०	त्रीणि धामानि कालः	द०मू० २४
तुर्यातीतं परंब्रह्म	त्रि०ब्रा० १.१५१	त्वं वाइमयस्त्वं	गण० ५
तुलसी दारमणिभिः	तुलसी० १५	त्वद्भांसरक्तबाष्पाम्बु	महो० ३.४०
तुलसीपत्रमुत्सृज्य	तुलसी० १३	त्वत्ताहनात्मता	महो० ५.४४
तुषारकरबिम्बाच्छं मनो	महो० ४.३३	त्वमेव प्रत्यक्षं तत्त्वमसि	गण० २
तूष्णीमेकामेक ऋत्वा	प्रा०हो० १२	त्वमेव सुरसंसेव्या	तुलसी० ६
तृणं पांशुं महेन्द्रं च	महो० ३.३८	त्वमैश्वर्यं दापयाथ	रामपूर्व० ४.१६
तृतीयं नाभिचक्रं	यो०गा०९, सौ०ल०३.३	दक्षनाड्या समाकृत्य	यो०कु० १.२४
तृतीय रेखा वलयं कृत्वा	ध्या०बि० ९३-१४	दक्षिणे लक्ष्मणेनाथ	रामपूर्व० ४.१०
तृष्णाग्राहगृहीतानां	महो० ४.१०५	दण्डो नीतिश्च वार्ता	सीता० ३१
तृष्णाविषूचिकामन्त्रः	महो० ३.२६	दया च रोहिणी माता	कृष्ण० १५
ते देवा अब्रवन् नमो	देवी० ८	दर्शनाख्यं स्वमात्मानं	महो० ६.३७
ते द्वे ब्रह्मणि विन्देत	महो० ४.१५	दशमद्वारमार्गं	यो०गा० १४
तेन कुण्डलिनी तस्याः	यो०कु० १.१४	दशवक्त्रं तु रुद्राक्षं	रुद्र०जा० ३८
तेन कुण्डलिनी सुसा	यो०कु० १.४५	दशवारं पठेद्यस्तु	देवी० ३१
तेन चित्रतिबिम्बेन	सर०रह० ४८	दशाचतुष्टयाभ्यासाद्	महो० ५.३१
तेन स्वयं त्वया ज्ञातं	महो० २.७१	दहरस्थः प्रत्यगात्मा	यो०कु० ३.३१
तेनाग्निना च संतसा	यो०कु० १.६६	दाम्भिकाय नृशंसाय	शरभ० ३६
तेनासौ स्वविवेकेन	महो० २.२	दासाः पुत्राः स्त्रियश्चैव	महो० ३.३५
तेनेयमिन्द्रजालत्रीर्जगति	महो० ४.४७	दिव उग्रोऽवारुक्षत्	नी०रुद्र० १.२
तेनैषा खेचरी नाम	ध्या०बि० ८३	दिवसे दिवसे कुर्वन्	महो० ६.७७
ते प्रपञ्चुस्तदु होवाच	गो०पूर्व० २५	दिवा सुसिनिशायां	यो०कु० ०१.५६
ते भोगास्तानि भोज्यानि	महो० २.२६	दिव्यवर्षं सहस्राणि	रुद्र०जा० ४
ते स्थिता भूमिकास्वासु	महो० ५.४२	दिशोऽपि नहि दृश्यन्ते	महो० ३.४९
ते ह पुनः श्रद्धानास्तं	द०मू० २६	दीर्घभाजि षडसे	रामपूर्व० ४.४३
ते होच्चुः किं तदूपं	गो०पूर्व० ६	दुर्धसिस्थै समुत्पन्नै	कृष्ण० १७
ते होच्चुरुपासनमेतस्य	गो०पूर्व० १७	दुर्जया सा सुरैः	कृष्ण० ११
तैलधारामिवाच्छिन्न	यो०चू०८०, ध्या०बि० १८	दुर्लभो विषयत्यागो	महो० ४.७७

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
दृढासनो भवेद्योगी	सौ०ल०२.७	द्वितीयं संशयाख्यं	यो०कु० १.५९
दृश्यं नास्तीति बोधेन	महो० २.३८	द्वितीयं स्वाधिष्ठानचक्रं	सौ०ल० ३.२
दृश्यदर्शननिर्मुक्तः	महो० ६.८०	द्वितीयकारणाभावाद्	महो० ५.५८
दृश्यमाश्रयसीदं	महो० ६.३५	द्वित्रिवर्णसहिता	पा०ब्र० १.४
दृश्यसंभवबोधेन	महो० ४.६२	द्विप्रकारमसंसर्गी	अक्षि० २.२०
दृश्यासंभव बोधो	महो० ४.६३	द्विवक्तं तु मुनिश्रेष्ठ	रुद्र०जा० २८
दृष्टं द्रष्टव्यमखिलं	महो० ६.९	द्विसप्तिसहस्राणि	ध्या०बि० ९८
देवकी ब्रह्मपुत्रा सा	कृष्ण० ६	द्वे विद्ये वेदितव्ये हि	रुद्रह० २८
देवा ह वै प्रजापतिम्	सीता०१, नृ०पूर्व० २.८, ४.१,४.१४, ५.१.५.११	द्वेषाश्वाणूरमलोऽयं	कृष्ण० १४
देवा ह वै प्रजापतिमब्रुवन्	नृ०पूर्व० ३.१	द्वैताद्वैतसमुद्भूतैः	महो० ६.६२
देवा ह वै मृत्योः	नृ०पूर्व० २.१	द्वौ सुपौर्णे शरीरेऽस्मिन्	रुद्रह० ४१
देवा ह वै स्वर्गं	च०वेद० ८	धनदोरेषु वृद्धेषु	महो० ५.१६९
देवीं वाचमजनयन्त	देवी० १०	धनुस्तारं शरो ह्रात्मा	रुद्रह० ३८
देवीं वाचमिति मन्त्रस्य	सर०रह० २७	धर्माधर्मौ सुखं दुःखं	महो० २.५६
देवी होकाग्र आसीत्	बहवृ० १	धर्मो रुद्रो जगद्विष्णुः	रुद्रह० १५
देशकालक्रियाशक्तिन्	महो० ५.१२१	धारणा द्वादश प्रोक्तं	यो०चू० ११२
देशादेशं गते चित्ते	महो० ५.४९	धारणाभिर्मनो धैर्यं	यो०चू० ११०
देशादेशान्तर प्राप्तौ	महो० ४.५९	धीरेऽप्यतिबहुज्ञोऽपि	महो० ५.८७
देहमध्ये ब्रह्मानाडी	अद्व०ता० ५	धृतिर्मत्री मनस्तुष्टिः	महो० ६.३०
देहमध्ये शिखिस्थानं	त्रिंब्रा० २.५६	ध्यानम्। मुद्रापुस्तक	द०मू० १९
देहमानं स्वाङ्गुलिभिः	त्रिंब्रा० २.५४	ध्यानम्। स्वस्तिको	द०मू० ८
देहस्थमखिलं देह....	त्रिंब्रा० २.५५	ध्यानस्य विस्मृतिः	गरुड० ५
देहाभिमाने गलिते	सर०रह० ६६	ध्यायतो योगिनः सर्वं	त्रिंब्रा० २.३२
दैन्य दोषमयी दीर्घा	महो० ३.३६	ध्यायतो योगिनो यस्तु	त्रिंब्रा० २.१५६
द्रष्टा दृश्यवशाद्वद्धो	महो० ४.४८	ध्यायत्रास्ते मुनिश्वैवम्	यो०कु० ३.३३
द्रष्टारं पश्यतो नित्यम्	महो० ५.६३	न किंचन द्वेष्टि तथा	महो० २.६०
द्रष्टुर्दृश्य समायोगात्	महो० ६.१७	न गच्छन्ति स्वयं ज्योतिः	पा०ब्र० २.१५
द्रष्टुर्दर्शनदृश्यानां	महो० २.६९	न च मूर्च्छा भवेत्तस्य	ध्या०बि० ८१
द्रष्टुर्दर्शनदृश्यानि	महो० ६.१८	न जहाति मृतं वापि	यो०चू० २६
द्वयोः समरसीभावं	ध्या०बि० ९१	न जायते न प्रियते	महो० ४.११८,५.१६५
द्वयोर्मध्यगतं नित्यम्	महो० ६.१९	न तत्पश्यति चिद्रूपं	पा०ब्र० २.२५
द्वादशाङ्गुलदैर्घ्यं च	यो०कु० १.११	न तत्र चन्द्रार्कवपुः	रुद्रह० ४०
द्वादशान्तपदं	द०मू० २५	न तदस्ति न यत्राहं	महो० ६.११
द्वादशेनांश्च धातारं	रामपूर्व० ४.५२	न तस्य धर्मोऽधर्मश्च	पा०ब्र० २.२३
द्वापरान्ते नारदो ब्रह्माणं	कलि० १	न त्यजन्ति न वाच्छन्ति	महो० ५.१७७
द्वाराणां नव संनिरुद्ध्य	यो०चू० १०७	न धनान्युपकुर्वन्ति न	महो० ४.२८
द्वारोपेतं च राश्यादिभूषितं	रामपूर्व० ४.५३	न पीयूषं पतत्यग्रौ	ध्या०बि० ७९
द्वावेतौ ब्रह्मतां यातौ	महो० ६.४७	नमः कमलनेत्राय	गो०पूर्व० ३६
द्विचन्द्रशुक्तिका	महो० ५.१५	नमः पापप्रणाशाय	गो०पूर्व० ४१
द्वितीयं वासुदेवाद्यैः	रामपूर्व० ४.३५	नमस्त आदित्य	सूर्य० ४

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
नमस्ते अस्तु भगवति	देवी० १७	नाभिनन्दत्यसंप्राप्तं	महो० ४.३७
नमस्ते गणपतये	गण० १	नाभौ तु मणिवद्विम्बं	यो०चू० ९
नमस्ते नारदनुते	तुलसी० ९	नाभौ दशदलं पदं	यो०चू० ५
नमस्ते भवभामाय	नी०रुद्र० १.४	नामजात्यादिभिर्भेदैरष्ठथा	सर०रह० २५
नमस्ते शारदे देवि	सर०रह० ३७	नामरूपात्मकं सर्वं	सर०रह० ३४
नमामि त्वामहं देवीं	देवी० २५	नारदः पुनः प्रपञ्च	कलि० २
नमामि यामिनीनाथ	सर०रह० ४१	नारसिंहं च वाराहं	रामपूर्व० ४.५५
नमो मित्राय भानवे	सूर्य० ६	नारायणेन संयुक्तो	रामपूर्व० ४.६३
नमो विज्ञानरूपाय	गो०पूर्व० ३५	नाविरतो दुश्चरितानाशान्तो	महो० ४.६९
नमो वेदादिरूपाय	रामपूर्व० ४.१३	नासाग्रन्यस्तनयनो	त्रिंब्रा० २.१४६
नमो व्रातपतये नमो	गण० १५	नासाग्रे धारणादीर्घमायुः	त्रिंब्रा० २.१११
न रसायनपानेन न	महो० ४.३१	नास्तमेति न चोदेति	महो० ५.१०२
न रोगो मरणं तस्य	यो०चू० ५३	नास्ति देहसमः शोच्यो	महो० ३.२७
न लक्ष्यते स्वभावोऽस्या	महो० ५.११२	नाहं कर्ता न भोक्ता च	अक्षिं २.२१
न वक्त्रं तु रुद्राक्षं	रुद्र० जा० ३७	नाहं दुःखी न मे देहो	महो० ४.१२४
नव प्रसूतस्य परादयं	महो० ५.१२	नाहं न चान्यदस्तीह	महो० ५.६९
नवममाकाशचक्रम्	सौ०ल० ३.९	नाहं नेदमिति	महो० ६.३६
नवयोनीनवचक्राणि	त्रिपुरा० २	नाहं मांसं न चास्थीनि	महो० ४.१२५
नवसूत्रान्परिचर्चितान्	पांब्र० १.२७	निःशेषितजगत्कार्यं	महो० २.२९
नवस्वेव हि चक्रेषु	यो०रा० ५	नित्यं ऋतं वच्य	गण० ३
न शास्त्रेण विना सिद्धिर्दृष्टा	यो०कु० २.१२	नित्यं विभुं सर्वगतं	रुद्रह० ३२
न शून्यं नापि चाकारो	महो० २.६६	नित्यप्रबुद्धचित्तस्त्वं	महो० ४.११
न स जीवो न च	पांब्र० २.२२	नित्यो नित्यानां	गो०पूर्व० २०
न सत्रासन मध्यान्तं	महो० ५.४६	निदाघ तव नास्त्यन्यज्ञेयं	महो० ४.१
न सम्यग्जानिनः	पांब्र० २.३८	निदाघ शृणु सत्त्वस्था	महो० ४.१७
न ह वा एतस्यर्चा	नृ०पूर्व० ४.१०	निदाघो नाम मुनिराद्	महो० ३.१
न हि चञ्चलताहीन...	महो० ४.९८	निबन्धाः सर्वशाखा	सीता० २९
नहि पथ्यमपथ्यं	यो०चू० ६८	नियोज्य नासिकारंध्रं	यो०कु० २.४५
न हृष्यति ग्लायति	महो० ६.५०	निरस्तकल्पनाजालम्	महो० ५.६०
नाकर्मसु नियोक्तव्यं	महो० ४.२२	निराशता निर्भयता	महो० ६.२९
नाकृतेन कृतेनार्थो	महो० ४.४१	निरिच्छे संस्थिते रते	महो० ४.१३
नागः कूर्मः कृकरको	ध्या०वि० ५७	निग्रथिः शान्तं संदेशो	अक्षिं २.३९
नागः कूर्मोऽथ कृकरो	यो०चू० २३	निर्मूलं कलनां त्यक्त्वा	महो० ६.४६
नाडीजलोदरं	यो०कु० १.२९	निवासदीपसदृशम्	त्रिंब्रा० २.१५८
नाडीभेदं मरुद्वेदं	त्रिंब्रा० २.८८	निशीर्य शल्यानां मुखा	नी० रुद्र० २.६
नानन्दं न निरानन्दं	महो० ५.९८	निष्कलाय विमोहाय	गो०पूर्व० ४२
नानायेनिशतं गत्वा	त्रिंब्रा० २.१७	निष्कामानामेव	सौ०ल० १.१२
नानावर्णधरं देवं	त्रिंब्रा० २.१५५	निष्ठा वेदान्त वाक्यानाम्	महो० २.११
नान्तः प्रज्ञं न बहिः प्रज्ञं	नृ०पूर्व० ४.७	निष्पत्तौ वैणवः	सौ०ल० २.१०
नापदि ग्लानिमायान्ति	महो० ४.१८	निहत्य राघवो राज्ये	रामपूर्व० ४.२४
नाभिकन्दे च नासाग्रे	त्रिंब्रा० २.१०९		

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
नीरागं निरुपासङ्गं	महो० ५.६७	पश्चिमाभिमुखं लिङ्गं	यो०ग० ८
नीला च मुखविद्युन्मालिनी	सोता० १८	पाणिपादादिमात्रो	महो० ५.९२
नीहारहरधनसारसुधा	सर०रह० ५	पाण्डरं शुक्रमित्याहुः	ध्या०बि०८७
नो चेन्मौनं समास्थाय	महो० ३.५७	पादाङ्गुष्ठमिति	त्रिंब्रा० २.८०
पद्मिक्तबद्धेन्द्रियपशुं	महो० ३.२९	पादाङ्गुष्ठावधिः कन्दाद्	त्रिंब्रा० २.७४
पञ्चपदं जपन्यज्ञाङ्गं	गो०पूर्व० १२	पादाङ्गुष्ठौ तु पाणिभ्यां	त्रिंब्रा० २.४३
पञ्च ब्रह्मभिरङ्गैश्च	रुद्र० जा० २५	पार्श्वस्थ वोधिताः सन्तः	महो० ५.३८
पञ्चमं कण्ठचक्रं	यो०रा० १२	पार्षिधातेन संपीड्य	यो०चू० ४६
पञ्चमादम्बरोत्पत्ति	गो०पूर्व० ३१	पावका न इति मन्त्रस्य	सर०रह० १२
पञ्चमीं भूमिकामेत्य	अक्षिं० २.३४	पिङ्गला चोथिता तस्मात्	त्रिंब्रा० २.७१
पञ्चरूपपरित्यागाद्	बहव० ६	पिण्ड ब्रह्माण्डयोरैक्यं	यो०कु० १.८१
पञ्चवक्त्रः तु रुद्राक्षं	रुद्र०जा० ३१	पित्रेत्युक्तः शुकः प्रायात्	महो० २.२०
पतन्ति केचिदबुधाः	महो० ५.१४४	पिबतस्त्रिषु मासेषु	त्रिंब्रा० २.११२
पदं करोत्यलङ्घ्येऽपि	महो० ३.२३	पीड्यते न च रोगेण	यो०चू० ५४
पदान्तराण्यसंख्यानि	महो० ५.२	पुनः पुनरिदं कार्यं	यो०कु० १.२६
पदार्थप्रिविभागःः	अक्षिं० २.१२	पुनः षाण्मासमात्रेण	यो०कु० २.३३
पदार्थभावना दादर्य	महो० २.४१	पुनरेतस्यां सर्वात्मकत्वं	अक्ष० १४
पदाकोशप्रतीकाशं	महो० १.१२, च०वेद०४	पुनर्नारदः पप्रच्छ	कलि० ३
पदास्योदाधाटनं कृत्वा	ध्या०बि० २५	पुनर्विरचयेतद्वत्पूर्येच्च	यो०कु० १.३४
पद्माक्षे स्थापितो मेरुः	महो० ४.६५	पुरुं हन्त्रीमुखं	त्रिपुरा० १०
पद्मासनंजानूर्वोरन्तरे	त्रिंब्रा० २.४१	पुरतः पृष्ठतस्तस्य	त्रिंब्रा० २.७२
पद्मासनं समारुद्धा	यो०चू० ७१	पुष्यमध्ये यथागन्ध्यः	ध्या०बि० ५
पद्मासनं सुसंस्थाप्य	त्रिंब्रा० २.४०	पूजितो वायुपुत्रेण	रामपूर्व० ४.२०
पद्मासनस्थितो योगी	ध्या०बि० ७०	पूरकं द्वादशं कार्यात्कुम्भकं	यो०चू० १०३
परं पौरुषमाश्रित्य	महो० ४.९३	पूरकान्ते तु कर्तव्ये	यो०कु० १.५१
परप्रयुक्तेन चिरं	महो० ५.३३	पूरणान्नायः सर्वाः	त्रिंब्रा० २.९९
परमं पौरुषं यत्तम्	महो० ५.८८	पूरितं कुम्भये	त्रिंब्रा० २.६७
परमरहस्य शिवतत्त्वज्ञानेनेति	द०म०२	पूर्वं मनः समुदितं	महो० ५.५२
परमात्मनि लीनं	यो०कु० ३.२४	पूर्वदले विश्रमते	ध्या०बि० ९३-२
परमात्मस्वरूपो	पा०ब्र० १.१३	पूर्वा दृष्टिमवष्ट्य	महो० ६.६६
परमानन्दसंदोहो	अक्षिं० २.४६	पूर्वोक्तत्रिकोणस्थानात्	ध्या०बि० ९५
परमेष्ठयपि निष्ठावाहीयते	महो० ३.५१	पूर्वोक्तेन क्रमेणैव	यो०कु० १.५३
परात्परं यन्महतो महान्तं	महो० ४.७१	चैप्पलादं महाशास्त्रं	शरभ० ३५
परात्परतरं ब्रह्म	शरभ० ३२	पोषणादि शरीरस्य	त्रिंब्रा० २.८६
परिज्ञातस्वभावं तं शुकं	महो० २.२८	पौरुषेण प्रयत्नेन	महो० ४.१०२
परिज्ञायोपभुक्तो हि	महो० ५.७१	प्रकाश एव सततं	पा०ब्र० २.२०
परितः कन्दपाशें तु	त्रिंब्रा० २.६४	प्रकाश एव सततं तस्मान्मौनं	पा०ब्र० २.२१
परिसृतं झघमाजं	त्रिपुरा० १२	प्रकृतित्वं ततः	सर०रह० ४७
परिसृता हविषा	त्रिपुरा० १५	प्रकृत्यष्टकरूपं च	यो०कु० १.७४
पवित्रे नात्युच्चनीचे	यो०कु० १.२३	प्रकृत्या सहितः इयामः	रामपूर्व० ४.७
पवित्रे निर्जने देशे	यो०कु० १.२२	प्रक्षीणचित्तदर्पस्य	महो० ५.७७

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
प्रज्ञानं ब्रह्मेति वा	बहवृ० ७	प्रातर्माध्यन्दिने सायम्	त्रिंश्चा० २.१०१
प्रज्ञानमेव तद्ब्रह्म	महो० ४.८१	प्राप्तं प्राप्तव्यमखिलं	महो० २.७२
प्रणवः सर्वदातिष्ठेत्सर्वजीवेषु	यो०चू० ७३	प्राप्तकर्मकरो नित्यं	महो० ६.६४
प्रणवात्र्प्रभवो रुद्रः	यो०कु००७७	प्राप्तं संपाप्यते येन	महो० ३.१२
प्रतिपदिनोऽकाले	यो०कु००३.२	प्रायश्चित्तयस्त्वधस्तात्	प्रा०हो० २०
प्रतिभासत एवेदं न	महो० ५.१०८	प्रोवाच पुनः स्वयं भुवं	पा०ब्र० १.२३
प्रत्यगानन्दं ब्रह्मपुरुषं	नारा० ४	बदरीफलमात्रं तु	रुद्र०जा० ९
प्रत्यगानन्दरूपात्मा	त्रिंश्चा० २.९	बद्धपद्मासनो योगी	यो०चू० ९५,१०६
प्रथमं चेतनं यत्	महो० ५.१०	बद्धमुक्तो महीपालो	महो० ५.७४
प्रथमा शब्दब्रह्ममयी	सीता० ६	बद्धवा प्रागासनं	त्रिंश्चा० २.९२
प्रथमे दिवसे कार्यं	यो०कु० १.५४	बध्नकराभ्यां श्रोत्रादि	त्रिंश्चा० २.११६
प्रथमो मूलबन्धस्तु	यो०कु० १.४१	बध्नाति हि शिरोजातम्	यो०चू० ५०
प्रथमौ द्वावहंकारौ	महो० ५.१५	बध्यते न च कालेन	ध्या०बि० ८२
प्रद्युम्नमग्रौ वाय्वंशे	त्रिंश्चा० २.१४४	बन्धनं मनसो नित्यं	त्रिंश्चा० २.२६
प्रधानाः प्राणवाहिन्यो	ध्या०बि०५२, यो०चू०१६	बधुश्च बधुकर्णश्च	नी०रुद्र० ३.२
प्रबुद्धबुद्धेः प्रक्षीण ..	महो० ५.१०६	बर्हपीडाभिरामाय	गो०पूर्व० ३७
प्रबुद्धा वहियोगेन	यो०चू० ३८	बलं ज्ञानं सुराणां वै	कृष्ण० १२
प्रबुद्धोऽस्मि	महो० ६.२७	बलातिबलयोर्विराट्	सावि० १४
प्रभाशून्यं मनः शून्यं	सौ०ल०२.१७	बहिःकृत्रिमसंरम्भो	महो० ६.६८
प्रभाहीनास्तथा कृत्वा	रामपूर्व० १.४	बहिस्तदायुधैः पूज्यो	रामपूर्व० ४.३९
प्रभुं वेरणं पितरं	शरभ० ४	बहूनि पुण्यानि कृतानि	शरभ०३
प्रशान्तकलनारम्यं	महो० ६.७३	बाह्ये नापि हृदये	महो० ४.५१
प्रसन्नवदनो जेता	रामपूर्व० ४.८	बिन्दुः क्षरति नो यस्य	ध्या०बि०८४
प्रसीद परमानन्द	गो०पूर्व० ४३	बिन्दुमूलशरीराणि	यो०चू० ५६
प्राक्मनिर्मितं सर्वं	अक्षि० २.२२	बिन्दुर्ब्रह्मा रजः	यो०चू० ६२
प्राज्ञो मकार इत्येवं	अक्षि० २.४४	बिलं प्रवेशतो यत्र ब्रह्म	यो०कु० १.४६
प्राणं चेदिडया	यो०चू० ९८	बीजजाग्रत्तथा जाग्रत्	महो० ५.८
प्राण एवाथवा ज्येष्ठो	त्रिंश्चा० २.७९	बीजरूपस्थितं जाग्रत्	महो० ५.११
प्राणरोधमथेदार्नीं	यो०कु० १.१९	बीजशक्तिं न्यसेद्भक्षामयोः	रामपूर्व० ४.४
प्राणस्थानं ततो वहिः	यो०कु०१.६५	बीजाक्षरं परं बिन्दुं	ध्या०बि०२
प्राणापानवशो जीवो	यो०चू० २८,३०	ब्रह्मग्रन्थं ततो भित्त्वा	यो०कु०१.६७
प्राणापानसमाक्षिः	ध्या०बि० ६०	ब्रह्मचारी मिताहारी	ध्या०बि०७२, यो०कु० ४२
प्राणापानादिचेष्टादि	त्रिंश्चा० २.८५	ब्रह्मणा कल्पिताकारा	महो० ५.१३६
प्राणापानौ समानश्च	त्रिंश्चा० २.७७	ब्रह्मणा तन्यते विश्वं	महो० ४.५०
प्राणाभ्यासस्ततः कार्यो	यो०कु० १.६२	ब्रह्मणो विवरं यावत्	त्रिंश्चा० २.६९
प्राणायामद्विषट्केन	यो०चू० १११	ब्रह्मणोऽव्यक्तम्	त्रिंश्चा० १.३
प्राणायामेन युक्तेन	यो०चू० ११६	ब्रह्मपुत्रः प्रोवाच	पा०ब्र० १.३२
प्राणायामो भवेदेवं	यो०चू० १०८	ब्रह्मरन्धं निर्वाणचक्रम्	सौ०ल० ३.८
प्राणाविरुद्धश्वरति	त्रिंश्चा० २.६२	ब्रह्मरन्धं समावृत्य	यो०कु००२.३६
प्राणो देहस्थितो	यो०चू० १००	ब्रह्मविज्ञान सम्पन्नः	पा०ब्र०२.४६
प्रातरधीयानो रात्रिकृतं	अक्ष०१६, देवी०३२, नारा० ५	ब्रह्मविद् ग्रसति	पा०ब्र०२.३९

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
ब्रह्मविष्णुमयो रुद्र	सूरह० ८	भूयाद्यौ द्विपदाभ्य...	सौ०ल० १.८
ब्रह्मसंध्या क्रिया	पा०ब्र० १.१८	भूर्भुवः सुवरोमिति	गरुड०४
ब्रह्मसूत्रपदं ज्ञेयं	पा०ब्र० २.६	भूर्भुवः स्वरिमे लोकाः	यो०चू० ८५
ब्रह्मादीनां वाचकोऽयं	रामपूर्व० १.११	भृत्योऽभिमतकर्तृत्वान्	महो० ५.७९
ब्रह्मापूरक इत्युक्तो	ध्या०बिं०२१	भेदाभेदस्थथा	पा०ब्र० २.२६
ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्रौ	शरभ० २९	भोगशक्तिर्भौगरूप	सीता० ३६
ब्रह्मा विष्णुश्च रुद्रश्च	महो० ३.५२	भोगाभोगो महारोगाः	अक्षि० २.२३
ब्रह्मैव विद्यते	पा०ब्र० २.२७	भोगेच्छामात्रको वन्धः	महो० ५.९७
ब्रह्मैवेदममृतं	पा०ब्र०२.३०	भोगैकवासनां व्यक्त्वा	महो० ४.१०८
ब्रह्मोपनिषदो ब्रह्म	पा०ब्र० १.३०	भ्रुवोरन्तर्गता दृष्टिर्मुदा	ध्या०बिं० ८०
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः	सूर०जा० १०	भ्रुवोर्मध्यं तुं संभिद्य	यो०कु० १.६९
ब्राह्मणो बिभृयाच्छ्वेता	सूर०जा० १२	भ्रुवोर्मध्ये ललाटे	ध्या०बिं० ४०
ब्लूं चोदयित्री सूनुतानां	सर०रह० १७	भ्रूचक्रं सत्पं	यो०रा० १५
भक्तानां धारणात्	सूर०जा० ६	भ्रूयुगमध्यबिले	अद्व०ता० ११
भक्तानुकम्पिनं देवं	गण० १३	मकारस्तामसः	यो०चू० ७६
भक्तिरस्य भजनम्	गो०पूर्व० १४	मकारे तु लयं प्रासे	ध्या०बिं० १२
भगः शक्तिर्भगवान्काम	त्रिपुरा० १४	मकारे लीयते रुद्रः	यो०चू० ७८
भरताधस्तु सुग्रीवं	रामपूर्व० ४.३३	मणिपूरं नाभिदेशं	यो०कु० ३.११
भवताप्येष एवार्थः	महो० २.३३	मतिविज्ञान संपत्तिशुद्धये	सूर०जा० ३३
भवभावनया मुक्तो	महो० ४.९२	मत्त ऐरावतो बद्धः	महो० ४.६४
भविष्यद्दुःखबोधाङ्गा	महो० ५.१९	मथनेन विना केचित्	यो०कु० ३.१३
भस्मव्यापाण्डराङ्गः	द०मू० १३	मदन्तिका मानिनी	त्रिपुरा० ६
भारो विवेकिनः शास्त्रं	महो० ३.१५	मदाभिमानमातस्य....	अक्षि० २.१३
भावनाऽभावमात्रेण	महो० ५.१८३	मद्यं मांसं च लशुनं	सूर०जा० ४३
भावयत्यनिलस्पन्दं	महो० ५.१४८	मध्यमायां मुकुलिता	यो०कु० ३.१९
भावयन्ति चितिश्वैत्यं	महो० ५.१८०	मध्यमूर्वोश्च मूलं च	त्रिंब्रा० २.१३१
भावेष्वरतिरायाता	महो० ३.६	मध्ये क्रमादर्कविधग्नि	रामपूर्व० ५.४
भिद्यते हृदयग्रन्थिः	सर०रह० ६७	मनः संपद्यते लोलं	महो० ५.१४६
भिद्यते हृदयग्रन्थिश्चिद्यन्ते	महो० ४.८२	मनः स्वात्मनि चाध्यस्तं	पा०ब्र०२.१२
भिन्ने तस्मिन्द्वये चैव	यो०कु० ३.१६	मन एव समर्थं हि	महो० ४.१०४
भुज्यते शिवसंप्रीत्यै	यो०कु० १.४	मननं त्यजतो नित्यं	महो० ५.६२
भूतादिकं शोधयेदद्वारपूजां	रामपूर्व० ५.१	मनसा कर्मणा वाचा	अक्षि० २.८
भूतेऽल्पे चाप्यनल्पे	यो०कु० १.७६	मनसा परमात्मानं	त्रिंब्रा० २.१२९
भूदेवी ससागराम्भः	सीता० १७	मनसा भाव्यमानो हि	महो० ४.६७
भूमावृत्तारितं सर्वं	कृष्ण० २६	मनसा मन आलोक्य	यो०कु० ३.५
भूमिकात्रितयं जाग्रच्चतुर्थो	अक्षि० २.३२	मनसैव मनश्चित्त्वा	महो० ४.१०६, ६.३३
भूमिकात्रितयाभ्यासाः...	अक्षि० २.३०	मनसैवेन्द्रजालश्रीर्जगति	महो० ४.४९
भूमिकात्रितयाभ्यासात्	महो० ५.३०	मनसोत्पद्यते बिन्दुर्यथा	यो०कु० ३.६
भूमिकापञ्चकाभ्यासात्	महो० ५.३२	मनसो धारणं यत्तद्युक्तस्य	त्रिंब्रा० २.१३४
भूमिकासप्तकं चैतद्	महो० ५.३९	मनसो धारणादेव	त्रिंब्रा० २.११४
भूमिषट्कचिराभ्यासाद्	महो० ५.३४	मनसो निगृहीतस्य	महो० ५.७३

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
मनसो विजयात्रान्या	महो० ५.७६	मुखेनाच्छाद्य तदद्वारं	ध्या०बि० ६६
मनस्तादृगुणगतं	महो० ५.१५०	मुख्यात्पूर्वोत्तरैर्भागैः	त्रिंब्रा० २.२
मनागपि मनोव्योग्मि	महो० ४.११५	मुख्यादूर्ध्वे परा ज्ञेया	त्रिंब्रा० २.३
मनोघनविकल्पं तु	महो० ५.१२६	मुद्रां ज्ञानमर्यो याम्ये	रामपूर्व० ४.३१
मनोमयज्ञानमयान्	यो०कु० ३.३२	मुद्रां भद्रधारदात्रीं	द०म० १०
मनोवशत्वाणवायुः	त्रिंब्रा० २.११७	मुनयो ह वै ब्राह्मणमूचुः	गो०पूर्व० २
मनोविकल्प संजातं	महो० २.३४	मुने नासाद्यते तद्दि	महो० ५.११४
मनोव्याधेश्चिकित्सार्थं	महो० ४.८८	मुहूर्तद्वयपर्यन्तं	यो०कु० १.१३
मन्त्राणां मातृका देवी	देवी० २७	मूर्धा ब्रह्मा शिखान्तो	गा०रह० ७
मन्त्रेण न्यासः	द०म० ११.१४	मूर्ध्याधायात्मनः	त्रिंब्रा० २.१९
मन्त्रेण न्यासः । आदौ	द०म० ९	मूलं च करयोर्मूलं	त्रिंब्रा० २.१३३
मन्त्रोऽयं वाचको रामो	रामपूर्व० ४.२	मूषास्थद्वत्तेमाभं	महो० ५.१५५
मम पुत्रो मम धनमहं	महो० ४.१२७	मृगतृष्णाम्बुद्ध्यादि ..	महो० ५.४१
मम योनिरप्स्वतःः	देवी० ७	मृत्युव्याधि जराग्रस्तो	यो०कु० २.२
मम रूपा खेस्तेजः	पा०ब्र० १.८	मृषैवोदेति सकलं	यो०कु० १.८०
मम वशानि सर्वाणि	पा०ब्र० १.६	मेरुशृङ्गतरोल्लासि	महो० ३.४१
ममापि विष्णोर्जनकं	शरभ० ५	मेलनमन्त्रः हीं भं सं	यो०कु० ३.१
मयि जीवत्वमीशत्वं	सर०रह० ६८	मोक्षद्वारे द्वारपालाश्त्वारः	महो० ४.२
मरुभूमौ जलं सर्वं	महो० ४.८४	मोक्षायैषा न बन्ध्याय	महो० ५.९१
मस्तके मणिवद्दिनं यो	ध्या०बि० ४६	मोदितास्ते सुराःसर्वे	कृष्ण० ३
महती ज्ञानसम्पत्तिः	रुद्र०जा० ३५	मोहजालकसंघातो	त्रिंब्रा० २.१६५
महाधियः शान्तिधियो	महो० ५.६१	मोहान्थकारे निःसारे	द०म० २८
महानवोऽयं पुरुषो	प्रा०हो० १६	मौनमुद्रा । सोऽहमिति	द०म० २०
महापद्मश शब्दुश्च	रामपूर्व० ४.५४	मौनवान्निरहं भावे	महो० २.५०
महाप्रथमान्तार्धस्य	नृ०पूर्व० १.१३	यः कवित्वं निरातङ्कं	सर०रह० ४२
महाप्रलयसंपत्तौ	महो० ४.५५	यः सकुदुच्चारयति	अद्व०ता० १९
महामुद्रा नभोमुद्रा	यो०चू० ४५	यः सदाहरहर्जपति स	सूर्य० ८
महालक्ष्मीश विद्यहे	देवी० १२	यः समस्तार्थजालेषु	महो० २.६२
महाशून्यं ततो याति	सौ०ल० २९	यः सर्वज्ञः सर्वविद्यो	रुद्रह० ३३
महो अर्ण इति मन्त्रस्य	सर०रह० १८	यः सर्वोपरमे काले	द०म० ५
मांसपाञ्चालिकायास्तु	महो० ३.३९	यः स्वजनानीलग्रीवो यः	नी०रुद्र० ३.१
मा खेदं भज हेयेषु	महो० ६.२८	यः स्वरूपपरिभ्रंशः	महो० ५.४
मातरीव परं यान्ति	महो० ४.३०	य इदं गायत्रीरहस्य	गा०रह० ८
मात्रा द्वादशसंयुक्तौ	यो०चू० १०२	य इमां परमरहस्य	द०म० ३३
मनसो हंसः सोऽहं	पा०ब्र० १.१२	य इमां ब्रह्मविद्याममावा..	गरुड० २५
मा भवाजो भव ज्ञस्त्वं	महो० ४.१२८	य इमां महोपनिषदं	महो० ६.८३, च०वेद० ७
मायावशादेव देवा	शरभ० ३१	य इमां रुद्राक्षजाबालो	रुद्र०जा० ४९
माया सा त्रिविधा	कृष्ण० ४	य एतं ...अधीते	नृ०पूर्व० ५.१७
मा संकल्पय संकल्पं	महो० ५.१८२	य एतंआनुषुभं	नृ०पूर्व० ५.१५
मीमांसन्ते ब्रह्मवादिनो	नृ०पूर्व० ३.३	य एतं ...नारसिंहम्	नृ०पूर्व० ५.१४
मुखेन पुच्छं संगृह्य	यो०कु० १.८३	य एतं ...नित्यमधीते	नृ०पूर्व० ५.१६

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
य एतं मन्त्रराजं	नृ०पूर्व ५.१३	यदन्मग्निर्बहुधा	प्रा०हो० ७
य एतं.. स ऋचो	नृ०पूर्व ० ५.१८	यदस्तीह तदेवास्ति	महो० ६.१४
य एवं वेद पुरुषः	ध्या०बि० १०६	यदस्यान्तरं सूत्रं	अक्ष० ३
य एवं वेद स शोकं	देवी० १६	यदाऽऽग्रेयदले विश्रमते	ध्या०बि० १३-३
यज्ञं दानं जपं तीर्थं	तुलसी० १४	यदा तु मेलनं योगी	यो०कुं० २.८
यज्ञ साधारणाङ्गं	पा०ब्र० १.१५	यदा दक्षिणदले विश्रमते	ध्या०बि० १३-४
यज्ञसूत्रप्रणवब्रह्मयज्ञ	पा०ब्र० १.१९	यदा नेत्रश्रमो भवति	ध्या०बि० १३-१२
यज्ञाङ्गं ब्रह्मसम्पत्तिः	पा०ब्र० १.२२	यदा नैऋतदले विश्रमते	ध्या०बि० १३-५
यत एषा यथा चैषा	महो० ५.११६	यदा पश्चिमदले विश्रमते	ध्या०बि० १३-६
यतो वाचो निवर्तन्ते	महो० ४.५७, शरभ० २०	यदाभानेन रूपेण	पा०ब्र० २.४२
यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमग्रात्रं	रुद्रह० ३१	यदा मध्ये तिष्ठति	ध्या०बि० १३-११
यतु चञ्चलताहीनं	महो० ४.१००	यदा वायव्यदले विश्रमते	ध्या०बि० १३-७
यतु पौरुषयतेन	रुद्र०जा० १५	यदा संक्षीयते प्राणो	सौ०ल० २.१५
यत्पादाम्भोरुहद्वन्द्वं	शरभ० १९	यदा संधिसंधिषु	ध्या०बि० १३-१०
यत्र नासन्नसद्गृहो	अक्षि० २.३८	यदा ह्यैवैष एतस्मिन्	महो० ४.७९
यत्र निशतासिशत	महो० ४.५६	यदि कर्कोटकदूतोऽसि	गरुड० १६
यत्र यत्र धृतो वायुरुड्जे	त्रिंब्रा० २.११३	यदि गुलिकदूतोऽसि	गरुड० २०
यत्र यत्र भवेत्सार्थिमिमं	रुद्रह० २५	यदि तक्षकदूतोऽसि	गरुड० १५
यत्र यत्र मनो याति	सौ०ल० २.१९	यदि ते नेन्द्रियार्थश्रीः	महो० ५.१७४
यत्र सुप्तो न कंचन	नृ०पूर्व० ४.६	यदिदं दृश्यते सर्वं	महो० ४.४४
यत्संकल्प्यहरार्थं	महो० ६.७५	यदिदं लभ्यते शास्त्रं	यो०कुं० २.२७
यत्संयोगो द्विजश्रेष्ठ	त्रिंब्रा० २.२५	यदि नागकदूतोऽसि	गरुड० २२
यत्समत्वं तयोरत्र	सौ०ल० २.१६	यदि पद्मकदूतोऽसि	गरुड० १७
यत्समाधौ परंज्योतिः	यो०चू० ११३	यदि पौण्ड्रकालिकदूतोऽसि	गरुड० २१
यथा कटकशब्दार्थः	महो० ४.४६	यदि महापद्मकदूतोऽसि	गरुड० १८
यथाक्षणं यथाशास्त्रं	महो० ४.३९	यदि लूतानां प्रलूतानां	गरुड० २३
यथा तृतीयकाले तु	यो०चू० १२१	यदि वासुकिदूतोऽसि	गरुड० १४
यथा नामी वाचकेन	रामपूर्व० ४.३	यदि शङ्खकदूतोऽसि	गरुड० १९
यथा रसाशये फेनं	त्रिंब्रा० २.१४	यदि शैलसमं पापं	ध्या०बि० १
यथा लगति कण्ठातु	यो०कुं० १.२७, ३३	यदेशानदले विश्रमते	ध्या०बि० १३-९
यथावच्छास्त्रवाक्यार्थं	अक्षि० २.१६	यदोत्तरदले विश्रमते	ध्या०बि० १३-८
यथावज्ञास्यसि	महो० ५.१०९	यद्वावदन्तीति मन्त्रस्य	सर०रह० २४
यथावदखिलं प्रोक्तं	महो० २.३१	यद्वा मण्डलाद्वा स्तन...	त्रिपुरा० ११
यथा सिंहो गजो व्याघ्रो	यो०चू० ११८	यद्विज्ञानात्पुमान्स्यद्यो	महो० २.३७
यथा सुषुप्तिर्बालानां	यो०कुं० २.४७	यन्मनस्त्रिजगत्	ध्या०बि० २५
यथा सौक्ष्म्याच्चिदाभास्य	महो० ५.९९	यमैश्च नियमैश्चैव	त्रिंब्रा० २.५३
यथेष्ठधारणं	यो०चू० ९९	यशस्विनी वामकर्णे	यो०चू० २०
यथैवोत्पलनालेन	ध्या०बि० ३८	यस्त्वेतद्वाधीते	काल०रु० १०
यथैषा जन्मदुःखेषु	महो० ५.११७	यस्य चेच्छा तथाऽनिच्छा	महो० ५.१७३
यथोदरं भवेत्पूर्णं	यो०कुं० १.३६	यस्य स्त्री तस्य भोगेच्छा	महो० ३.४८
यदग्रे वेदशास्त्राणि	तुलसी० ८	यस्याः परतरं नास्ति	देवी० २८

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
यस्याः संचालनेनैव	यो०कुं०१.१०	येषामप्सु सदस्कृतं	नी०रुद्र० २.११
यस्याः स्वरूपं ब्रह्मादयो	देवी० २६	यैरेव जायते रागो	महो० ५.१६९
यस्योपसेचनं मृत्युसंतं	पा०ब्र० २.४०	यैषा स्वभावाभिमतं	महो० ४.१२१
या: ख॒न्नीर्या अफला	प्रा०हो० ४	योगकालेन मरुता	त्रि०ब्रा० २.६५
यां यामहं मुनिश्रेष्ठं	महो० ३.२२	योगचूडामणिं वक्ष्ये	यो०चू० १
यां विदित्वाखिलं बन्धं	सर०रह० ३१	योगज्ञानपरो नित्यं	त्रि०ब्रा० २.२०
या ओषधयः सोमराजीर्बहीः	प्रा०हो० ३	योगप्रकाशकं योगैः	त्रि०ब्रा० २.२१
या त इषुः शिवतमा	नी०रुद्र० १.७	योगराजं प्रवक्ष्यामि	यो०रा० १
यातेन्दुचक्रं यत्रास्ते	यो०कुं० १.७१	योगश्तुर्विधः प्रोक्तो	यो०रा० २
या ते रुद्रं शिवा	नी०रुद्र० १.८	योगसिद्धो भवेद्योगी	त्रि०ब्रा० २.१०३
यानि दुःखानि या तृष्णा	महो० ४.२९	योगाङ्गद्रव्यसंपूर्णं	त्रि०ब्रा० २.९०
या प्रत्यगदृष्टिभिर्जीवैः	सर०रह० २२	योगाभ्यासेन मे रोगः	यो०कुं० १.५८
यामिषु गिरिशन्त	नी०रुद्र० १.५	योगिनामात्मनिष्ठानां	पा०ब्र० २.४५
या योदेति मनोनाम्नी	महो० ४.१०७	योगेन योगं संरोध्य	सौ०ल० २.१२
यावती दृश्यकलना	महो० २.५३	यो घोरं वेषमास्थाय	शरभ० ६
यावद्वद्वा नभोमुद्रा	ध्या०बि०८५	यो दक्षयज्ञे सुरसङ्घान्	शरभ० १३
यावद्वद्वो मरुत् देहे	यो०चू० ९१	योनिस्थानं तयोर्मध्ये	ध्या०बि० ४४
यावद्विद्वुः स्थितो देहे	यो०चू० ५८	योनिस्थानं द्वयोर्मध्ये	यो०चू० ७
यावद्वायुः स्थितो देहे	यो०चू० ९०	यो नृसिंहः समाख्याते	रामपूर्व० ४.५६
यावन्ति देवरूपाणि	कृष्ण० २२	यो ब्रह्माणं विदधाति	गो०पूर्व० २२
यावत्र लभ्यते शास्त्रं	यो०कुं० २.१९	यो मत्स्यकूर्मादिवराह	शरभ० १५
या वर्णपदवाक्यार्थं	सर०रह० १३	यो लीलायैव त्रिपुरं	शरभ० १४
या वेदान्तार्थतत्त्वैक	सर०रह० ७	यो वा एतं नारसिंहं	नृ०षट० ८
याश्च ते हस्तं इष्वः	नी०रुद्र० २.५	यो वा एतां सावित्रीमेव	सावि० १३
या श्रद्धा धारणा मेधा	सर०रह० ४०	यो वामपादार्चितविष्णु	शरभ० १३
या साङ्गोपाङ्गवेदेषु	सर०रह० १०	यो वामपादेन जघान	शरभ० ११
यास्तिक्षो रेखाः	त्रिपुरा० ५	यो विस्फुलिङ्गेन ललाटजेन	शरभ० १०
यास्य तृतीय रेखा	काल०रु० ८	योऽहमस्मीति वा	बहव० ८
यास्य द्वितीय रेखा	काल०रु० ७	रक्तं लम्बोदरं शूर्पकर्णकं	गण० १२
यास्य प्रथमा रेखा	काल०रु० ६	रक्तं मांसमयस्यास्य	महो० ३.३१
युक्तं युक्तं त्यजेद्वायुं	यो०चू० ११९	रज्जुबद्धा विमुच्यन्ते	महो० ६.३९
युञ्जते वेष्टनं वायोः	महो० ३.११	रज्जुबद्धो यथा श्येनो	यो०चू० २९
युवो भवति वृद्धोऽपि	ध्या०बि० ७४	रमते धीर्यथाप्रासे	महो० ४.३८
ये अन्तरिक्षे ये दिवि	नी०रुद्र० २.१०	रमन्ते योगिनोऽनन्ते	रामपूर्व० १.६
ये द्विवन्ति विरूपाक्षं	रुद्रह० ६	रविणैकत्वमायाति	ध्या०बि० ९०
येन द्वारेण गन्तव्यं	यो०चू० ३७	रसनां तालुनि न्यस्य	त्रि०ब्रा० २.९३
येन धर्मधर्मं च	महो० २.५२	रसानां शोषणं सम्यद्	ध्या०बि०९२
ये नमस्यन्ति गोविन्दं	रुद्रह० ५	रागद्वेषौ सुखं दुःखं	महो० २.४९
ये निदाघ महाभागाः	महो० ५.३६	रामनाम भुवि ख्यातम्	रामपूर्व० १.३
ये शुद्धवासना भूयो	महो० २.४०	रामभद्रं महेष्वास	रामपूर्व० ४.१५
येषां निमेषणोन्मेषौ	महो० ६.२५	रुद्रग्रन्थिं च भित्त्वैव	यो०कुं० १.८६

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
रुद्रः सूर्य उमा छाया	रुद्रह०१९	वामदक्षिणमार्गेण	ध्या०बि० ५९
रुद्राक्षं द्वादशमुखं	रुद्र०जा० ४०	वामपार्श्वे उमादेवी विष्णुः	रुद्रह० ४
रुद्राक्षमूलं तद्व्याप्ता	रुद्र०जा० ४५	वामबाहु दक्षिणकट्योरन्तः	पा०ब्र० १.२५
रुद्रात्प्रवर्तते बीजं	रुद्रह०७	वामाद्विश्चमूलकन्दाधो	यो०कु० १.६
रुद्रादीनां वचः श्रुत्वा	कृष्ण० २	वामेन वामाङ्गुष्ठं तु	त्रिंब्रा० २.४९
रुद्रेण संयुक्ता	रामपूर्व० ४.५८	वायुना शक्तिचालेन	यो०कु० ६३
रुद्रो दिवा उमा रात्रिस्तस्मै	रुद्रह०२०	वायुमूर्धवंगतं कुर्वन्	यो०कु० १.८४
रुद्रो नर उमा नारी	रुद्रह० १७	वायुर्यथैको भुवनं	गो०पूर्व० १६
रुद्रो ब्रह्मा उमा वाणी	रुद्रह० १८	वाराणस्यां मृतो वापि	प्रा०हो० २३
रुद्रो वहिरुमा स्वाहा	रुद्रह० २१	वालाग्रशतसाहस्रं	ध्या०बि० ४
रुद्रोऽर्थं अक्षरः सोमा	रुद्रह० २३	वासनां वासितारं च	महो० ६.७
रुद्रो वृक्षं उमा वली	रुद्रह० २२	वासनातन्तु बद्धोऽयं	महो० ५.८६
रूपं परिमितेनासौ	महो० ५.१२२	वास्तुवेदो धनुवेदो	सीता० ३०
रूपस्थानां देवतानां	रामपूर्व० १.८	विंशत्यलं तृतीयेऽहि	यो०कु० १.५५
रेचकः पूरकश्चैव	यो०च० १०१	विघ्नेशं दुर्गां क्षेत्रपालं	रामपूर्व० ५.३
रेचकं पूरकं मुक्त्वा	त्रिंब्रा० २.१०८	विचारणा शुभेच्छाभ्याम्	महो० ५.२९
रेचकेन तु विद्यात्मा	ध्या०बि० ३२	विचित्रघोष संयुक्ता	सौ०ल० २.५
रेखोपरेखा वलिता	महो० ५.५७	विचेरतुस्तदा भूमौ	रामपूर्व० ४.१९
लकारं पृथिवीरूपं व्यानं	ध्या०बि०१९६	विजयश्च सुराष्ट्रश्च	रामपूर्व० ४.३७
लक्ष्यं सर्वगतं चैव	रुद्रह० ३९	विज्ञानमानन्द ब्रह्म	महो० २.९
लक्ष्यालक्ष्यमतिं	महो० ४.८५	विज्ञानात्मा तथा देहे	यो०कु० ३.२७
लालनात्स्नाधललना	महो० ५.८०	विदेहमुक्तो नोदेति	महो० २.६४
लीलया कल्पयामास	महो० ५.१६२	विद्या संप्राप्ते ब्रह्मन्	महो० ५.११०
लीलयैव यदादते	महो० ५.१४५	विनष्टिद्विभ्रमस्यापि	महो० ४.२७
लेशतः प्राससत्काः	महो० ५.१७९	विना चायासयोगेन	यो०कु० ३.१५
वक्त्रेणापूर्यं वायुं	सौ०ल० २.३	विना तर्कप्रमाणाभ्यां	पा०ब्र० २.१६
वक्षोन्यस्तहनुः	ध्या०बि० ९३	विनाशं कालतो याति	शरभ० २६
वक्षोन्यस्तहनुः प्रपीड्य	यो०च० ६६	विना श्री तुलसीं विप्रा	तुलसी० १२
वचसा तज्जपेत्रियं	यो०च० ८७	विभीषणं लक्षणं	रामपूर्व० ४.३६
वदन्ति बहुभेदेन	महो० ५.२२	वियदाकारसंयुक्तं	देवी० २०
वर्णन्ते स्वस्तिकं	त्रिंब्रा० २.३५	विरचित्वरूपान्मनसः	महो० ५.१६४
वर्मास्त्रनतिसंयुक्तं	रामपूर्व० ४.४९	विरागमुपयात्यन्त	अक्षि० २.४
वलीपलितनाशश्च	यो०कु० २.२४	विराड्विष्यं गर्भश्च	यो०कु० ३.२२
वलवीवदनाभ्योज	गो०पूर्व० ४०	विराइविश्वः स्थूलश्वाकारः	यो०च० ७५
वसिष्ठवैयासकिवामदेव	शरभ० २२	विरूपाक्षेण बध्नाणा	नी०रुद० ३.३
वसिष्ठाद्यैर्मुनिभिर्नील	रामपूर्व० ५.७	विलिखेन्मन्त्राजार्णान्	रामपूर्व० ४.५१
वस्वष्टकप्रियं चैव	रुद्र०जा० ३६	विवेकं परमाश्रित्य	महो० ५.८४
वागीशाय ततः	द०म० १७	विशन्ति विद्या विमला	महो० ६.१६
वाङ्माया ब्रह्मभूस्तस्मात्	देवी० २२	विशश्रामं शुक्लसूर्यों	महो० २.७४
वाच्यावाचकताभेदा	अक्षि० २.४३	विश्रान्तोऽस्मि चिरं	महो० ५.५९
वाजपेयः पशुहर्ता	पा०ब्र० १.२९	विश्वमयो ब्राह्मणः शिवं	रुद्र०१

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
विश्वमेवेदं पुरुषं तं	च०वेद० ३	शनैः समस्तमाकृष्य	ध्या०बि०१००
विश्वमेवेदं पुरुषस्तद्	महो० १.११	शनैः सुमथनं कुर्यादभूमध्ये	यो०कु० २.४६
विश्वरूपस्य देवस्य	त्रिंब्रा० २.१५९	शनैरेवं प्रकर्तव्यमध्यासं	यो०कु० २.३९
विश्वव्यापी राघवो	रामपूर्व० ५.९	शब्दस्पर्शस्वरूपाभ्यां	महो० ५.१४९
विश्वसृज एतेन वै	नृ०पूर्व० १.१४	शब्दैरुच्चावचैर्नाचैः	यो०कु० ३.२१
विश्वोऽसि वैश्वानरो	प्रा०हो० १५	शमं विषं विषेणैति	महो० ५.१११
विषमाशन दोषाच्च	यो०कु० १.५७	शमो मित्रः सुदामा च	कृष्ण० १६
विषयाशीविषासङ्गः	महो० ३.१०	शरा जीवास्तदङ्गेषु भाति	शरभ० ३०
विष्णुं प्रथमान्त्यं मुखं	नृ०पूर्व० १.१५	शरीरमस्थि मांसं च	महो० ४.२३
विष्णु ऋषिरनुष्टप्त्यन्दः	द०म० १६	शरीरे सकलं विश्वं	यो०कु० २.४९
विष्णुग्रन्थं प्रयात्युच्चैः	यो०कु० १.६८	शशिमध्यगतो वह्निः	ध्या०बि० २७
विष्णुमुरुक्रमं	देवी० ६	शशिस्थाने वसेत्	ध्या०बि० ८८
विष्णुर्विश्वजगद्योनिः	शरभ० २५	शान्तसंदेह दौरात्म्यं	महो० ५.६८
वीणां करैः पुस्तकमक्षमालां	द०म० १५	शान्तसंसार कलनः	महो० २.६१
वीरं प्रथमस्याद्यार्थान्त्यं	नृ०पूर्व० १.११	शास्त्रं विनापि संबोद्धुं	यो०कु० २.१०
वृक्षं तु सकलं विद्यात्	ध्या०बि० ८	शास्त्रसज्जन संपर्कं	महो० ५.२८
वृत्तं विहङ्गमानां	त्रिंब्रा० २.५७	शास्त्रानुवर्तनं त्यक्त्वा	अक्षिं २.४२
वृन्दा भक्तिः क्रियाबुद्धिः	कृष्ण० २५	शास्त्रैः सज्जनसम्पर्कपूर्वकैश्च	महो० ४.४
वेणुवादनशीलाय	गो०पूर्व० ३९	शिखा ज्ञानमयी वृत्तिः	त्रिंब्रा० २.२३
वेदान्तश्रवणं चैव	त्रिंब्रा० २.३४	शिरसीशानमंत्रेण कण्ठे	रुद्र०जा० २३
वेदिकाकारवद्दूस्रो	त्रिंब्रा० २.१४०	शिलाशय्याऽसनासीनो	अक्षिं २.१७
वैखानसऋषेः पूर्वं	सीता० ३२	शिव एव सदा ध्येयः	शरभ० ३४
वैखानसमतस्तस्मिन्नादौ	सीता० २६	शिवशक्त्यात्मकं	पा०ब्र० २.४
वैश्रवणो ब्रह्मपुत्रो	पा०ब्र० १.२	शिवेन वचसा त्वा	नी०रुद्र० १.६
व्यक्ताव्यक्तिगिरः सर्वे	सर०रह० २८	शीर्षोदितानलहरं	यो०कु० १.२८
व्यापागतकलनाकलङ्कं शुद्धः	महो० २.७७	शुको नाम महातेजाः	महो० २.१
व्यानः श्रोत्रोरुक्ट्यां	त्रिंब्रा० २.८२	शुक्लं चन्द्रेण संयुक्तरजः	यो०चू० ६४
व्यासोऽपि भगवान्बुद्ध्वा	महो० २.१८	शुचिर्वाऽप्यशुचिर्वाऽपि	यो०कु० ८८
व्योमरन्ध्रगतो नादो	ध्या०बि० १०३	शुद्धं सदसतोमध्यं	महो० ५.१७२
व्योम्प्रि मारुतमारोप्य	त्रिंब्रा० २.१४२	शुद्धसत्त्वप्रधानायां	सर०रह० ४९
व्रजत्यूर्ध्वं हठाच्छक्त्या	ध्या०बि० ८६	शुद्धसन्मात्रसंवित्तेः	महो० ५.३
व्रणयुक्तमयुक्तं च	रुद्र०जा० १४	शुद्धस्फटिकसंकाशं	ध्या०बि० २९
शक्तिः कुण्डलिनी नाम	यो०कु० १.८२	शुद्धिमेति यदा सर्वं	यो०चू० ९४
शक्तिद्वयं हि मायाया	सर०रह० ५२	शुद्धौ यतेत नाडीनां	त्रिंब्रा० २.८९
शक्तिसेना कल्पना च	रामपूर्व० १.१०	शुष्के मले तु योगी	यो०कु० १.६३
शतं च नव शाखासु	सीता० २५	शुष्पन्त्यपि समुद्राश्च	महो० ३.५०
शतलक्षं प्रजपत्यापि	देवी० ३०	शून्यं तत्प्रकृतिर्माया	महो० ६.६१
शतारं शतपत्राद्यं	ध्या०बि० ३४	शृणु तावदिदानीं	महो० २.३६
शनैः शनैरेव वह्निः	त्रिंब्रा० २.९६	शेषुषी दक्षिणा प्रोक्ता	द०म० ३१
शनैः शनैर्मस्तकाच्च	यो०कु० २.३७	शेषस्थिरसमाधानो	महो० ६.६
शनैः शनैर्यदा प्राणः	यो०कु० १.५०	शैशवे गुरुतो भीतिर्मातृतः	महो० ३.३३

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
शोधनं नाडिजालस्य	यो०चू० ६५	संन्यासियोगिनौ दान्तौ	महो० ६.४८
श्मशानेषु दिग्नेषु स	महो० ३.४२	संपूजयेद्विमलादीश्च	रामपूर्व० ५.६
श्रमनिर्हरणार्थं द्वितीय..	ध्या०बि०९३-१३	संबद्धासनमेद्वमङ्गिश्र	यो०चू० ११४
त्रवणमुखनयननासा	सौ०ल० २.४	संबन्धे द्रष्टदृश्यानां	महो० ५.४८
त्रीं पावका नः सरस्वती	सर०रह० १४	संयमेच्चेन्द्रियग्रामम्	त्रिंबा० २.१४७
त्रीकृष्ण रुक्मिणीकान्त	गो०पूर्व० ४४	संविद्बूयाच्च तन्मध्ये	यो०रा० १८
त्री गुरुः सर्वकारणभूता	भाव० १	संवेद्येन हृदाकाशे	महो० २.४८
त्री देवी त्रिविधं रूपं	सीता० १६	संशान्त सर्वसंकल्पः	महो० ६.८२
त्रीमहाविष्णुं सच्चिदानन्द	कृष्ण० १	संशान्त सर्व संकल्पा	महो० ५.६
त्रीरामचन्द्र उवाच	लांगूल० १०	संसार एव दुःखानां	महो० ६.२६
त्रीराम सात्रिध्यवशात्	सीता० ७	संसार रात्रि दुःखप्रे	महो० ६.२२
त्री रुद्र रुद्र रुद्रेति	रुद्रह० १६	संसारावासनाजाले	महो० ५.६५
त्री लक्ष्मीर्वरदा विष्णुपत्नी	सौ०ल० १.११	संसाराडम्बरमिदं	महो० २.१५,३०
त्री सखित्वं सदानन्दे	तुलसी० ३	संसाराम्बुनिधावस्मिन्	महो० ५.१७६
त्रुतिस्मृति सदाचार	अक्षि० २.११	स एकाकी न रमते	महो० १.३
त्रुत्वा स्पृष्ट्वा च भुक्त्वा	महो० ४.३२	स एको रुद्रो ध्येयः	शरभ० ९
त्रेष्ठा सर्वगता होषा	अक्षि० २.२९	स एव द्विविधः प्रोक्तः	यो०कु० १.२०
त्रोत्रमात्मनि चाध्यस्तं	पा०ब्र० २.१९	स एव भगवान्ब्रह्मा	महो० ५.१५८
थेतास्तु ब्राह्मणा ज्ञेयाः	रुद्र०जा० ११	स एव विदितादन्यः	पा०ब्र० २.१३
षट् चक्राणि परिज्ञात्वा	यो०कु० ३.१.१२	सकारः सत्यममृतं	सीता० ४
षट् त्रिंशतं गले दध्यद्वाहोः	रुद्र०जा० १८	स च किं गोत्रा कत्यक्षरा	गा०रह० ३
षट् शतानि दिवावात्रौ	यो०चू० ३२	सततं प्राणवाहिन्यः	यो०चू० २२
षट् वक्त्रमपि रुद्राक्षं	रुद्र०जा० ३२	स तपोऽतप्यत स	नृ०पूर्व० १.२
षट् विंशद्गुलिहंसः	यो०चू० ९३	सति दीप इवालोकः	महो० ५.१०७
षण्णवतितत्त्वतन्तु	पा०ब्र० १.१४	स तु रामे शङ्कितः	रामपूर्व० ४.२१
षण्मासावधिरेतस्य	त्रिंबा० २.१२४	सतोऽसत्ता स्थिता	महो० ६.२४
षष्ठं तु विरतिप्रार्णितः	यो०कु० ०.६०	सत्कर्म परिपाकातु	यो०कु० ०.२८
षष्ठं सप्तममथ	त्रिपुरा० ९	सत्त्वापत्तिश्चतुर्थी	महो० ५.२५
षष्ठ्यां भूमावसौ	अक्षि० २.४०	सत्त्वावशेष एवास्ते	अक्षि० २.३३
सं उत त्वः पश्यन्त दर्दश	सर०रह० ३२	सत्यवद्वाति तत्सर्वं	रुद्रह० ३४
संकल्पनं मनो विद्धि	महो० ४.५२	सत्यो नित्यः सर्वसाक्षी	शरभ० २३
संकल्पनं हि संकल्पः	महो० ५.१८१	स त्वनुष्णाविश्वेष्ट	रामपूर्व० ४.६
संकल्पनसी भिन्ने न	महो० ४.५३	सदा रसनया योगी	यो०कु० २.४८
संकल्प संक्षयवशाद्विलिते	महो० ५.५३	सदेहा वाप्यदेहे वा	महो० ५.४०
संकल्पाशानुसंधानवर्जनं	महो० ४.६	सन्धिनी तु धामभूषण	राधा० ४
संख्यातुं नैव शक्यन्ते	त्रिंबा० २.७६	स पुनर्द्विविधो बिन्दुः	यो०चू० ६०
संख्यारूपेण संकल्प्य	सीता० ३३	सप्तत्वारिंशदर्पणगुणातः	रामपूर्व० ४.६४
संतोषामृतपानेन	महो० ४.३५	सप्तज्ञार्जितं पापं	त्रिंबा० २.१४९
संतोषामोदमधुरा	अक्षि० २.२७	सप्तभूमिः स विज्ञेयः	महो० ५.४३
संत्यज्य परमोदारं	महो० ६.५३	सप्तमं भ्रूक्रमङ्गुष्ठमात्रम्	सौ०ल० ३.७
संत्यज्य हृदगुहेशानं	महो० ६.२०	सप्तवक्त्रं तु रुद्राक्षं	रुद्र०जा० ३४

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
सप्त सालान्विभिद्याशु	रामपूर्व० ४.२२	सर्वदेवात्मकं रुद्रं	रुद्रह० २४
सप्तावस्था इमाः प्रोक्ता	महो० ५.२०	सर्वदेवात्मको रुद्रः	रुद्रह० ३
स प्रतिष्ठा ह्वादिनी	रामपूर्व० ४.६०	सर्वदेशेष्वनुस्यूतः	त्रिंब्रां० २.११
स बाह्याभ्यन्तरे देहे	महो० ६.१०	सर्वमेकमजं शान्तमनन्तं	अक्षिं० २.२
स भूमिकावानित्युक्तः	अक्षिं० २.१०	सर्वरोगैर्विनिर्मुक्तो	त्रिंब्रां० २.११०
समता सर्वभावेषु	महो० ६.४	सर्वशक्तेर्महेशस्य	महो० ४.८७
समन्तादेवताः सर्वाः	तुलसी० ७	सर्वसंकल्पं रहिता	महो० ५.१००
समस्तं खल्विदं ब्रह्म	महो० ६.१२	सर्वसंसारदुःखानां	महो० ३.२५
समस्त भुवनस्याधोभागे	सीतां० १९	सर्वस्माद्यतिरिक्तोऽहं	महो० ५.९०
समस्तयागानां रुद्रः	पा०ब्र० १.११	सर्वस्याभिमतं वक्ता	महो० ६.६५
समाः स्त्रिघादा दृढाः	रुद्र०जा० १३	सर्वातीतपदालम्बी	महो० ६.६३
समाधिः स तु विज्ञेयः	त्रिंब्रां० २.१६२	सर्वात्मवेदनं शुद्धं	महो० ४.४२
समाधिमेकेन	यो०कुं० ३.१४	सर्वाधिष्ठानमद्भूतं	रुद्रह० २६
समानः सर्वगात्रेषु	त्रिंब्रां० २.८१	सर्वापिदां पदं पापाः	महो० ३.५
समानप्राण एकस्तु	ध्या०बि०९९	सर्वार्थवासनोन्मुक्ता	महो० ६.५१
समानो नाभिदेशे तु	यो०चू० २४	सर्वावियवसंपूर्णे	तुलसी० १०
समाप्य निद्रां सुजीर्णे	सौ०ल० २.२	सर्वेच्छाः सकलाः	महो० २.५८
समुद्धर मनो ब्रह्मन्	महो० ५.१३५	सर्वे वै देवा देवीमुपतस्थुः	देवी० १
समुन्नत शिरः पादं	त्रिंब्रां० २.४८	सर्वेषां तु मनस्तेन	पा०ब्र० २.८
सम्पूर्णहृदयः शून्ये	सौ०ल० २.६	सर्वेषां दोषरत्नानां	महो० ३.४७
स याति परमं श्रेयो	त्रिंब्रां० २.२८	सर्वेषां वा एतद्वतानामाकाशः	नृ०पूर्व० ३.५
स यो ह वै तत्परमं	रुद्रह० ५२	सर्वेषामपि पापानां	तुलसी० ११
सरस्वती दशश्रूत्यक्या	सर०रह० २	सर्वेषामेव मन्त्राणामेष	रामपूर्व० ४.५
सराणां सप्तकं वापि	रुद्र०जा००२०	सलिलमिति सौहित्यकारणं	भाव० ३
स राम इति लोकेषु	रामपूर्व० १.२	सलिले सैन्धवं	सौ०ल००२.१४
स रावण इति ख्यातो	रामपूर्व० ४.१८	सविकल्पो निर्विकल्पः	सर०रह० ६.०
सर्गादिकाले भगवान्	द०मू० ३२	सविकारस्तथा जीवो	त्रिंब्रां० २.१३
सर्वं किंचिदिदं दृश्यं	महो० ४.१०	सव्येतरशृत्यवधि	त्रिंब्रां० २.७३
सर्वं च खल्विदं ब्रह्म	महो० ४.११७	सव्ये दक्षिणगुल्फं	त्रिंब्रां० २.३६
सर्वं चाप्यहमेवेति	महो० ६.६०	सव्ये प्राणावाऽऽपो	प्रा०हो० १४
सर्वं जगदिदं त्वत्तो	गण० ६	स सर्वविद्वति	गण० १९
सर्वं प्रशान्तमजमेकम्	महो० ४.९	स सागरां सपवतां	नृ०पूर्व० १.३
सर्वं ब्रह्मेति यस्यान्तर्भाविना	महो० ५.११३	सहस्रदलसंख्यातं	यो०चू० ६
सर्वं शान्तं निरालम्ब	महो० ५.४५	सहस्रशीर्षं देवं	महो० १.१०
सर्वं समतया बुद्ध्या	महो०६.४४	सहस्रशीर्षं देवं सहस्राक्षं	च०वेद० २
सर्वगः सर्वं सम्बन्धो	महो० २.८	सहस्रावर्तनाद्यं यं	गण० १८
सर्वगं सच्चिदानन्दं	महो० ४.८०	स होवाच प्रजापतिः	नृ०पूर्व० १.६, ४.२, ४.१५,
सर्वगं सौन्येन	रुद्र०जा० १६		५.२
सर्वत्र वर्तते जाग्रत्स्वप्नं	त्रिंब्रां० २.१०	स होवाच प्रजापतिः अग्निर्वै	नृ०पूर्व० १.८
सर्वत्र विगतलेहो	महो० २.५१	स होवाच प्रजापतिः सा	सीतां० २
सर्वत्राहमकर्त्तिं	महो० ६.२	स होवाच प्रजापतिर्माया	नृ०पूर्व० ३.२

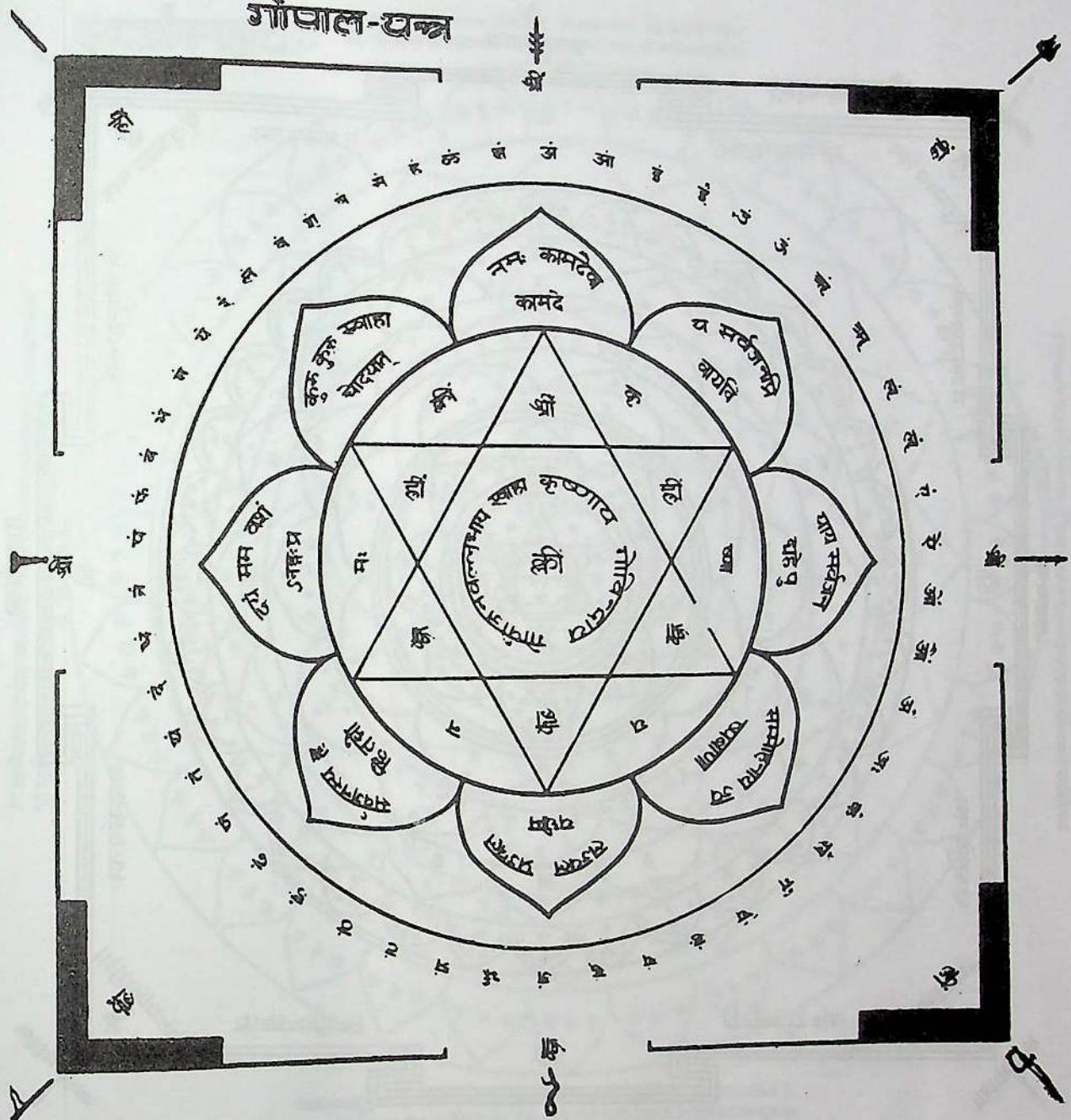
मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
स होवाच प्रजापतिर्यः	नृ०पूर्व ५.१२	सैवावस्था परा ज्ञेया	यो०कुं० १.८७
स होवाच । ये दक्षिणामुखः	द०म० ४	सैषा चिदमलाकारा	महो० ५.१०३
स होवाच वैराग्यतैलसंपूर्णे	द०म० २७	सैषाऽपरा शक्तिः । सैषा	बहव० ३
स होवाच सर्वभिदं	त्रिंश्रा० १.२	सैषाष्टौ वसवः	देवी० १८
स होवाचाश्वलायनः	सर०रह० ४	सोऽध्यायत् । पूर्वाभिमुखो	महो० १.९
साक्षाच्छक्तिर्भगवतः	सीता० ३४	सोऽभयस्यास्य	रामपूर्व० १.१३
साक्षिणः पुरतो भातं	सर०रह० ५४	सोमात्मिका ओषधीनां	सीता० १३
साक्षिभूते समे स्वच्छे	महो० ५.५५	सौः देवीं वाचमजनयत्त	सर०रह० २९
सात्त्विकत्वात्समित्वात्	सर०रह० ५१	सौः महो अर्णः सरस्वती	सर०रह० २०
सा देवी त्रिविधा	सीता० ११	सौभाग्यरैकाक्षर्या	सौ०ल० १.७
साध्यते मन्त्रयोगस्तु	यो०रा० ४	सौभाग्यलक्ष्युपिनिषदं	सौ०ल० ३.१०
साब्रवीदहं ब्रह्मस्वरूपिणी	देवी० २	स्तव्यीभावो रसास्वादात्	सर०रह० ६५
सामवेदस्तथाथर्ववेदः	रुद्रह० २९	स्तुतिं चक्रुश्च जगतः	रामपूर्व० ४.१२
सा माया स्ववशोपाधिः	सर०रह० ५०	स्तुतवे सततं यस्तु	कृष्ण० ७
सार्धत्रिकोटितीर्थेषु	महो० ३.२	स्तुवन्त्येवं हि	रामपूर्व० ४.१७
सार्धत्रिकोटिस्तान	महो० ३.३	स्थानात्स्थानं	त्रिंश्रा० २.१३०
सावित्रीं प्रणवं यजुर्लक्ष्मीं	नृ०पूर्व० १.७	स्थितः किं मूढ एवास्मि	महो० ५.२७
सा सर्ववेदमयी	सीता० १०	स्थित्वासौ बैन्दवस्थाने	यो०कुं० ३.८
सिद्धं भद्रं तथा सिंहं	ध्या०बि०४३	स्थूलसूक्ष्म क्रमात्सर्वं	अक्षिं० २.४५
सिन्दूरव्रातसंकाशं	यो०चू० ६१	स्तुहिपत्रनिभं शस्त्रं	यो०कुं० २.२९
सीतां दृष्ट्वाऽसुरान्हत्वा	रामपूर्व० ४.२६	स्त्रेहप्रणयगर्भाणि	अक्षिं० २.७
सीता इति त्रिवर्णात्मा	सीता० ३	स्फुरत्रप्तवलसंज्वाला	यो०चू० ९७
सीता भगवती ज्ञेया	सीता० ८	स्फुरन्ति हि न भोगाशा	महो० ३.५६
सीतारामौ तन्मयावत्र	रामपूर्व० ३.१	स्मरत्व्या पञ्चघटिकाः	त्रिंश्रा० २.१३६
सीवर्णो गुल्फदेशाभ्यां	त्रिंश्रा० २.४४	स्मरत्व्या नाडिकाः प्राणं	त्रिंश्रा० २.१३९
सीवनीपार्श्वमुभयं	त्रिंश्रा० २.४६	स्वं स्वं विषयमुद्दिश्य	पा०ब्र० २.१०
सुपर्णोऽसि गरुत्मान्	गरुड० ११	स्वचित्तविलसंस्थेन	महो० ३.३४
सुप्रस्त्य घनसंमोहमये	महो० ५.६४	स्वदनं केवलं	महो० ६.३८
सुषुप्तवद्यश्वरति	महो० ६.४९	स्वदेहे यो न जानाति	यो०चू० ४
सुषुप्ता मध्यदेशे तु	ध्या०बि०५६, यो०चू० १९	स्वपौर्णैकसाध्येन	महो० ४.९०
सुस्त्रिधमधुराहारः	यो०कुं० ४३	स्वप्रजाग्रदिति प्रोक्तं	महो० ५.१८
सुहृष्टः सुदृढः	महो० ५.८२	स्वप्रस्थानोऽन्तः प्रजः	नृ०पूर्व० ४.५
सूचिवद्गुणमादाय	ध्या०बि०६७	स्वप्रेऽपि न लभेत्स्य	यो०कुं० २.२२
सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुष्वश्च	सूर्य० ३	स्वप्रकाशैक संसिद्धे	पा०ब्र० २.१८
सूर्यकोटिद्युतिधरं	त्रिंश्रा० २.१५३	स्वभक्तायैव दातव्यम्	शरभ० ३८
सूर्यादिसकलभुवनः	सीता० १४	स्वयं कल्पित तन्मात्रा	महो० ५.१२९
सूर्येण रेचयेद्वायुं	यो०कुं० १.१६	स्वयंभूरुवाच	पा०ब्र० १.३
सूर्योजायी शीतली	यो०कुं० १.२१	स्वयमुच्चितिर्ते देहे	सौ०ल० २.१८
सृण्येव सितया विश्व	त्रिपुरा० १३	स्वयमेव त्वया ज्ञातं	महो० २.७०
सैव पुरत्रयं	बहव० ४	स्वयमेव मया पूर्वम्	महो० २.३२
सैवात्मा ततोऽन्यदसत्य	बहव० ५	स्वयमेवात्मनात्मानम्	महो० ६.७९

मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण	मन्त्र प्रतीक	उपनिषद् विवरण
स्वयैव सूक्ष्मया बुद्ध्या	महो० २.१२	हत्वा विभीषणं तत्र	रामपूर्व० ४.२९
स्वरूपव्याप्तप्स्य	त्रिंश्चार० २.१४८	हरि॒ हरन्तं पादाभ्याम्	शरथ० ७
स्वर्भूज्योतिर्मयो	रामपूर्व० २.१	हर्षमिष्टभय क्रोध ...	महो० २.४४
स्वशरीरे यज्ञं	प्रांहो० १८	हस्तं हस्तेन संपीड्य	महो० ५.७५
स्वशरीरे स्वयं ज्योतिः	पा०ब्र० २.३३, रुद्रह० ४९	हस्तौ यथोक्तविधिना	त्रिंश्चार० २.१४
स्वस्वरूपं स्वयं	पा०ब्र० २.४३	हिका कासस्तथा	यो०चू० ११७
स्वस्वोपाधिलयादेव	यो०कुं० ३.२३	हित्वा सैन्धवपथ्याभ्यां	यो०कुं० २.३०
स्वात्मन्येव स्वयं	पा०ब्र० २.३१	हुंकारं चात्र रामस्य	रामपूर्व० ४.५७
स्वात्मानं पुरुषं	ध्या०बि० १०५	हत्पद्मकर्णिकामध्ये	ध्या०बि० १९
स्वाधिष्ठानं ततश्क्रं	ध्या०बि० ४८	हत्पुण्डरीकमध्यस्थां	देवी० २४
स्वाधिष्ठानश्रयाद्	यो०चू० १२	हृदयं कुण्डली भस्मरुद्राक्ष	रुद्रह० १
स्वानुभूतिरसावेशादृश्य	सर०रह० ६३	हृदयचक्रमष्टदलं	सौ०ल० ३.४
स्वानुभूतेश्व शास्त्रस्य	महो० ४.५	हृदयात्संपरित्यज्य	महो० ६.८
स्वायत्तमेकान्तहितं	महो० ४.८९	हृदयाम्भोरुं हं चापि	त्रिंश्चार० २.१००
स्वालोकतः शास्त्रदृशा	महो० ५.८१	हृदीव बाहादेशोऽपि	सर०रह० ६४
स्वेन विधिनानं भूमौ	प्रांहो० २	हृद्यादित्यमरीचीनां	पा०ब्र० १.२४
हंसस्य प्रार्थनास्त्रिकालाः	पा०ब्र० १.२०	हेतुद्वयं हि चित्तस्य	यो०कुं० १.१
हंसहंसेत्यमुं मन्त्रं	ध्या०बि० ६२	[हेतुना] कर्यसिद्धेन	सीता० २२
हंसात्ममालिका ...	पा०ब्र० २.१	हेमाभ्या द्विभुज्या	रामपूर्व० ४.९
हकारः परमेशः स्यात्तत्पदं	यो०चू० ८३	हं सं भ्रं ब्रं लं	रामपूर्व० ४.५०
हकारं वियत्स्वरूपं	ध्या०बि० ९७	हस्त्वो दहति पापानि	ध्या०बि० १७
हकारेण बहिर्याति	यो०चू० ३१	हीं आ नो दिवो	सर०रह० ११

॥ इति मन्त्रानुक्रमणिका समाप्ता ॥

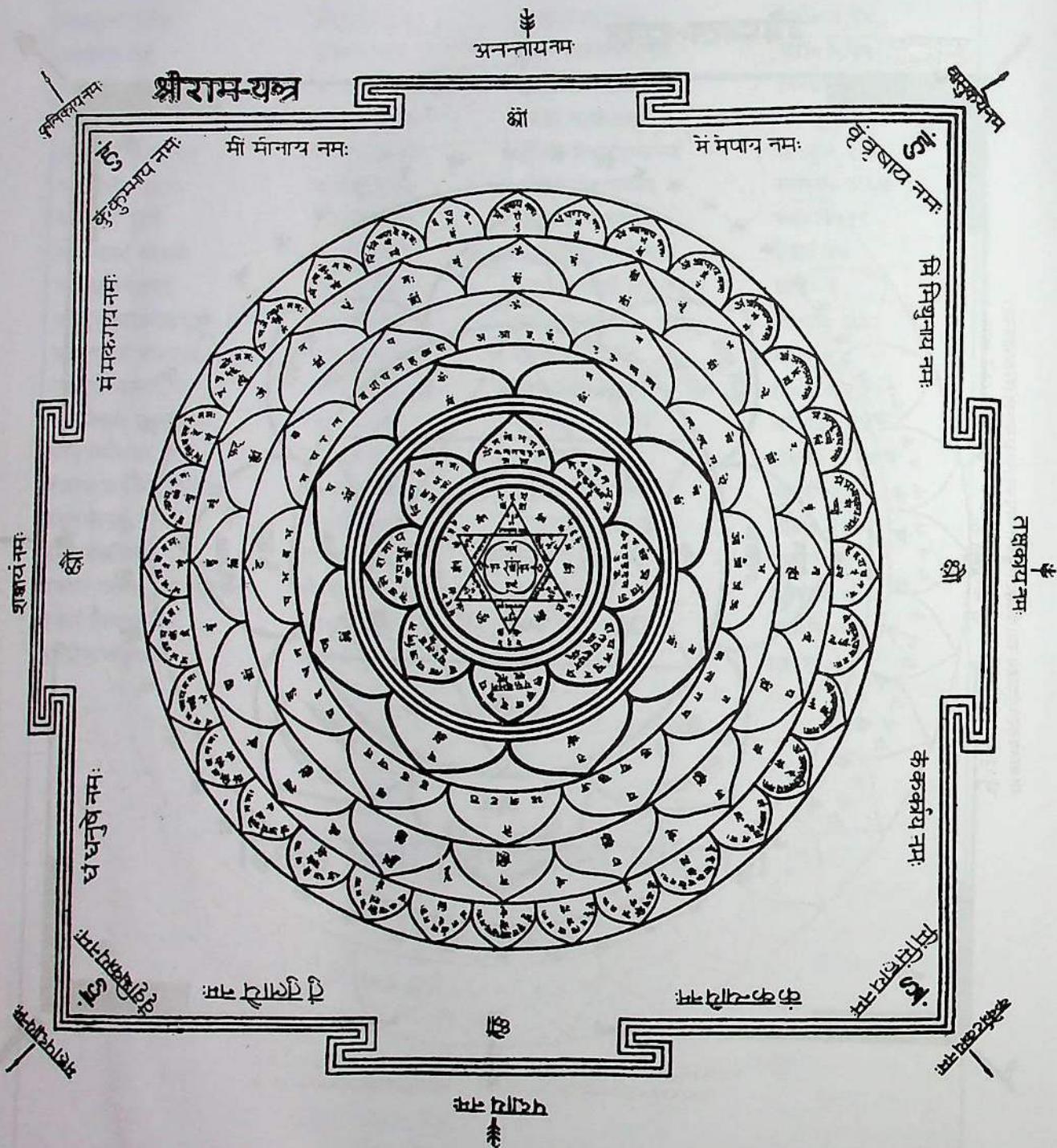
* * * * *

गोपाल-यन्त्र



विशेष विवरण 'गोपालपूर्वतापिन्युपनिषद्' पृ० ५२ पर देखें।

(कल्याण से साभार)



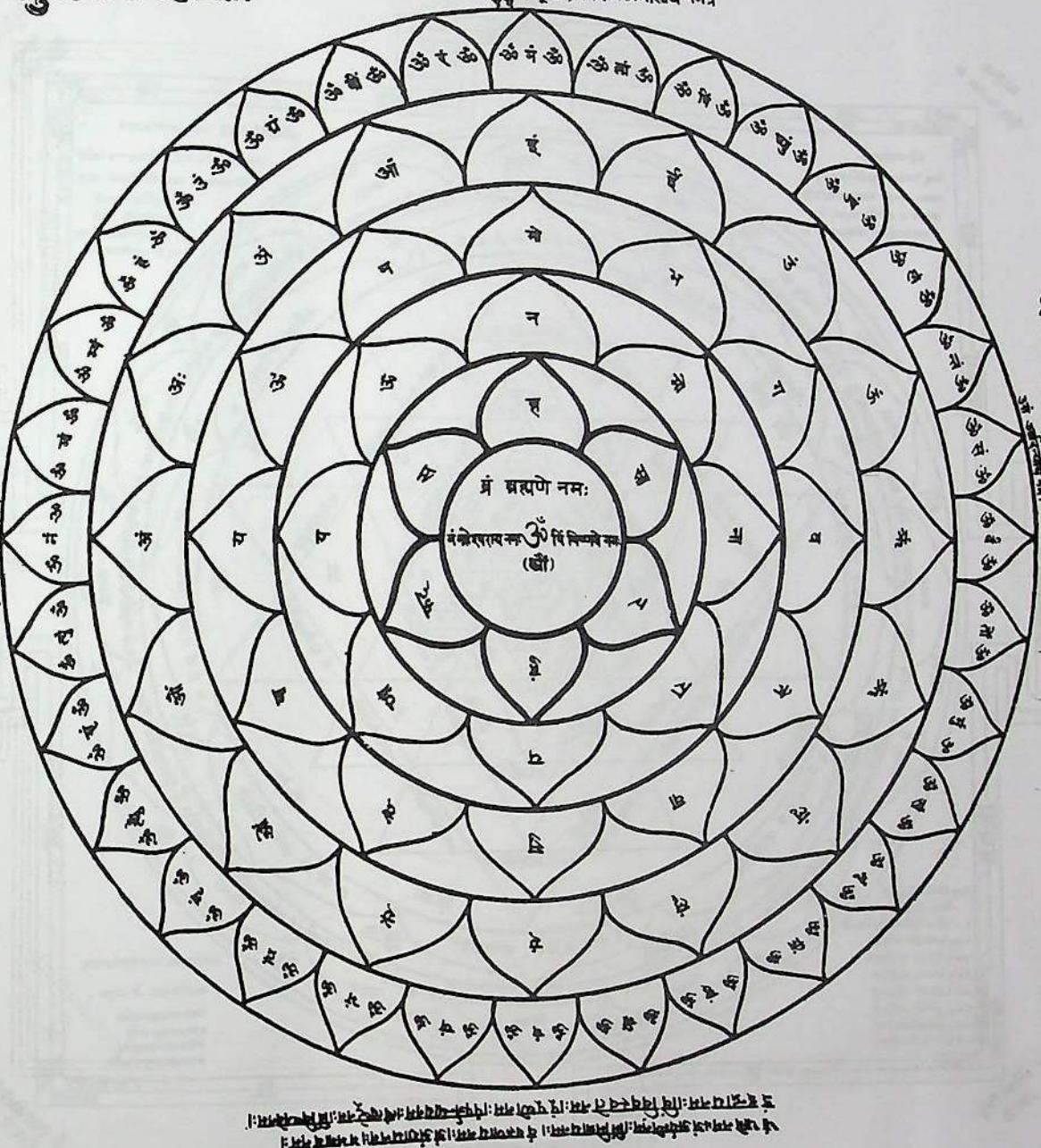
विशेष विवरण 'रामपूर्वतापिन्युपनिषद्' पृ० २३२-२३४ पर देखें।

(कल्याण से साभार)

सुटशंक्षहात्क्र

ते भ्राय नमः। अं धरय नमः। सो माय नमः। औं आपाय नमः।
अं अनिलाय नमः। अं अमलाय नमः। अं प्रत्युधाय नमः। अं प्रभासाय नमः।

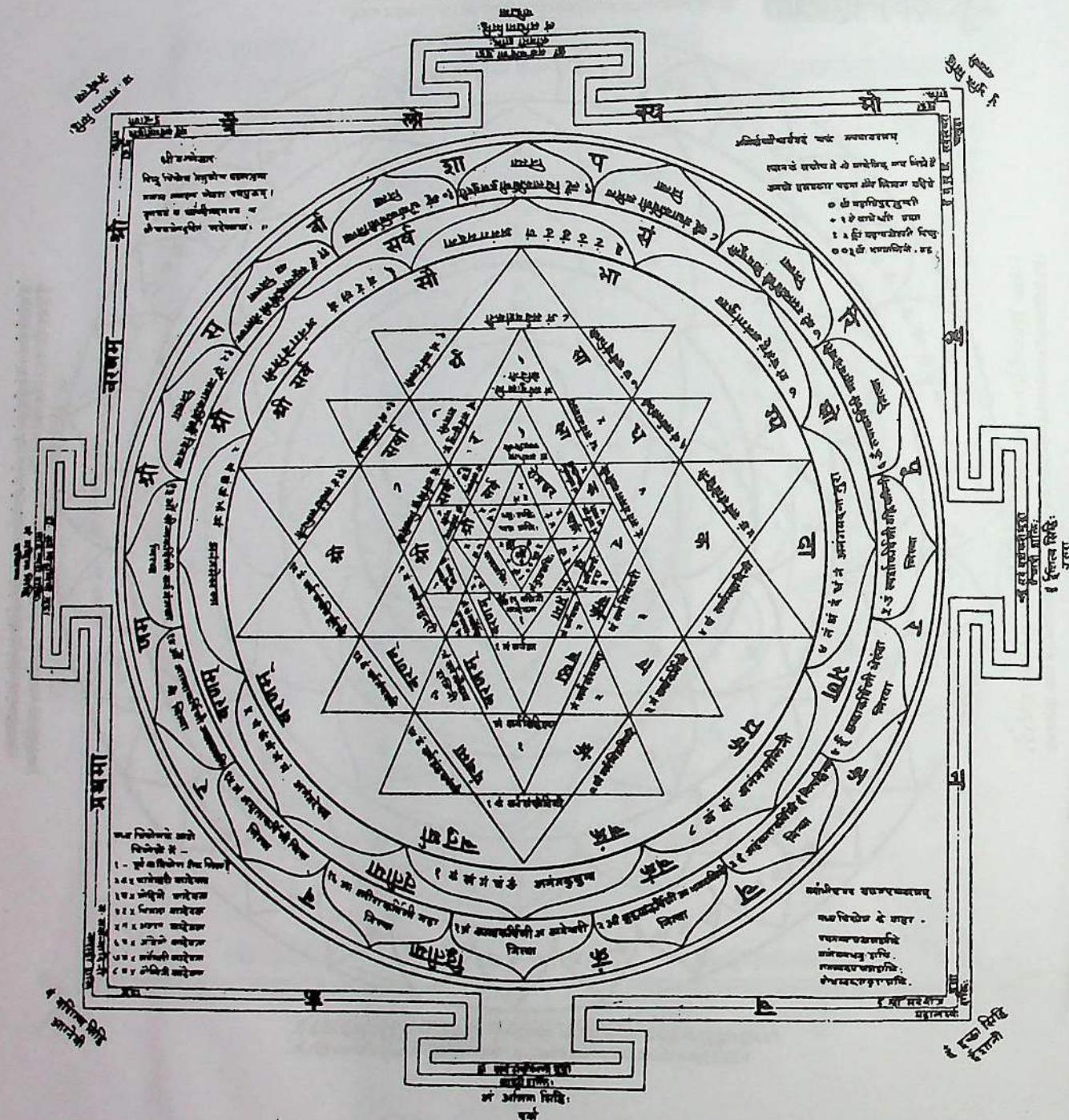
क्रक्षत्वेक्षका। देवत्वेक्षका। वंक्षेपेक्षका। रंक्षेपेक्षका। शो माय नमः। कंक्षेपेक्षका। कंक्षेपेक्षका। अं अपाय नमः।
धु ध्रते नमः। रो रोचत्वेक्षका। शो माय नमः। रो रोचत्वेक्षका। रो रोचत्वेक्षका। रो रोचत्वेक्षका।



विशेष विवरण 'नृसिंहपूर्व तापिन्युपनिषद्' पृ० १२२-१२३ पर देखें।

(कल्याण से साभार)

॥ श्रीयन्त्रम् ॥



विशेष विवरण 'भावनोपनिषद्' (पृ० १४६) तथा त्रिपुरोपनिषद् (पृ० ६४) में देखें।

(कल्याण से साभार)

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मधुरा (उ.प्र.)